MAHIN-506

हिंदी गद्य साहित्य II

MA HINDI

4th Semester

Rajiv Gandhi University

ww.ide.rgu.ac.in

हिंदी गद्य साहित्य -II

एम.ए. (हिंदी)

(चतुर्थ सत्र)

MAHIN-506

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. Of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. Of Hindi Delhi University	**External Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. Of Hindi Guwahati University	**External Member**
Prof. Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Dr. Mohammad Erfan, Dr. Laxmi Pandey, Dr. Suresh Acharya, Yatindra Naath Gaur, Dr. Abha Gupta Thakur

Revised Edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Infomation contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, IDE-Rajiv Gandhi University, the publishers and its Authors shall be in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के प्रमुख (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) उच्च संस्थानों में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय ने देश के (तत्कालीन अरुणाचल विश्वविद्यालय) शैक्षिक परिदृश्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग पुल के द्वारा कैंपस .मी . राष्ट्रीय राजमार्ग से जुड़ा हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमएड का कोर्स भी .कार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग बी .डी .एच .फिल व पी . चलाता है।

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में भाग लिया है देश विदेश के प्रमुख विद्वानों व विशिष्ट व्यक्तियों ने-1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र | परीक्षाओं में भी सफल हुए हैं NET

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक - बाधाओं को दूर करने का यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तरपूर्वी भारत - के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते (आईटीई) हुए आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया है। (

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री** -(**एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरत्व शिक्षा परिषद नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वय (डीईसी)ं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की

जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम** शैक्षिक कार्यक -(**सीसीपी)**ृरम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों के लिए .ए. के लिए सीसीपी में .ए.सीसीपी अनिवार्य नहीं है। हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और एम उपस्थिति अनिवार्य होगी।

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

हिंदी गद्य साहित्य-II

Syllabi- MAHIN-506	**Mapping in Book**
इकाई : 1 परिचय; अंधेर नगरी मूल नाटक; अंधेर नगरी का नाट्य शिल्प; 'अंधेर नगरी' में यथार्थ बोध; 'अंधेर नगरी' की भाषा एवं लोक तत्व; अंधेर नगरी प्रासंगिकता; सारांश	**इकाई 1 : अंधेर नगरी (भारतेंदु हरिश्चंद्र)**
इकाई 2 : नाट्य समीक्षा की कसौटी पर आधे-अधूरे; कथानक; पात्र एवं चरित्र चित्रण; युगबोध; अभिनेयता; आधे-अधूरे की नाट्यभाषा; रंगमंच के अनुकूल शब्दों का चयन; भाषा शैली; सारांश	**इकाई 2 : आधे-अधूरे (मोहन राकेश) – II**
इकाई 3 साहित्यकारों का दायित्व – हजारी प्रसाद द्विवेदी ; व्यक्तित्व एवं कृतित्व ; साहित्यकारों का दायित्व – मूल पाठ ; निबंध शैली; साहित्यकारों का दायित्व – प्रतिपाद्य ; साहित्यकारों का दायित्व – समीक्षात्मक अध्ययन ;जीवन अपनी देहरी पर – विद्यानिवास मिश्र ; व्यक्तित्व एवं कृतित्व ; जीवन अपनी दोहरी पर : मूल पाठ ; निबंध शैली ; जीवन अपनी दोहरी पर – प्रतिपाद्य ; जीवन अपनी दोहरी पर – समीक्षात्मक अध्ययन ; सारांश	**इकाई 3 : निबंध – II**
इकाई 4 'मलबे का मालिक' - मोहन राकेश; लेखक परिचय; मलबे का मालिक मूल पाठ; मोहन राकेश की कहानी कला की विशेषताएं; कहानी का सार; कहानी की समीक्षा ; कहानी कला के तत्व और 'मलबे का मालिक'; महत्वपूर्ण व्याख्याएं; 'यही सच है' – मन्नू भंडारी; लेखिका परिचय; यही सच है : मूल पाठ; मन्नू भंडारी की कहानी कला की विशेषताएं ; कहानी का सार; कहानी की समीक्षा; कहानी कला के तत्व और 'यही सच है'; महत्वपूर्ण व्याख्याएं ; 'सलाम' – ओम प्रकाश वाल्मीकि; लेखक परिचय ' सलाम : मूल पाठ, ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी कला की विशेषताएं; कहानी का सार, कहानी की समीक्षा,	**इकाई 4 : कहानी – II**

कहानी कला के तत्व और 'सलाम', महत्वपूर्ण व्याख्याएं, सारांश	
इकाई 5 संस्मरण : विष्णु प्रभाकर : यादों की तीर्थ यात्रा : जैनेन्द्र कुमार; आत्मकथा : गुड़िया भीतर गुड़िया : मैत्रेयी पुष्पा; जीवनी : महापंडित राहुल : गुणाकर मुले; सारांश	**इकाई 5 : यात्रावृत्त, रिपोर्ताज,रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा और जीवनी – II**

विषय-सूची

परिचय

इकाई 1 : अंधेर नगरी (भारतेंदु हरिश्चंद्र)

1.0 परिचय
1.1 अंधेर नगरी मूल नाटक
1.2 अंधेर नगरी का नाट्य शिल्प
1.3 'अंधेर नगरी' में यथार्थ बोध
1.4 'अंधेर नगरी' की भाषा एवं लोक तत्व
1.5 अंधेर नगरी प्रासंगिकता
1.6 सारांश

इकाई 2 : आधे-अधूरे (मोहन राकेश) – II

2.1 नाट्य समीक्षा की कसौटी पर आधे-अधूरे
    2.1.1 कथानक
    2.1.2 पात्र एवं चरित्र चित्रण
    2.1.3 युगबोध
    2.1.4 अभिनेयता
2.2 आधे-अधूरे की नाट्यभाषा
    2.1.1 रंगमंच के अनुकूल शब्दों का चयन
    2.1.3 भाषा शैली

2.3 सारांश

इकाई 3 : निबंध – II

3.1 साहित्यकारों का दायित्व – हजारी प्रसाद द्विवेदी
    3.1.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    3.1.2 साहित्यकारों का दायित्व – मूल पाठ
    3.1.3 निबंध शैली
    3.1.4 साहित्यकारों का दायित्व – प्रतिपाद्य
    3.1.5 साहित्यकारों का दायित्व – समीक्षात्मक अध्ययन
3.2 जीवन अपनी देहरी पर – विद्यानिवास मिश्र
    3.2.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    3.2.2 जीवन अपनी दोहरी पर: मूल पाठ

3.2.3 निबंध शैली
3.2.4 जीवन अपनी दोहरी पर – प्रतिपाद्य
3.2.5 जीवन अपनी दोहरी पर – समीक्षात्मक अध्ययन

3.3 सारांश

इकाई 4 : कहानी – II

4.1 'मलबे का मालिक' - मोहन राकेश
4.1.1 लेखक परिचय
4.1.2 मलबे का मालिक मूल पाठ
4.1.3 मोहन राकेश की कहानी कला की विशेषताएं
4.1.4 कहानी का सार
4.1.5 कहानी की समीक्षा
4.1.6 कहानी कला के तत्व और 'मलबे का मालिक'
4.1.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं
4.2 'यही सच है' – मन्नू भंडारी
4.2.1 लेखिका परिचय
4.2.2 यही सच है : मूल पाठ
4.2.3 मन्नू भंडारी की कहानी कला की विशेषताएं
4.2.4 कहानी का सार
4.2.5 कहानी की समीक्षा
4.2.6 कहानी कला के तत्व और 'यही सच है'
4.2.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं
4.3 'सलाम' – ओम प्रकाश वाल्मीकि
4.3.1 लेखक परिचय
4.3.2 सलाम : मूल पाठ
4.3.3 ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी कला की विशेषताएं
4.3.4 कहानी का सार
4.3.5 कहानी की समीक्षा
4.3.6 कहानी कला के तत्व और 'सलाम'
4.3.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं

4.4. सारांश

इकाई 5 : यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा और जीवनी – II

5.1 संस्मरण : विष्णु प्रभाकर : यादों की तीर्थ यात्रा : जैनेन्द्र कुमार
5.2 आत्मकथा : गुड़िया भीतर गुड़िया : मैत्रेयी पुष्पा
5.3 जीवनी : महापंडित राहुल : गुणाकर मुले
5.4 सारांश

इकाई 1 अंधेर नगरी (भारतेंदु हरिश्चंद्र)

1.0 परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म -9 सितंबर, 1850 ई. को हुआ और 34 वर्ष 4 माह की आयु का अल्प जीवन सार्थकता पूर्ण जीकर वे 6 जनवरी, 1885 ई. को परलोक सिधार गए। इस अल्पायु में ही भारतेंदु जी ने हिंदी साहित्य के भंडार को प्रचुर मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य लिखकर समृद्ध किया। उन्होंने काव्य रचना की, निबंध, नाटक तथा कथा साहित्य का लेखन किया। 18 वर्ष की आयु में उन्होंन 'प्रवास' नाटक की रचना आरंभ की जो अपूर्ण ही रहा और अब उपलब्ध नहीं है। उनके मौलिक, अनुवादित और रूपांतरित नाटकों की सं□या क्त्र है।

भारतेंदु जी के मौलिक नाटकों की संख्या -9 है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (1873ई.) 'प्रेमयोगिनी', (1875ई.) 'भारत दूर्दशा' (1876ई.) तथा 'सती प्रताप' (1884ई.)। भारतेंदु जी ने संस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजी भाषा के छह नाटकों का हिंदी में अनुवाद किया जो अनुवादित नाट्य साहित्य की समृद्धि एवं अनुपम उपलब्धि है। संस्कृत में 'रत्नावली नाटिका' (1868ई.), 'पाखंड विबंडन' (1872ई.), 'धनंजय-विजय व्यायोग' (1873 ई.) तथा 'मुद्रा राक्षस' (1875 ई.) नाटकों का अनुवाद किया। प्राकृत से 'कर्पूरमंजरी' सर्दृक (1876ई.) तथा अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकर 'Merchant of Venice' का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' (1880 ई.) में प्रस्तुत किया। 'विद्यासुंदर' (1868 ई.) तथा 'सत्य हरिश्चंद्र' (1875ई.) भारतेंदु के रूपातंरित नाटक है।

भारतेंदु अपने सहयोगियों के साथ हिन्दी नाटकों, निबंधों आदि के माध्यम से हिंदी साहित्य और हिंदी भाषा को परिष्कृत, विकसित, जन-जन के मध्य लोकप्रिय बनाने का आंदोलन चला रहे थे। जनता की भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्त एवं पूर्णत: अभिव्यंजित करने का साधन उन्होंने हिंदी साहित्य को बनाने का प्रयास किया।

'अंधेर नगरी' भारतेंदु हरिश्चंद्र रचित नाटक है। यह पुस्तक मूलत: 'अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा' की लोककथा पर आधारित है। भारतेंदु का यह नाटक एक कालजयी कृति के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। भले ही समय बदल गया है मगर यह नाटक आज भी नये अर्थों के साथ सामयिक बना हुआ है। भारतेंदु ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली से तत्कालीन समाज की मूल्यहीनता, चरित्रहीनता एवं खोखलेपन को रोचकता से प्रस्तुत किया है।

हंसते-हंसते गंभीर बातें कहने में भारतेंदु का कोई सानी नहीं। इस इकाई में उनके द्वारा प्रणीत इस नाटक के विभिन्न पक्षों का विवेचन किया जा रहा है।

1.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- हिंदी नाटकों की विकास यात्रा से परिचित हो पाएंगे;
- भारतेंदु द्वारा लिखित 'अंधेर नगरी' नाटक की मूल संवेदना की व्याख्या कर पाएंगे;
- 'अंधेर नगरी' के नाट्य शिल्प की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- 'अंधेर नगरी' में प्रस्तुत यथार्थ बोध का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- 'अंधेर नगरी' में प्रयुक्त भाषा एवं लोक तत्वों की पहचान कर पाएंगे;
- 'अंधेर नगरी' की प्रासंगिकता सिद्ध कर पाएंगे।

1.2 अंधेर नगरी : मूल नाटक

प्रथम दृश्य

स्थान - बाह्य प्रांत

(महंतजी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं)

सब -- *राम भजो राम भजो राम भजो भाई।*
राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई।
राम के नाम से दोनों नयन बिनु,
सूरदास भए कबिकुल-राई॥
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसीदास भए भजि रघुराई।

महंत - बच्चा नारायणदास, यह नगर तो दूर से बड़ा सुंदर दिखलाई पड़ता है। देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै। और क्या।

नारायण -- गुरुजी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुंदर है जो सो, पर भिच्छा सुंदर मिलै तो बड़ा आनंद होय।

महंत -- बच्चा गोबरधनदास, तू पच्छिम की ओर से जा और नारायणदास पूरब की ओर जाएगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्रीशालग्रामजी का बालभोग सिद्ध हो।

गोबरधन- -गुरुजी, मैं बहुत सी भिच्छा लाता हूं। यहां के लोग तो बड़े मालवार दिखलाई पड़ते हैं। आप कुछ चिंता मत कीजिए।

महंत- बच्चा बहुत लोभ मत करना देखना, हां-

लोभ पाप को मूल है लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिए, यामैं नरक निदान॥

(गाते हुए सब जाते हैं)

दूसरा दृश्य

स्थान--बाजार

कबाबवाला -- कबाब गरमागरम मसालेदारं--चौरासी मसाला

बहत्तर आंच का-कबाब गरमागरम मसालेदार-खाय सो होंठ चाटै,न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाब का ढेर-बेचा टरे सेर।

घासीराम- - *चने जोर गरम- -*
चने बनावै घासीराम। जिनकी झौली में दूकान॥
चना चुरमूर बोलै। बाबू खाने को मुंह खोलै॥
चना खावै तोकी मैना। बोलै अच्छा बना चबैना॥
चना खायं गफूरन, मुन्ना। बोलैं और नहीं कुछ सुन्ना॥
चना खाते सब बंगाली। जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
चना खाते मियां जुलाहे। जाढ़ी हिलती गाइ बगाहे।।
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥
चने जोर गरम-टके सेर।

नरंगीवाली -- नरंगी ले नंगरी-सिलहट की नरंगी, बुटवल की नरंगी। रामबाग की नरंगी, आनंदबाल की नरंगी। भई नीबू से नरंगी। मैं तो पिय के रंग न रंगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नरंगी ले नरंगी-कंवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा। नरंगी ले नरंगी-कंवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा संगतरा। दोनों हाथों लो- नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नरंगी ले नरंगी। टके सेर नरंगी।

हलवाई -- जलेबियां गमरागरम। ले सेब इमरती लड्डू, गुलाबजामुन, खुरमा बुंदिया बरफी समोसा पैड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ ले हलुआ नमर चभाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूर का लड्डू। जो खाय सो भी पछताप, जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका।

ऐसी जात हलवाई जिसके डत्तिस कौम है भाई। जैसे कलकत्तें के विलसन मंदिर के भितरिए, वैसे अंधेर नगरी के हम। सब समान ताजा। खाजा ले खाजा टके सेर खाजा।

कुंजड़िन- - ले धनिया मेथी सोआ-पालक चौराई बथुवा करेमु नोनियां

कुलफा, कसारी चना, सरसों का साग। मरसा ले मरसा।
ले बैंगन लौआ कोंहड़ा आलू अरुई बंड़ा नेनुआं सूरन।
रामतरोई तरोई मुरई। ले आदी मिरचा लहसुन पियाज
टिकोरा। ले फालसा खिरनी आम अमरूत निबुआ मटर
हो रहा। जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी।
ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।

पाचकवाला- - चूरन अमलबेद का भारी। जिसको खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालोदार। जिसमें खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोई खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिंदू चूरन इसका नाम। बिलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिंद में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा। कीना दांत सभी का खट्टा॥
चूरन चला डाल की मंडी। इसको खाएंगी सब रंडी॥
चूरन अमले सब जो खावै। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं।
चूरन नाटकवाले खाते। इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते। जिससे जमा हजम कर आते॥
चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥
चूरन खावैं एडिटर जात। जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता॥
चूरन पुलिसवाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥
ले रन का ढेर, बेचा टके सेर।

मछलीवाली- - मछली ले मछली।
मछरिया एक टके कै बिकाय।
लाख टका कै बाला जोबन, गांइक सब ललचाय॥
नैन- मछरिया रूप जाल में, देखत ही फंसि जाय॥
बिनु पानी मछरी को बिरहिया, मिले बिना अकुलाय॥

जातवाला (ब्राह्मण)- - जात ले जात, टके सिर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाएं और धोबी को ब्राह्मण से धोबी हो जाएं और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से कितान। टके के वास्ते ध**म्म** और प्रतिष्ठा दोनों बेचे, टके के वास्तें झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को

भी पितामह बनावें। वेद **धम्म** कुल-मरजाता सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।

बनियां -- आटा दाल लकड़ी नमक घी चीनी मसाला चावल ले टके सेर (बाबाजी का चेला गोबरधनदास आता है सब बेचनेवालों की आवाज सुन-सुनकर खाने के आनंद में बड़ा प्रसन्न होता है।)

गोबरधन - **क्यों** भाई बनिये, आंटा कितने सेर।

बनियां - टके सेर।

गोबरधन - औ चावल?

बनियां- टके सेर।

गोबरधन - औ चीनी।

बनायं - टके सेर।

गोबरधन- औ घी?

बनियां - टके सेर।

गोबरधन - सब टके सेर। सचमुच

बनियां - हां महाराज, **क्या** झूठ बोलूंगा?

गोबरधन- (कुंजड़िन के पास जाकर) **क्यों** माई, भाजी **क्या** भाव?

कुंजड़िन- बाबाजी, टके सेर। निनुआ मुरई धनियां मिरचा साग सब टके सेर।

गोबरधन- सब भाजी टके सेर। वाह-वाह! बड़ा आनंद है। यहाँ भी चीज टके सरे।

(हलवाई के पास जाकर) **क्यों** भाई हलवाई। मिठाई कितने सरे?

हलवाई- बाबाजी। लडुआ हलुआ जलेबी गुलाबजामुन खाजा सब टके सेर।

गोबरधन - वाह! वाह!! बड़ा आनंद है। **क्यों** बच्चा, मुझसे मुझसे मसखरी तो नहीं करता? सचमुच सब टके सेर?

हलवाई - हां बाबाजी, यहां सब चीज टके सेर बिकती है।

गोबरधन - और राजा का **क्या** नाम है?

हलवाई - चौपट राजा।

गोबरधन - वाह! वाह! अंधेर नगरी चौपट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा। (यही गाता है और आनंद से बगल जाता है)

हलवाई - तो बाबाजी, कुछ लेना-देना हो तो लो-दो।

गोबरधन – बच्चा, भिक्षा मांगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब सब आनंदपूर्वक इतने में छक जाएंगे।

(हलवाई मिठाई तौलता है – बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेरनगरी गाते हुए जाते हैं।

(जवनिका गिरती है)

तीसरा दृश्य

स्थान-जंगल

(महंतजी और नारायणदास एक ओर से ''राम भजो'' इत्यादि गाते हुए आते हैं और दूसरी ओर से गोबरदास 'अंधेरनगरी' गाते हुए आते हैं।)

महंत – बच्चा गोबरधनदास। कह, क्या भिक्षा लाया? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गोबरधनदास– बाबाजी महाराज। बड़े माल लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई है।

महंत– देखूं बच्चा। (मिठाई की झोली अपने सामने रखकर खोल कर देखता है) वाह! वाह! बच्चा इतनी मिठाई कहाँ से लाया? किस धर्मात्मा से भेंट हुई?

गोबरधन– गुरुजी महाराज! सात पैसे भीख में मिले थे, उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महंत – बच्चा! नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहां सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, यह कौन-सी नगरी है और इसका कौन-सा राजा है, जहां टके सेर भाजी और टके सेर खाजा है।

गोबरधनदास-- अंधेरनगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महंत-- – तो बच्चा! ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं, जहाँ टके सेर भाजी और टके सेर खाजा हों।

दोहा

खेत खेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहूं न कीजै बास॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इंद्रायन दाड़िम विषय जहां न नेकु बिबेक॥
बसिए ऐसे देश नहिं, कनक-वृष्टि दो होय।
रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय॥

सो बच्चा चलो यहां से। ऐसी अंधेरनगरी में हजार मन मिठाई मुक्त की मिले तो किस काम को? यहाँ एक छन नहीं रहना।

गोबरधनदास- - गुरुजी ऐसा तो संसार भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊंगा। और जगह दिन भर मांगो तो भी पेट नहीं भरता। वरंच बाजे-बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यहीं रहूंगा।

महंत -- देख बच्चा, पीछे पछतायेगा।

गोबरधनदास- - आपकी कृपा से कोई दुख न होगा; मैं तो यही कहता हूँ कि आप भी यहीं रखिए।

महंत -- मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूंगा। देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछताएगा। मैं तो जाता हूँ, पर इतना कहे जाता हूं कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गोबरधन दास - प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूंगा। मैं तो फिर भी कहता हूँ कि आप भी यहीं रखिए।

(महंत जी नारायणदास के साथ जाते हैं, गोबरधनदास बैठकर मिठाई खाता है।)

(अवनिका गिरती है)

चौथा दृश्य

स्थान-राजसभा

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित है)

एक सेवक -- (चिल्लाकर) पान खाइए, महाराज।

राजा-- (पीनक से चौंक के घबड़ाकर उठता है) क्या कहा? सुपनखा आई ऐ महाराज। (भागता है)

मंत्री- - (राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज।

राजा- - दुष्ट लुच्चा पाजी। नाहक हमको डरा दिया। मंत्री इसको सौ कोड़े लगें।

मंत्री- - महाराज! इसका क्या दोष हैं? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकाकता।

राजा- - अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मंत्री -- पर महाराज, आप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं,आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखाकी सजा हो।

राजा -- (घबड़ाकर) फिर वही नाम? मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मंत्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है। नौकर! नौकर! खराब -

दूसरा नौकर --- (एक सुराही में से एक गिलास में शरब उडेलकर देता है) लीजिए महाराज। पीजिए महाराज।

राजा- - (मुंह बना-बनाकर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में-दुहाई है दुहाई का शब्द होता है)
कौन चिल्लता है- पकड़ लाओ।
(दो नौकर एक फरियादी को पकड़ लाते हैं)

फरियादी- - दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याय होय।

राजा -- चुप रहो। तुम्हारा न्याय यहां होगा कि जैसा जम के यहां भी न होगा-बोलो क्या हुआ?

फ-.- महाराज! कल्लू बनियां की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसक नीचे दब गई। दोहाई है महाराज, न्याय दो।

राजा- - (नौकर से) कल्लू बनिये की दीवार को पकड़ लाओ।

मंत्री- - महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा- - अच्छा, उसका भाई, लड़का दोस्त, आशना जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री- - महाराज! दीवार ईंट-चूने की होती है, उसको भाई बेटा नहीं होता।

राजा- - अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ। (नौकर लोग दौड़ कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं) क्यों बे बनिये। इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई।

मंत्री -- बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा- - हां, हां, बकरी क्यों मर गई-बोल, नहीं अभी फांसी देता हूँ।

कल्लू-- महाराज। मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनाई कि गिर पड़ी।

राजा- - अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ। (कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़कर लाते हैं) क्यों बे कारीगर। इसकी बकरी किस तरह मर गई?

कारीगर- - महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा चूना बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा-- अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं निकालो, इस चूनेवाले को बुलाओ। (कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है) **क्यों** बे खैर-सुपाड़ी-चूनेवाले। इसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला-- -- महाराज! मेरा कुछ दोष नहीं; भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमजोर हो गया होगा।

राजा- - अच्छा, चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है) **क्यों** बे भिश्ती। गंगा-जमुना की किश्ती। इतना पानी **क्यों** दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती- - महाराज! गुलाम का कोई कसूर नहीं, कसाई ने मसक इतनी बड़ी बना दी कि उसमें पानी जादे आ गया।

राजा- - अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकाले। (लोग भिश्ती को निकालते हैं कस्साई को लाते हैं) **क्यों** बे कस्साई मशक ऐसी **क्यों** बनाई कि दीवार लगाई बकरी दबाई ?

कस्साई -- महाराज! गंड़ेकिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची कि उसकी मशक बड़ी बन गई।

राजा- - अच्छा, कस्साई को निकालो, गंड़ेरिए को लाओ। (कसाई निकाला जाता है, गंड़ेरिया आता है) **क्यों** बे ऊख पौंड़े के गंड़ेरिए, ऐसी बड़ी भेड़ **क्यों** बेचा कि बकरी मर गई ?

गंड़ेरिया- - महाराज! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उसके देखने में मैंने छोटी बड़ी भेड़ का खयाल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा --- अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरबमुहर पकड़ लाओ।) गंड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल! तैंने सवारी ऐसी धूम से **क्यों** निकाली कि गंड़ेरिए ने घबराकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनियां दब गया ?

कोतवाल -- महाराज महाराज! मैं तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इंतजाम के वास्ते जाता था।

मंत्री -- (आप ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूंक दे या फांसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी **क्यों** निकाला?

राजा -- हां हां, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी **क्यों** निकाला कि उसकी बकरी दबी?

कोतवाल- - महाराज महाराज-

राजा -- कुछ नहीं, महाराज महाराज ले जाओ, कोतवाल को अभी फांसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकड़कर राजा जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

पांचवा दृश्य

स्थान-- अरण्य

(गोबरधनदास गाते हुए आते हैं।)

(राग काफी)

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥
नीच उंच सब एकहि ऐसे। जैसे भंडुए पंडित तैसे।।
कुल-मरजाद न मान बड़ाई। सबै एक से लोग-लुगाई॥
जात-पांत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥
वेश्या जोरु एक समाना। बकरी गउ एक करि जाना॥
सांचे मारे मारे डोलै। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं।

प्रगट स**भ्य** अंतर छलधारी। सोई राजसभा बल भारी॥
सांच कहैं ते पनही खावैं। झूठे बहु विधि पदवी पावैं।
छलियन के एका के आगे। लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥
भीतर होइ मलिन की कारो। चहिए बाहर रंग चटकारो॥
धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा करे सो न्याव सदाई॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले औरु प्यादे॥
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुं नृपति बिधर्मी कोई॥
उंच नीच सब एकहिं सारा। मानहुं ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा॥
अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

गुरुजी ने हमको नाहक यहां रहने को मना किया था। माना कि देश बहुत बुरा है, पर अपना **क्या**? अपने किसी राज-राज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, मिठाई चाभना, मजे में आनंद से राजभजन करना।

(मिठाई खाता है चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते हैं)

प. प्या.-- चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। आज पूरी हो गई।

दू. प्या. -- बाबाजी चलिए, नमोनारायन कीजिए।

गोबरधन -- (घबड़ाकर) है। यह आफत कहां से आई! अरे भाई, मैंने तु**म्ह**ारा **क्या** बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो?

प. प्या. -- आपने बिगाड़ा है या बनाया है इससे **क्या** मतलब, अब चलिए। फांसी चढ़िए।

गोबरधन -- फांसी। अरे बार रे बाप फांसी। मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फांसी। मैं किसके प्राण मारे कि मुझको फांसी।

दू. प्या.- - आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फांसी होती है।

गोबरधन -- मोटे होने से फांसी? यह कहां का न्याय है। अरे, हंसी फकीरों से नहीं करनी होती।

प. प्या.-- जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हंसी है कि सच। सीधी राह से चलते हो कि घसीटकर ले चलें?

गोबरधन -- अरे बाबा, **क्यों** बेकसूर का प्राण मारते हो? भगवान के यहां **क्या** जवाब दोगे?

प. प्या. -- भगवान को जवाब राजा देगा। हमको **क्या** मतलब। हम तो हु**क्म** बंदे हैं।

गोबरधन -- तुम भी बाबा बात **क्या** है कि हम फकीर आदमी को नाहक फांसी देते हो?

प. प्या.- - बात यह है कि कोतवाल को फांसी का हुकुम हुआ था। जब फांसी देने को उसको ले गए, तो फांसी का फंदा बड़ा हुआ, **क्यों**कि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हु**क्म** हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फांसी दे दो, **क्यों**कि बकरी मारने अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फांसी दें।

गोबरधन -- तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता जो मुझ अनाथ फकीर को फांसी देते हैं ?

प. प्या. -- इसमें दो बात है- एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकड़े तो वह न-जाने क्या बात बनावे कि हमीं लोगों के सिर कहीं न घहराय और फिर राज में साधू महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फांसी देंगे।

गोबरधन -- दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ। अरे यहां बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहां हो। आओ,मेरे प्राण बचाओं, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ। गुरुजी गुरुजी-

(गोबरधनदास चिल्लाता है, प्यादे उसको पकड़कर ले जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

छठा दृश्य

स्थान - श्मशान

(गोबरधनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गोबरधन -- हाय बाप रे! मुझे बेकसूर ही फांसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम बिचारो। अरे मुझ गरीब को फांसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा? अरे मुझे छोड़ दो। हाय! हाय! (रोता है और छुड़ाने का यत्न करता है)

प. सिपाही -- अबे, चुप रह -राजा का हुकुम भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आखरी दम है, राम का नाम ले-बेफाइदा क्यों शोर करता है? चुप है-

गोबरधन -- हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना। अरे! इस नगर का नाम ही अंधेरनगरी और राजा का नाम चौपट है, तब बचने की कौन आशा है। अरे! इस नगरी में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को बचावे। गुरुजी कहां हो? बचाओ-बचाओ-गुरुजी-गुरुजी।

(रोता है, सिपाही) लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं।

गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु -- अरे बच्चा गोहरधनदास! तेरी यह **क्य**ा दशा है?

गोबरधन-- (गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिए मुझे फांसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु -- अरे बच्चा! मैंने तो पहले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीकक नहीं, तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गोबरधन-- मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। मैं आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं। (पैर पकड़कर रोता है)

गुरु -- कोई चिंता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अंतिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारी हो जाओ, देखो मेरा कहना न मानोगे तो तु**म्ह**ारा भला न होगा।

सिपाही -- नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।
(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं)

गोबरधन- (प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढ़ेंगे।

गुरु -- नहीं बच्चा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोबरधन-- स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान **क्य**ा? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से **क्य**ा? मैं फाँसी चढ़ूँगा।
(इसी प्रकार दोनों इज्जत करते हैं - सिपाही लोग चकित होते हैं)

प. सिपाही -- भाई! यह **क्य**ा माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता।

दू. सिपाही -- हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं)

राजा -- यह **क्य**ा गोलमाल है?

प. सिपाही- - महाराज! चेला कहता है मैं फांसी पड़ूंगा, गुरु कहता है मैं पड़ूंगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता कि **क्य**ा बात है।

राजा -- (गुरु से) बाबाजी! बोलो। काहे को आप फांसी चढ़ते हैं?

गुरु -- राजा! इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जाएगा।

मंत्री -- तब तो हमीं फांसी चढ़ेंगे।

गोबरधन -- हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल-- हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा -- चुप रहो, सब लोगा। राजा के आछत और कौन बैकुंठ जा सकता है। हमको फांसी चढ़ाओं, जल्दी, जल्दी।

गुरु- - जहां न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजान-समाज
ते ऐसहि आपुहि, नसैं, जैसे चौपटराज।
(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं)

नोट - (यह नाटक छोटा है इसलिए पूर्ण रूप से यहां दिया जा रहा है। नाटककी भाषा बहुत सहज एवं सरल बोलचाल में प्रयु**क्त** होने वाले हैं। विद्यार्थियों को स्वत: समझ में आने वाली है, इसलिए इसके व्या**ख्या**ंश देने की जरूरत महसूस नहीं की गई। अंधेर नगरी के यथार्थ बोध में इसकी व्या**ख्या** समाहित हो गई है।)

1.3 अंधेर नगरी का नाट्य शिल्प

शिल्प की दृष्टि से 'अंधेर नगरी' नाटक को उत्कृष्ट कोटि का नहीं कहा जा सकता किंतु तत्कालीन समय, समाज और साहित्यिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालें तो उत्कृष्ट नाट्य शिल्प की अपेक्षा करना अनुचित ही होगा। पराधीन भारत के संवेदनशील और उ**त्त**रदायित्वपूर्ण रचनाकार भारतेंदु जी ने कथ्य को प्रमुखता दी जो समस्याओं से मु**क्ति** पाने के लिए आवश्यक था। भारतेंदु जी एवं उनके सहयोगियों द्वारा हिंदी साहित्य में गद्य का आरंभ होने जा रहा था, इसलिए परिष्कृत भाषा एवं शैली की अपेक्षा भी बेमानी है लेकिन ऐसा नहीं कि 'अंधेर नगरी', भाषा, शैली, शिल्प किसी भी कसौटी पर हीन ठहरता हो। यह इस दृष्टि से उ**त्त**म एवं सफल है, सार्थक है कि इसकी भाषा शैली ने तत्कालीन भारतीय समाज को मनोरंजन प्रदान कर उनमें जीवंतता एवं उत्साह जाग्रत किया साथ ही उनके विवेक को झकझोर कर रख दिया। सामाजिक व्यवस्था, राजा एवं प्रजा के कर्तव्य तथा अधिकारों के प्रति सोचने के लिए उन्हें नई चिंतन-दृष्टि प्रदान की। जब रचना के शिल्प की बात आती है तो हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा 'नीड़ का निर्माण फिर' से दो टिप्पणियाँ उद्धृत करा आवश्यक लगता है ताकि 'अंधेर नगरी' के माध्यम से इसके रचनाकार के शिल्प कौशल पर न्यायपूर्वक टिप्पणी की जा सके। बच्चन जी लिखते हैं - ''जीवन उतना ही नहीं जितना वह शिल्प से सध सके या शिल्प के सांचे में ढल सके। शिल्प से सधा जीवन प्राय: निर्जीव नहीं तो पालतू जैसा लगता है। जब कोई कलाकार जीवन को उसकी उद्दामता में देखता और उसे पकड़ने का

प्रयत्न करता है- 'जैसे कोई मयगल हाथीको' - तो शिल्प की जंजीरें टूटने लगती है। भनिति भदेस हो जाती है। कलाकार जब जीवन के किसी बड़े सत्य का साक्षात्कार करता है तभी वह भनिति के भदेस होने के खतरे की परवाह नहीं करता। मीरा, कबीरतो खतरे चलते हैं।'' बच्चन जी की दूसरी टिप्पणी भी 'अंधेर नगरी' के शिल्प की स्थिति पर सार्थकतापूर्ण प्रकाश डालने में समर्थ सिद्ध होती है। वे लिखते हैं- ''शिल्प के प्रति सचेत होना तो ठीक है, पर शिल्प पर अधिकार होना कलाकार के लिए बहुत बड़ा खतरा है। इसकी परिणति होती है कलाकार के ऊपर शिल्प के अधिकार में। जीवन की पकड़ जैसे-जैसे छूटती जाती है शिल्प की जकड़ मजबूत और मजबूत होती जाती है।''

यहां दृष्टव्य है कि जीवन की पकड़ भारतेंदु जी पर मजबूत थी। समाज उनके भीतर था, अपने समस्त दुखों, अभावों, अविवेक और अयोग्यता के साथ वे समाज के भीतर थे, उसे इन नकारात्मक प्रभावों, गुणों से छुटकारा दिलाने के लिए। इसलिए 'अंधेर नगरी' का व्यंग्य प्रभावी बन पड़ा है। इस काव्यात्मक व्यंग्य प्रधान प्रहसन में कथ्य प्रखर व्यंग्य वाक्यों के माध्यम से लक्ष्य बेध करता है। इसकी कथावस्तु लोक रूचि के अनुकूल है इसलिए इसकी लोकप्रियता बढ़ी साथ ही साथ रंगमंच के अनुकूल होने के कारण यह बार-बार मंचित किया गया। कलात्मक रूप से प्रौढ़ न होने पर भी इसमें साहित्यिक गरिमा है इस दृष्टि से यह भारतेंदु जी का मौलिक एवं सफल नाटक माना जाता है।

कलात्मक विकास की दृष्टि से भारतेंदु जी को नाटकों को कई कोटियों ने विभक्त किया जा सकता है। 'विषय विषमौषधम्' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रथम चरण के नाटक है जिनमें कला का विकास अल्प है। विषय चयन तथा वस्तु-व्यापार की दृष्टि से भी ये नाटक सामान्य तथा अपरिपक्व माने जा सकते हैं। कलात्मक विकास की एकांगिता 'चंद्रावली नाटिका' में दृष्टिगोचर होती है। इनमें प्रेमातिरेक से वातावरण भावपूर्ण बन पड़ा है। कथा-प्रसंग के विकास में नाटकीय गति अवरुद्ध सी प्रतीत होती है। कथोपकथन तथा कथा-वस्तु के विन्यास में सहजता तथा नाट्यानुकूलता का अभाव प्रतीत होता है।

'प्रेमयोगिनी' में सामाजिक यथार्थ को प्रश्रय मिला होने पर भी वस्तु-व्यापार का अभाव खटकता नहीं तो कमी अवश्य अनुभव होती है। राजनैतिक धरातल पर रचे हुए 'भारत-जननी' तथा 'भारत दुर्दशा' नाटकों में महत्वपूर्ण उद्देश्य होने के साथ ही प्रचारात्मकता झलकती है अत: कलात्मक विकास होने के साथ ही इन नाटकों में अपेक्षित प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। कलात्मक विकास की संपूर्णता की दृष्टि से 'नील देवी' महत्वपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटक है। इसमें सुव्यवस्थित कथावस्तु तथा चरित्रों का क्रमिक व्यक्तिगत विकास पाया जाता है। इसमें रस-नियोजन उत्तम कोटि का है।

भारतेंदु जी ने जब नाट्य रचना प्रारंभ की तब हिंदी साहित्य में कोई निजी या व्यक्तिगत नाट्य परंपरा नहीं थी। अत: नाट्य परंपरा के निर्माण एवं विकास का कार्य उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर किया। नाट्य रचना का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने 'नाटक' नामक निबंध की रचना की। देश, काल तथा तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तनों के साथ उन्होंने स्वतंत्र नाट्य-विधान की स्थापना की जिसका अध्ययन करने पर पता चलता है कि इसमें संस्कृत के प्राचीन सिद्धांत एवं पश्चिम के आधुनिक नाट्य सिद्धांतों का समन्वित रूप है तथा लोक-नाटकों का प्रभाव भी इसमें दृष्टिगोचर होता है अत: 'अंधेर नगरी' को किसी एक नाट्य-सिद्धांत के निकष पर नहीं कहा जा सकता। यह सभी नाट्य-कलाओं का अपूर्व समन्वय है। भारतेंदु जी बहुपठ थे। उन्होंने भारत के 'नाट्यशास्त्र', 'दशकरूपक', 'साहित्य दर्पण', 'काव्य प्रकाश' के साथ गुजराती, मराठी, बंगाली नाट्य साहित्य का पर्याप्त अध्ययन किया था। यूनान, फ्रांस, इटली, जर्मनी, ब्रिटेन और अमेरिका के तत्कालीन नाट्य आंदोलनों पर गहराई से चिंतन किया था। 'विल्सन हिंदू थियेटर', 'लाइफ ऑफ दि इमिनेंट परसंस', 'ड्रामेटिस्ट एंड नॉवेलिस्ट', हिस्ट्री ऑफ द इटालिक थिएटर्स' जैसे नाट्य रचनाओं का गहन अध्ययन किया था।

भारतेंदु की नाट्य रचनाओं पर अंग्रेजी और बांग्ला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परंतु सभी प्रभावों और अनुभवों को उन्होंने हिंदी भाषा की मूल संवेदना से जोड़कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया। 'अंधेर नगरी' में भारतेंदु ने विषय और शैली को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उससे नाट्य कला की पूर्णता का अनुभव होता है। विषय के रूप में सामाजिक संस्कार, देश-प्रेम, इतिहास, धर्म, भक्ति, आर्थिक चेतना को विशेष महत्व दिया तथा भारतीय जनता आर्थिक, आत्मनिर्भरता के साथ आत्मसम्मान से पूर्ण जीवन जी सके। भारतीय जन शिक्षित और संस्कारित हों। भारतेंदु का ऐतिहासिक चिंतन भारत की आम जनता के ही प्ररिप्रेक्ष्य में था। नाट्य शैली में भी परिवर्तन करते हुए उन्होंने गद्य-विधान, प्रतीक धर्मी लघु संवाद, छोटे-छोटे दृश्यों के भीतर दृश्य को प्रस्तुत करने की नई विधि, साज-सज्जा, रंग-निर्देश, लोक नाट्यों का महत्व, अवसर अनुकूल गीत- संयोजना, संप्रेषित होने योग्य सहज भाषा, हास्य वृत्तिका विकास, दुखांत नाटकों की रचना, परिवेश एवं परिस्थितियों के अनुकूल रचना, भारतीय एवं यूरोपीय नाट्य तत्वों का समन्वय आदि को महत्व दिया।

भारतेंदु जी ने नाटकों के पांच उद्देश्य निर्धारित किये थे - शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार और देश वत्सलता। प्रथम तीन उद्देश्य 'रस' सिद्धांत के अनुकूल और अंतिम दो उद्देश्य प्रभावान्वित के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं एवं इन्हीं दो उद्देश्यों को नाटक के प्राण बनाकर (रस संहित) वे भारतीय समाज को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जागरूक बना रहे थे तथा समाज को शिक्षा की ओर प्रेरित कर अंध-विश्वास एवं कुरीतियों से दूर ले जा रहे थे। 'अंधेर नगरी' नाटक में ये पांचों उद्देश्य यथावसर प्रयोग किये गए हैं। भारतेंदु जी की यह

मौलिक अवधारणा नाटक के क्षेत्र में एक अद्भूत नाट्य शिल्प के दर्शन कराती है। इस नव-प्रवर्तन में भारतेंदु की नाट्य कला अंग्रेजी एवं बंगला के प्रभाव को भी दर्शाती है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र समन्वयवादी नाटककार थे। उन्होंने प्राचीन सिद्धानों को ही लीक के रूप में नहीं अपनाया। 'अलौकिक विषय का आश्रय' लेकर संधि, संध्यग, वीथ्यंग, और लास्यांगों जैसे दुरुह प्राचीन नियमों को नियोजित किया जाए तो रचना में असहजता एवं अस्वाभाविकता उत्पन्न होती है। वे सहज, सरलता एवं स्वाभाविकता को ही नाट्य रचना का धर्म मानते थे। उनकी यह मान्यता 'अधेर नगरी' में देखी जा सकती है। नाटक का दर्शकों पर ऐसा प्रभाव हो कि वे मंच से, नाट्य के कथ्य से बंधकर रह जाएँ। उनके हृदय आंदोलित हो उठें, यही उनका सर्वोपरि उद्देश्य था। परंपरा और आधुनिकता दोनों में सामंजस्य स्थापित कर उसे समाजोपयोगी बनाना ही उनका नाट्य धर्म था। उनका मानना था कि ''प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि को शोभा संपादन करने में उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है'' - 'नाटक' (निबंध) इस कथन से नाट्य कला के संबंध में उनकी दो प्रवृत्तियाँ सामने आता है- एक तो नवीनता के प्रति आग्रह और दूसरी आधुनिकता के प्रति नया दृष्टिकोण। युगीन आवश्यकता एवं अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में नाट्य रचना कर समाज को लाभान्वित करना एक लोकधर्मी, सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य था जिसे 'अंधेर नगरी' नाटक में देखा जा सकता है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार 'प्रहसन' के केवल एक अंक होता है। 'अंधेर नगरी' भी एक अंक वाला प्रहसन है। लेकिन इसकी सहजता बनाए रखने के लिए इसमें 'संध्यग' जसी दुरुह नाट्य प्रक्रिया को स्थान नहीं दिया गया है। बल्कि 'संध्यग' की कुछ प्रक्रियाओं को सहज, आधुनिक रूप प्रदान कर 'मुख संधि' में 'उपक्षेप', 'परिकर', 'परिन्यास', 'प्राप्ति', और 'उद्‌भेद' की रचना की गई है। निर्वहणि संधि में भी 'संधि', 'विवोध', 'ग्रथन', 'निर्णय', 'परिभाशा' और 'पूर्वाभाव' संधियों में ऐसी ही सरल साधु संयोजना की गई है।

पात्रों एवं दृश्यों की कोई निश्चित सीमा न होते हुए भी प्रहसन में अंक एक ही होता है। भारतेंदु जी ने शास्त्रीय नियमों के अनुरूप ही 'अंधेर नगरी' में अंक, दृश्य और पात्र-विधान किया है। इस प्रहसन में लिखे छः अंक वास्तव में छः दृश्य है। भारतेंदु जी ने 'दृश्य' में स्थान पर 'अंक' शब्द का प्रयोग किया है। हर अंक में दृश्यांतर एवं विषयांतर होता है। लेकिन अंधेर नगरी के सभी छः अंकों में दृश्य परिवर्तन न करना ही यह सिद्ध करता है कि ये अंक नहीं दृश्य है।

नाट्य शास्त्रों में लास्यांगों को प्रहसन के लिए आवश्यक माना गया है। नाटक को मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए काव्यशास्त्रियों ने लास्य की कल्पना की। भरत मुनि लास्यांग को स्त्री-पुरुषों के परस्पर भाव पर आधारित मानते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने सोद्देश्य प्रहसन में (अंधेर नगरी) लास्य को स्थान नहीं किया अगर वे लास्यांग के प्रति आग्रही हो गए होते तो 'अंधेर नगरी' में व्यंग्य की धारदार मार कुंठित हो गई होती। इस नाटक में युगीन यथार्थ को व्यंग्य के जिस तेवर के साथ व्यक्त किया गया है और यह जितना प्रभावशाली बन पड़ा है वह प्रभाव नष्ट

नहीं तो कम अवश्य हो जाता। आधुनिक नाटकों में मनुष्य के जीवन और समाज को जिस सूक्ष्म बोध के साथ स्वाभाविक रूप से उभारा जाता है वह लास्य के साथ समर्थ नहीं हो सकता। लास्यांग नृत्य और गीतों में नियोजित रहता है। 'अंधेर नगरी' के प्रथम दृश्य में घासीराम, पाचकवाला और मछलीवाली के द्वारा गाए गए लोकगीत है। पांचवे दृश्य में गोबरधनदास काफी राग गाते हैं। इसमें कहीं किसी नृत्य को स्थान नहीं मिला है। इसमें कथा को प्रभावित करने वाली कोई स्त्री पात्र नहीं है केवल कथावस्तु का अंग बनकर बाजार में बैठी मछलीवाली, कुंजड़ित और नारंगीवाले जैसी स्त्री पात्र है जो उल्लेखनीय भूमिका नहीं निभाते।

प्रहसन का नायक गोबरधनदास का इन स्त्रियों के प्रति कोई आकर्षण नहीं है जो लास्य को जन्म दे। इन स्त्रियों के रूप-रंग या भावाभिव्य**क्ति** को नाटक में महत्व नहीं दिया गया है केवल एक ही संवेदना- 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टेक सेर खाजा' को विस्तार देने में इन्हें सहयोगी बनाया गया है। अभिनव गुप्त ने गेय पद लास्यांग के पांच भेद बताए हैं- प्रावेशिकी, नैष्कामिकी, अपेक्षिकी, प्रासादिकी तथा अंतरा। प्रावेशिकी गेय पद-लास्यांग वह होता है जो 'गान' पात्र के रंगभूमि-प्रवेश के समय गाया जाता है। इस दृष्टि से 'अंधेर नगरी' प्रथम एवं पंचम दृश्य के गीत गेय पद लास्यांग की कोटि में आ जाते हैं।

रस के संदर्भ में विचार करने पर प्रहसन का प्रधान रस 'हास्य' माना गया है। 'अंधेर नगरी' प्रहसन का अंगी रस हास्य प्रधान है। परंपरागत एक कथा को कवि की कल्पना के साथ जोड़कर रचा गया। यह हास्य रस प्रधान नाटक है। साधु गोबरधनदास की भ्रष्ट प्रवृति, उसका धर्माडंबर, लोभ-लालच और भोगी आचरण उसे हंसी का पात्र बनाते हैं। भारतेंदु जी ने भाषा, भाव और अभिनय को अत्यंत सूक्ष्मता से समन्वित किय है उससे हास्य की सृष्टि हुई है। इसमें राजा, मंत्री, कोतवाल, प्यादे, सामान्य जन की भाव मुद्राएं तथा संवाद भी हास्य रस से ओत-प्रोत हैं।

'अंधेर नगरी' में प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तावना एवं भरत वा**क्य** का विन्यास नहीं किया गया है किंतु 'समर्पण' में प्रस्तावना के अप्रत्यक्ष दर्शन करते हैं वहीं प्रथम अंक के 'सामूहिक गान' में नांदीपाठ और प्रहसन के अंत में महंत द्वारा पठित दोहा- 'जहां न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज, ते ऐसहिं आपुहिं नर्स जैसे चौपट राज' में भरत वा**क्य** की अनुभूति होती है। प्रहसन में 'भारती वृ**त्ति**' के समायोजन को अनिवार्य माना जाता है। नाट्यशास्त्र के कठोर बंधन को 'अंधेर नगरी' में शिथिल कर दिया गया है **क्यों**कि 'भारती वृ**त्ति**' में साधु भाषा के प्रयोग पर बल दिया जाता है जब कि इस नाटक में असाधु लोगों को मूर्खता और कुटिलता को दर्शाया जाना था। 'अंधेर नगरी' नाटक के प्रथम दृश्य में 'राम भजा....' गान के साथ ही कथा का बीजारोपण होता है जो तीन दृश्यों में परिप**क्व** कथा के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

मंहत के शिष्य गोबरधनदास बाजार में हर वस्तु के टका सेर मिलने से प्रसन्न हो जाता है। तीसरे दृश्य में महंत द्वारा ऐसे देश में रहने से मना करना जहां हर वस्तु का एक ही दाम है और

गोबरधनदास ऐसे ही देश में रहना चाहता है- प्रसंग का चित्रण है। यहां लेखक की व्यंजनापूर्ण शैली कथा को अप्रत्यक्ष गांभीर्य प्रदान करती है। महंत का गोहरधनदास को छोड़कर चले जाने से कौतूहल जागता है कि आगे क्या होगा? अगले तीन अंको में कार्य की पूर्णता दर्शाई जाती है जब अविवेकी राजा के अन्यायपूर्ण निर्णय के कारण अनेक हास्यास्पद स्थितियां उपस्थित होती है और गोहरधनदास फांसी पर चढ़ाने जाने के लिए पकड़ा जाता है। उसे महंत की गूढोक्ति का स्मरण हो आता है कि जहां 'टके सेर भाजी और टके सेर खाजा' हो ऐसे देश में नहीं रहना चाहिए। अंतत: महंत यानी गुरुजी आकर कहते हैं कि 'यह ऐसी साइत है कि इसमें फांसी चढ़ने के लिए तैयार हो जाना है।'

'अंधेर नगरी' की रस -योजना सफल एवं कृत-कार्य होती है। प्रेक्षकों को बांधे रखने में इसकी भाषा, शैली और कथ्य भरपूर सफलता प्राप्त करते हैं। भरपूर हास्य के साथ एक गंभीर उपदेश देता हुआ यह नाटक सर्वकालिक प्रासंगितक बना हुआ है। इसकी नाटकीयता के उत्कर्ष में गीतों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। कथा की गति को तीव्र करने में तथा मूल संवेदना को समझने में ये गीत सहयोगी बने हैं। सौत बुलाना, टके सेर मिलना, चाभना आदि जैसी लोक भाषा की विशेष अभिव्यक्तियों के कारण इसमें लोक जीवन के दर्शन होते हैं। पराधीन भारत की पीड़ा को व्यंग्य-विनोद के माध्यम से अभिव्यक्ति कर जागरण का, सुधार का, स्वंतत्रता के लिए उठ खड़े होने का संकेत देते हुए रची गई नाट्य रचनाओं में 'अंधेर नगरी' एक ऐसा नाटक है जो इक्कीसवी सदी के प्रथम दशक में भी पूरी रोचकता के साथ मंचित किया, देखा और पढ़ा जा रहा है। हर आयु, हर जाति के स्त्री-पुरुषों के बीच लोक प्रिय यह नाटक अपने नाट्य शिल्प में बेजोड़ है।

1.4 'अंधेर नगरी' में यर्थात बोध

व्यंग्यात्मक यथार्थवादी नाटकों में भारतेंदु जी के कथ्य का मूल उद्देश्य सामाजिक तथा धार्मिक विचारों एवं दृष्टिकोण को परिष्कृत करना तथआ इनके माध्यम से राष्ट्र की उन्नति में सहभागिता करना है। प्राय: कुछ नाटकों में गंभीरता का अभाव हो से वे कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं बन सके हैं। लेकिन इनकी प्रभावोत्पादकता एवं सोद्देश्यता में कमी नहीं दिखाई देती। युग की आवश्यकता को भारतेंदु जी खूब समझते थे एवं यह उनकी यथार्थवादी रचना दृष्टि एवं धर्म था कि वे युग और लेखक का एक दूसरे में परकाया प्रवेश हो जाने दें, अंतर्विलय हो जाने दें। जितना अधिक लेखक एवं युग एक दूसरेसे समन्वित होंगे नाटक उतना ही अधिक उपयोगी, प्रभावशाली एवं आकर्षक होगा। 'अंधेर नगरी' नाटक भारतेंदु हरिश्चंद्र की एक ऐसी ही कृति है जो तत्कालीन यथार्थ की सशक्त एवं प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। पराधीन भारत की अशिक्षित, विवेकहीन, शोषित जनता को झकझोर कर जगाने वाला यह एक अद्भुत ऐतिहासिक नाटक है। इसकी रचना

क्त्त्क में हुई। यह एक अद्भुत विशुद्ध प्रहसन है जिसमें राजा, मंत्री और गोबरधनदास की भूमिकाएं, उनका चरित्र और कृत्य हास्य की सृष्टि करते हैं। यह एक अंक वाला छह दृश्यों का प्रहसन है। यह शास्त्रीयता की दृष्टि से शिथिल है तथा अभिनय कला में भारतेंदु की नव प्रयोगवादी दृष्टि दिखाई देती है। इस नाटक में नाट्यधर्मी परंपरा में प्राचीन एवं नहीं का मिश्रण है।

'अंधेर नगरी' एक यथार्थवादी नाटक है। भारतेंदु युग में भारतीय जनता दोहरी शासन व्यवस्था के बीच घुन की तरह पिस रही थी। एक ओर भारतीय राजाओं की स्वार्थवश अंग्रेजों की चापलूसी करने की नीति और जनता का शोषण तथा दूसरी ओर अंग्रेजी शासकों की प्रताड़ना, अत्याचार, शोषण और दमन। प्राचीन भारतीय मूल्य खंडित हो रहे थे। अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी संस्कृति के प्रचार-प्रसार के कारण उपभोक्ता संस्कृति, स्वार्थ, कुटिलता और दोगलापन तीव्र गति से विकसित हो रहे थे। देशी राजा अंग्रेजी को प्रसन्न करने के लिए चाटुकारिता कर रहे थे और उनके कर्मचारी उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनके हर मूर्खतापूर्ण और अमानवीय कृत्य में उनका साथ दे रहे थे, उनकी हां में हां मिला रहे थे। साहित्यकार इन परिस्थितियों में जनका को सीधे-सीधे कोई सीख या उपदेश नहीं दे सकते थे। अत: भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे महान रचनाकार ने व्यंग्य नाटकों को शस्त्र की तरह प्रयोग करना उचित समझा। वे जानते थे। कि व्यंग्य की मार गरही होती है तथा इसका उत्तर देना कठिन होता है। अत: इसकी शक्ति अत्यंत प्रबल होती है। कुशल व्यंग्यकार की व्यंग्य विरोधी को परास्त करने का प्रबल अस्त्र होता है। भारतेंदु जी ने इसकी शक्ति को समझा एवं रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से ग्रस्त अशिक्षित, शोषित, पीड़ित, हतोत्साहित जनता को नव जागरण का प्रकाश देने हेतु इसका उपयोग किया। रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से उन्होंने टक्कर ली उन्हें मखौल बनाकर हास्यापद स्वरूप प्रदान किया। विरोधियों पर व्यंग्यबाणों की वर्षा की। उन्होंने तत्कालीन यथार्थ को साहित्य का विषय बनाया। नाटक इस उद्देश्यपूर्ति के लिए एक सशक्त विधा बना।

तत्कालीन भारत में जब महारनी विक्टोरियाँ इंग्लैंड में रहती थी और उनके प्रतिनिधि अंग्रेज अधिकारी भारतीयों पर शासन करने के लिए मनमाने कानून लागू करते थे, भारत की जनता त्राहि-त्राहि कर उठी थी। अंग्रेज अधिकारी भले राजाओं को गद्दी से हटा कर किसी मूर्ख और चापलूस व्यक्ति को उत्तराधिकारी के रूप में बिठाते थे, ताकि वह राज्य के संसाधनों का उपयोग जनका के लिए न करें बल्कि अंग्रेजों के हित में करें। सामान्य जनता भय और आतंक के साए में जीती थी जबकि धूर्तों और चालाकों को सुख ही सुख था। क्त्भ्त्र की असफल क्रांति ने जनका के आत्मविश्वास को तोड़ दिया था। भारतेंदु हरिश्चंद्र अपने युग के इस कटु यथार्थ को दर्शते हुए जनका को इस यथार्थ को बदलने के लिए, संघर्ष करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे। उनमें आशा का संचार करना चाहिते थे ताकि जनता पुन: अपने आत्मबल को पहचाने अपने

आत्मविश्वास को जाग्रत करें और अपने अधिकारों के लिए लड़े। 'अंधेर नगरी' की रचना के पीछे यही मुख्य प्रेरणा थी, उद्देश्य था।

हिन्दी प्रहसन पर किये गए शोध कार्यों, समीक्षा ग्रंथों में से अधिकांश ग्रंथों में 'हरबोंग राजा', 'अनबूझ राजा' और 'धमधूसर राजा' से संबंधित लोकोक्ति का चित्रण किया गया है। पूर्वी उत्तर और बिहार में 'अनबूझ राजा' तथा 'धमधूसर राजा' दोनों का प्रयोग किया जाता है। 'हरबोग' को 'हरभूम' का राजा बताते हुए कहते हैं कि वह अविवेकी था और चाटुकारों से घिरा रहता था। इसलिए उसके राज्य में अव्यवस्था और अन्याय का साम्राज्य था। किसी मामले में हरबोंग ने गोरखनाथ को फांसी की सजा सुना दी तब उसके गुरु मच्छंदर नाथ ने निर्दोष गोरखनाथ को बचाने के लिए स्वर्ग का प्रलोभन देकर हरबोंग को ही फांसी पर चढ़वा दिया। इसी लोक कथा के मूल भाव को तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक यथार्थ के संबंध में आधार बनाकर भारतेंदु जी ने 'अंधेर नगरी' नाटक की रचना की। उन्होंने 'चौपट' पद का प्रयोग कर नष्ट हो रही सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ का परिचय दिया है। 'राज्य' और 'राजा' दोनों ही विनाश को प्राप्त हो रहे ते। राजा का विवेक नष्ट हो चुका था अत: उसका प्रभाव राजकीय न्याय, अनुशासन और आर्थिक व्यवस्था पर पड़ रहा थड्ढा। अत: 'अंधेर नगरी चौपट राजा' लोकोक्ति अत्यंत सार्थक और सफल है।

भारतेंदु जी ने लोकोक्ति को आधार अवश्य बनाया किंतु स्वयुगीन यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए इसे बिल्कुल नया स्वरूप प्रदान किया ताकि भारतीय जनता इस नाटक के व्यंग्यार्थ को और गूढ़ार्थ को बेहतर ढंग से समझकर अंग्रेजी राज्य के प्रति असंतोष से भरा जाए और स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता के पथ पर चल पड़े। युग सापेक्षता की चुनौती को स्वीकार करते हुए जनता को यथार्थ से परिचित कराने के लिए उन्होंने नाटक के दृश्य, पात्र, संवाद और भाषा का प्रयोग अत्यंत मौलिक रूप से किया। जो आसानी से समझ में आ जाएँ। उन्होंने कहीं भी क्रोध, उग्रता, क्रांति, कठोरता से प्रतिरोध लेने जैसे भाव या दृश्यों को नहीं अपनाया। कटु यथार्थ को हास्य और गूढ़ व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यंजित किया जिसे जनता से अत्यंत शांत भाव से हँसते और लोट-पोट होते हुए समझा और सीखा। कहीं कोई उत्तेजना को स्थान नहीं दिया जिससे अंग्रेजी सरकार के साथ रिश्तों में कड़वाहट दिखाई देने लगे और वे इस नाटक के प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगा दे। इस युक्ति ने सफलतापूर्वक अपना काम किया। जनसाधारण को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सचेत बनाना उनका रचना धर्म था। 'अंधेर नगरी' में इस धर्म का उन्होंने सशक्त रूप से निर्वाह किया।

नाटक का आरंभ महंत और उनके दो चेलों के साथ होता है। (महंत) गुरु, शिष्य(चेले) एवं राजा को तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति जानने के लिए चयनित करना अत्यंत उत्तम पात्र चयन है क्योंकि राजा के व्यक्तित्व और कृतित्व, कर्तव्य के आधार पर उस राज्य की व्यवस्था और अनुशासन को जाना जा सकता है। महंत और चेले चूंकि घुमंतू प्राणी होते हैं अत: समाज के प्रत्येक रंग-रूप से परिचित होते हैं तथा गुरु की भूमिका के आधार पर तत्कालीन नैतिकता,

धार्मिकता, भ्रष्टाचारआदि पर प्रकाश डाला जा सकता है। 'अंधेर नगरी' नाटक के प्रथम दृश्य में जब गूरु भिक्षा मांगकर लाने के लिए कहते हैं तब गोबरधनदास का यह कहना कि – ''यहां के लोग तो बड़े मालवर दिखाई पड़ते हैं।'' से पता चलता है कि बाजार में बैठा हुआ तथा शासन व्यवस्था से जुड़ा हुआ वर्ग समृद्ध था जबकि एक बड़ा वर्ग जो आम जनता के रूप में है और अंग्रेजों और मूर्ख, अविवेकी राजा के कारण त्रस्त, शोषित और पीड़ित था। दुखी और पीड़ित समाज में भी नैतिकता और धार्मिकता पल्लवित थी। इस तथ्य को हम महंत के इस वाक्य और दोहे से जान सकते हैं– ''बच्चा बहुत लोभ मत करना।'' महंत के द्वारा कहे गए इस दोहे से समाज को भी शिक्षा प्राप्त होती है –

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहीं कीजिए, यामै नरक निदान॥

यहां महंत जी गोबरधनदास के साथ –साथ नाटक देखने, पढ़ने वाले सहृदयों के लिए भी मार्ग निर्देशक का कार्य करते हैं। भारतेंदु जी ने अंतिम दृश्य में महंत जी को संकटमोचक के रूप में प्रस्तुत किया। इन दोनों रूपों– मार्ग निर्देशक एवं संकट मोचक से गुरु की महिमा को प्रतिष्ठित कर भारतेंदु जी ने भारतीय धर्म और दर्शन से प्राप्त ज्ञान और परंपरा का भली भांति निर्वाह किया है। महंत जी एक आदर्शवादी गुरु के रूप में दृष्टिगोचर होते हें। गुरु की महिमा का चित्रण भारतीय हिंदी साहित्य की रचनात्मकता का महत्वपूर्ण बिंदु है, लक्ष्य है। भारतीय जीवन मूल्यों की उदात्तता एवं गौरव के प्रतीक के रूप में वे (महंत जी) भारतीय संस्कृति एवं स□यता के प्रतीक है। महंत के दो शिष्यों का नाम गोरबधनदास एवं नारायणदास भी सुचिंतित विचारधारा के अंतर्गत रखा गया है। 'नारायणदास' अपने नाम के अनुरूप साधु पुरुष है एवं गुरु की प्राचीन परंपरा एवं संस्कृति का ही अनुसरण करता है। वह भोगी एवं कामी नहीं है। इसलिए महंत जी उसके नाम को सार्थकता प्रदान करते हुए उसे भिक्षा मांगने के लिए 'पूर्व' की ओर भेजते हैं। 'पूर्व' भारत और उसकी संस्कृति को इंगित करता है। भारतीय जीवन मूल्यों के प्रति आस्था प्रदर्शित करने के लिए वे भिक्षा की याचना करने नायारणदास को पूर्व में भेजते हैं। 'नारायणदास' इस नाटक में केवल महंत के ऐसे अनुयायी के रूप में दर्शाया गया है जो पश्चिमी संस्कृति के प्रति आकृष्ट नहीं होता, जिसका चिंतन सुदृढ़ है। इस पात्र को संवाद का अवसर नहीं मिला। इसके एवं गोरबधनदास के बीच संवाद होने से नाटक की सार्थकता द्विगुणित हो सकती थी।

गोरबधनदास अपने नाम के अनुरूप विवेकांध एवं खंडित होती भारतीय मानसिकता का प्रतीक है। वह पश्चिम की ओर भिक्षा मागने जा रहा है जहाँ मालदार लोग रहते हैं। जहाँ नारायणदास 'सुंदर भिक्षा' के बात करता वहीं गोबरधनदास 'बहुत भिक्षा' की बात करता है। नारायण दास 'सुंदर' से 'आनंद' की बात कराता है। जबकि गोबरधनदास 'बहुत' पाकर चिंता से मुक्ति का विचार कर उल्लसित होता है यह पूर्व एवं पश्चिम की मानसिकता का अंतर है। भारतेंदु युग में उपभोक्तावादी संस्कृति तीव्रता से बढ़ रही थी जो रोजी–रोटी की समस्याओं को मुख्य मान कर केवल बाजारवाद पर केंद्रित होती है। इस संस्कृति के पोषक वर्तमान पर विश्वसा करते हैं। गोबरधनदास अभिजात्य वर्ग का न होने पर भी पाश्चात्य संस्कृति की ओर आकृष्ट होता है। भारतीय समाज की आवश्यकताएँ एवं समस्ताएँ अलग है जिनका समाधान पाश्चात्य संस्कृति नहीं

कर सकती। अत: भारतेंदु जी ने इस खतरे को भांप कर ही गोबरधनदास जैसे चरित्र की सृष्टि की जो सामान्य व्यक्ति होकर रहने की बजाय पश्चिमी चकाचौंध की ओर आकर्षित होता है और अंतत: मुसीबत में पड़कर जान गंवाने की कगार पर पहुंच जाता है। हास्य और व्यंग्य को गूढ़ गहन संकेतों एवं प्रतीकों के माध्यम से भारतेंदु जी यही शिक्षा देना चाहते थे कि पाश्चात्य सभ्यता एवं उपभोगवादी संस्कृति का बढ़वा प्रभाव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के लिए घाटक है। यह भारतीयों की जातिगत अस्मिता एवं परंपरागत पहचान को खंडित कर देगा। पश्चिमी संस्कृति इंद्रियों के पोषण पर ही केंद्रित रहती है। इसी प्रवृत्ति का भारतीय प्रतिनिधि गोबरधनदास है जो अपनी इंद्रियों के संतुष्टिकरण (वर्धन) के लिए उनका 'दास' बना हुआ है। दोनों चेलों के द्वारा लोभ और त्याग की पश्चिमी एवं पूर्वी संस्कृति के द्वंद्व को भारतेंदु जी ने सफलापूर्वक स्पष्ट किया है।

भारतेंदु युगीन भारतीय समाज का यथार्थ बाजार में बैठे मुगल, पाचकवाला, जातवाला, कुंजड़ित जैसे लोगों के वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है। लोग भोड़े से रुपयों में अपनी जाति बेच देते थे अर्थात् धर्म परिवर्तन कर ईसाई बन जाते थे। मुसलमान बन जाते थे। पाप को पुण्य मान लेते थे। रुपयों और पद के लालच में पहले मुगलों की, फिर अंग्रेजों की चापलूसी करने लगे। भारतीय समाज में आपसी बैर भाव के कारणों को संकेतार्थ से स्पष्ट करते हुए कुंजड़िने व्यंग्य करती है - ''ले हिंदुस्तान का मेवा फूट और बैर।'' मुगल कहता है कि हमारे मुल्क ने अंग्रेजों के दांत खट्टे कर दिए, ऐसा बहादुर लोग है। जबकि हिंदुस्तान का आदमी 'लक-लक' है यानी सुदृढ़ नहीं है, लचीला है। जहां लाभ देखता है वहां नीच प्रवृति के लोगों को भी अपना पितामह बना लेता है। 'गोबरधनदास' जैसे लोग धर्म के नाम 'मिठाई चाभ रहे' थे उन्हें 'देश के बुरे होने' से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था।

अपना स्वार्थ और तृप्ति ही मुख्य उद्देश्य थे, समाज की मिटती, खंडित होती परंपराओं की रक्षा करने का अपना उऍारादायित्व उन्हें स्मरण नहीं था। धार्मिक अवमूल्यनक को सामने लाना भारतेंदु जी ने आवश्यक समझा। विलासी, स्वार्थी और अविवेकी राजा के चारों ओर अव्यवस्था है। वह सोचता-समझता नहीं सुनकर तुरंत निर्णय करता है जो अन्याय और अमानवीयता से परिपूर्ण होता है। निरपराध व्यक्तिको दंड भोगना पड़ता है। मंत्री से लेकर कोतवाल तक राजा को बेवकूफ बनाते हैं तथा उसकी हां में हां मिलाते हैं। राजसभा में हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण असंगत वार्तालाप, राजाकी भीरू प्रवृत्ति और अविवेकपूर्ण न्याय-व्यवस्था में तत्कालीन यथार्थ के दर्शन होते हैं। महारानी विक्टोरिया का इंग्लैंड में बैठकर भारत पर राज्य करना, सुनी हुई बातों पर निर्णय देना तथा अनेक चापलूस हिंदी राजाओं की प्रवृत्ति से जो अंधकार फैला हुआ था, उसे भारतेंदु जी ने व्यंग्योक्तियों के माध्यम से स्पष्ट किया है। राजा बुद्धि एवं चरित्र दोनों दृष्टियों से चौपट है तो अव्यवस्था फैलेगी ही तथा ऐसे राजाओं के रहते विदेशी आक्रांता यदि पूरे देश को लूट ले जाएं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न होगी।

'अंधेर नगरी' में 'पांचकवाला' कहता है - 'चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिंद हजम कर जाता।' तब वह अंग्रेजी की लूटपाट की प्रवृत्ति और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति पर से आवरण हटाया है। यहाँ भारतीय चूरन की गुणकारिता पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके माध्यम से भारतेंदुजी यह कहना चाहते हैं कि तत्कालीन भारतीय समाज पश्चिमी संस्कृति एवं वस्तुओं के प्रति इतना आकर्षित हो गया था कि अपनी भारतीय संपदा को तुच्छ एवं उपेक्षित दृष्टि से देखने लगा था। वह यह भी नहीं देख पा रहा था कि अंग्रेज-भारतीय संपदा को लूटकर अपना खजाना भर रहे हैं और उसे झूठे माया लोक में उलझा कर कंगाल बना रहे हैं।

'अंधेर नगरी' में पाचकवाला, कुंजड़िने जैसे पात्र भी राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत है एवं जागरण के लिए प्रेरक के रूप में दिखाई देते हैं। भारतीयों को शिक्षित करना, उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान कराना, भोगवादी संस्कृति की पश्चिमी चकाचौंध से उन्हें दूर करना आवश्यक था। अत: भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी रचनात्मकता को भारतीय सुरक्षा एवं स्वतंत्रता के चिंतन से जोड़ा। भारतेंदु ने नव चेतना और नव-जागरण के स्वर को गरिमामयी एवं उदात्त बनाने के लिए प्रहसन की रचनात्मक सीमाओं को विस्तार दिया, भाषा, भाव, पहनावा, दृश्य, स्थान, प्रवृत्तियों को एकजुटता के रंग में रंगकर थोड़े से समय और स्थान में बड़ी और सारी बातें कहने का प्रयत्न किया। इसलिए 'राजसभा' और 'बाजार' के दृश्यों की रचना की। इन दृश्यों से तत्कालीन समाज, राजनीति, अर्थनीति, न्याय, व्यवस्था, धार्मिकता और संस्कृति के यथार्थ के दर्शन हो जाते हैं एवं नाटक का कथ्य भी स्पष्ट हो जाता है। महंत का तीसरे अंक में कहा गया दोहा 'अंधेर नगरी' और अंग्रेजी की अंधेरगर्दी से बचने ही सलाह देता है -

''सेत खेत सब एक से, जहां कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेस में, कबहुं न कीजै बास।''

तत्कालीन यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए भारतेंदु जी ने युग और समय की सीमा का अतिक्रमण करने वाले पात्रों का चयन किया जिससे कथा की सफलता और सार्थकता सिद्ध हुई।

1.5 'अंधेर नगरी' की भाषा एवं लोक तत्व

'अंधेर नगरी' की रचना हिंदी नाट्याकाश में एक चमत्कार की तरह हुई। ऐसा अद्‌भुत नाटक लिखा नहीं जा सकता बस कभी कभार ईश्वरीय विधान के निर्देश से हो जाया करता है। यह एक ऐसी कृति है जो किसी भी युग से बंधती नहीं, कई-कई युगों को जोड़ती हुई आने वाले समय में अपना स्थान सुरक्षित करती चलती है। इस भानुमती के पिटारे में हर आयु, वर्ग, लिंग, जाति, धर्म और संप्रदाय को देने के लिए कुछ न कुछ है। कोई हंसते-हंसते दुहरा होकर जाता है तो कोई व्यंग्य के पैने धारदार बाणों में छलनी होकर। कोई विशुद्ध मनोरंजन पाकर धन्य हो जाता है तो

कोई अंग्रेजी राज्य के भयावह अराजक शासन तंत्र को अपनी आंखों के सामने अनावृत्त होता हुआ देखता है। 'अंधेर नगरी' भारत ही नहीं विश्व की किसी भी समाज व्यवस्था द्वारा नियंत्रित विवकभ्रष्ट काठ में तब्दील होते चेतना शून्य मनुष्य की करुणगाथा है, जिसकी सोच को लकवा मार गया है। गुलामी जिसके पूरे वजूद को खोखला बना चुकी है, ऐसे चाटुकार, लोभी, मौकापरस्त समाज में न्याय, अन्याय की विभाजक रेखा अपना अर्थ खो चुकी है, कपूर और कपास में फर्क मिट गया है और मनुष्य का जीवन व्यर्थ हो चुका है। यह नाटक इसी मायने में काल एवं स्थान की सीमाओं का अतिक्रमण कर एक सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक क्लासिक है।

भारतेंदु ने स्वयं इस नाटक को प्रहसन स्वीकार किया है। किंतु न तो अंधेर नगरी शुद्ध प्रहसन की सीमाओं को स्वीकार करता है और न ही आधुनिक व्यंग्य नाटक मात्र है। लोक जीवन की अनगढ़ ऊर्जा को ग्रहण करता हुआ यह नाटक इस मायने में अवश्य एक लोक नाटक है कि इसके पात्र एक आयामी या द्विआयामी है। नाटक एवं अभिनय दोनों मुखर है। लोक संगीत इस नाटक की अंतर्लय का निर्माण करता है और इसकी भाषा जन-भाषा की ठेठ देशी लय को पकड़कर हिंदुस्तान में लाखों-करोड़ों लोगों की आवाज को बुलंद करती है। अंधेर नगरी में बनारस का कोई एक कोना नहीं गूंजरता, इसके भीतर पूरे हिन्दुस्तान के जनमानस की आवाज है। लोकनाट्य शैली की लचीलापन विख्यात है, यही लचीलापन इस नाटक को पराधीन भारत का सशक्त, जीवंत हस्ताक्षर बनाता है। रचना सदैव ही संस्थानिकता और बंधे-बंधाये ढर्रे के खिलाफ होती है। अत: इस पर प्रहसन का लेबल चिपकाना इसकी अनेकार्थी संभावनाओं को सीमित करना ही होगा। हालांकि यह सच है कि भारतेंदु पर नाटक की शास्त्रीय परंपराओं के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता।

'अंधेर नगरी' नाटक में जैसे उस युग का पूरा भारत जीवंत हो उठा है। नाटक की शुरुआत राम भजे गीत से होती है जो कहीं नहीं अनास्था के क्षणों में भारतेंदु की गहरी वैष्णव भक्ति में आस्था से जुड़ा है। जीवन हो या साहित्य, गहन अंधकार के क्षणों में हम ईश्वर की ओर ही उन्मुख होते हैं। अमानिशा के बाद केवल एक जलती मशाल जरूरी है। अन्यथा साहित्य हमें सिर्फ हताशा और कुंठित करेगा और श्रेष्ठ साहित्य हमें गहरी निराशा में भी संबल प्रदान करता है। पहले दृश्य में ही भारतेंदु ने मनुष्य की आदिम वृत्ति, लोभ पर वार करते हुए उस पाप का मूल बताया है। लोभ मनुष्य की ऐसी वृत्ति है जो उसे पशु-जगत से नैसर्गिक रूप से प्राप्त हुई है। अगला दृश्य क्योंकि बाजार का है, और समूचा बाजार मनुष्य की इसी मनोवृत्ति के दोहन पर टिका है अत: आने वाले दृस्य संकेत भी नाटककार ने दिए है। 'अंधेर नगरी' का बाजार वस्तुत: अंग्रेजी राज का भारतवर्ष है। बाजार की प्रकृति असमतामूलक है। याद कीजिए 'ईदगाह' का बाजार। बाजार में

पहुंचते ही हामिद अपने दोस्तों की बिरादरी से छिटक जाता है। मोहसिन, नूरे और सिम्मी इत्यादि पैसे वाले एक तरफ और हामिद दमड़ी के अभाव में एक ही चमड़ी होने पर भी दूसरी तरफ। ईदगाह का बाजार एक प्राकृतिक बाजार है, यथार्थ पर आधरित। लेकिन 'अंधेर नगरी' का बाजार किसी स्वप्न के सदृश्य झूठा और इसीलिए इंद्रजाल-सदृश्य आकर्षक और भयावह। 'लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर' सबकुछ टके सेर - सेब, इमरती, लड्डू- सब टके सेर- आश्चर्य कि इतना झूठ फरेब और धोखा फिर भी गोवर्धनदास नहीं चेता- फंस गया। याद कीजिए शिकारी आएगा, जाल बिछाएगा, भूल से उसमें फंसना मत और फिर भी शिकारी आया जाल बिछाया और फंस गया बेचारा भोला निरीह, मासूम गोवर्धनदास। यह कैसा भयावह, अराजक, अप्राकृतिक बाजार है जहां हीरे और कंकड़ में कोई भेद नहीं। अत: यह तय है कि प्रकृति के खिलाफ या अस्वाभाविक समाज व्यवस्था विवेकहीन, पथभ्रष्ट समाज में ही पनप सकती है। 'अंधेर नगरी' का यह बाजार आभासी यथार्थ (Virtual reality) का सृजन कर भ्रम जाल बुनता है और यह तभी संभव बै जब समाज व्यवस्था विवेकहीन हो और मनुष्य के तोता बनने की प्रक्रिया की शुरूआत हो चुकी हो। चेतनाशून्य जड़ मनुष्य ही ऐसे बाजार को स्वीकार कर पाएगा। गुलामी जब मनुष्य की चेतना का अपहरण कर उसे औपनिवेशिक तंत्र के यंत्र में बदल देती है तभी वह अस्वाभाविक स्थितियों को सहज भाव से स्वीकार कर पाता है। जहां मनुष्य सहज भाव से स्वीकार कर पाता है। जहां मनुष्य सहज भाव से कानून हजम कर जाता है, फूट और बैर का भी ग्राहक बन जाता है। वह धर्म, मर्यादा सब कुछ लुटा पाता है और सारे हिंद को हजम करने वाले शोषक तंत्र को सहज भाव से स्वीकार करता है। मानों उसकी प्रतिरोधकी क्षमता एवं शक्ति दोनों चुक गई हो। ऐसे मिट्टी के माधो काठ के मनुष्य पर भारतेंदु ने निशाना साधा है।

भाषा की दृष्टि से भी यह अंक अपने आप में ध्वनि-कौशल, स्वर के आरोह-अवरोह, क्रिया व्यापार, शब्द चमत्कार, गति और समूहन, गति और निश्चलता, वर्ण मैत्री आदि की अद्‌भुत सामर्थ्य से युक्त है। इस दृश्य में व्यवसाय से जुड़े मनुष्य की भाषिक चेतना, शब्दों की जादूगरी, लोभ को उकसाने वाली बाजार की भाषा का मोह-जाल, क्रिया व्यापारों का चतुराई से भाषिक इस्तेमाल, पद-गति एवं यतियों का प्रयोग, शब्दों की अंतर्लय द्वारा विकसित होती बाजार की अंतर्लय, समन्वय एवं अलग-अलग प्रांतों की भाषा के प्रयोग द्वारा दृश्य को चलचित्र की भांति गति देकर भारतेंदु ने रंगमंच की एक ऐसी चपल, गतिशील, मनोरम भाषा का निर्माण किया है जो अभिनय-कौशल को उभारने में मदद करती है। ऐसा अस्वाभाविक बाजार आज की उस बाजारवादी संस्कृति से भी कहीं घातक और भयावह है जो मनुष्य को वस्तु में तब्दील कर उपयोग के बाद थर्मोकोल के कप-प्लेट की तरह फेंक देता है। इस समाज में न्याय व्यवस्था नष्ट हो चुकी है, धर्म-अधर्म की विभाजक रेखा समाप्त हो चुकी है, मनुष्य के सोचने समझने की शक्ति जवाब दे

चुकी है और मनुष्य की आत्मा मर चुकी है। ऐसी बंदी जगत की जड़-समाज स्थिति में यदि 'नाटक' विधा ने प्रतिरोध के साथ ही जन्म लिया तो आश्चर्य क्या?

गुरु की महती जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए अपने चेले को समझाता है कि हम चमकने वाली चीज सोना नहीं होती और जो प्राकृतिक नहीं है, उसे संदेह की दृष्टि से देख। गुरु सिर्फ कहता ही रहता है कि अनुभव का कोई विकल्प नहीं, उपदेश ही देता रह जाता है, पर वाह री मनुष्य की लोभवृत्ति। कच्ची उम्र का बालक गोवर्धनदास, बेचारा फंस ही जाता है।

राजसभा के दृश्य में पदानुक्रम श्रृंखला से उत्पन्न चाटुकारिता व स्तुति-गान की वह परंपरा अनावृत्त होती है जो किसी भी स्वतंत्र मनुष्य में संभव नहीं। गुलामी की जड़ें हमारे भीतर नंपुसकों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर रही है कि हमारी भाषा, हमारी चेतना, हमारे विचार यहां तक कि हमारे हाव-भाव, वेश-भूषा, पद गतियाँ सभी चाटुकारों और दतालों की मंडी में रूपांतरित हो गए हैं। इस दृश्य में तर्क और सोच पर ताला लगा कर नौकरी करने वाले अधिकारी है, जिनका कार्य है शक्तिसमीकरणों के आगे बिछ जाना और शक्तिहीनों पर बरसना, जोर आजमाइश करना।

यहीं वजह है कि मूर्खतापूर्ण, बेसिर पैर के प्रतीत होने वाले संवादों से यह दृश्य भरा पड़ा है। कभी दीवार को पकड़ कर लाया जा रहा है, कभी उसके आशना को, कभी मशक ..... बन जाती है तो कभी, खैर-सोपाड़ी चूननेवाले की हाजिरी राज्यसभा में होती है। सवाल उठता है कि भारतेंदु ने इन बेसिर पैर के किरदारों की रचना क्यों की जो असंगत और मूर्खतापूर्ण बयानों द्वारा राजा का वक्त खराब करते हैं? क्या केवल हास्य की सृष्टि के लिए, हंसी-ठिठोली, गूदगूदाने के लिए? इस दृश्य के द्वारा भारतेंदु जंग लगी, रेहन चढ़ी मनुष्य की चेतना को जगाना चाहते थे। शायद ऐसे कुतर्कों से, असंगत वाक्यों से हम समझ पाएं कि पतन और कहां तक हो सकता है। 'येस सर' की मानसिकता हमें मनुष्य से एक दर्जा नीचे धकेल रही है और पुनर्जागरण के दौर में यदि भारतेंदु तमाचा लगाकर, हमें जागृति का मंत्र दे रहे हों तो विस्मय कैसा? इस दृश्य में भाषा का भिजाज, उसकी बानगी बिल्कुल वैसी ही है जैसे किसी गुलाम की-ऐसे गुलाम को, जिसने स्वेच्छा से गुलामी स्वीकारी है। पदानुक्रम श्रृंखला हमें रोबोट बना देती है, सहमति की श्रृंखला का निर्माण करती है पर असहमति का साहस छीन लेती है। अभिनेयता एवं नाट्य कौशल की दृष्टि से यह दृश्य हाथ बांधे 'राम-राम सा' कहते पूरे औपनिवेशिक समाज पर हंसते-हंसते चुटकी लेता है। कब तक हम-

'राजा बोला रात है
यह सुबह-सुबह की बात है'

की मानसकिता को पहन करते रहेंगे- शायद इन असंबद्ध, अतार्किक, असंगत, मूर्खतापूर्ण वाक्यों की शृंखला हमें ज्यादा संयोजित, विचार करने वाले समाज में रूपांतरित कर पाए।

लोक तत्व के रूप में अंधेर नगरी का आरंभ भजन के साथ होता है। प्रहसन का दूसरा दृश्य पूर्णत: लोक दृश्य है। ग्रामीण बाजारों में उठने वाली ध्वनियां, शोर इस नाटक के प्रेक्षकों को सीधे ग्रामीण हाट से जोड़ देते हैं। ग्राम्य मानसकिता से जोड़ने वाली भाषा का प्रयोग भारतेंदु जी ने किया है। उनके पात्र अपनी भूमिका के अनुरूप भाषा बोलते हैं जिनमें चौपट्ट, निबुआ, बुंबक, मरजादा, निनुआं, मछरिया, कचाका, होरहा, छक पाएंगे, लुआय जैसे अनेक शब्द है जो केवल भोजपुरी के नहीं बल्कि राजस्थानी, पंजाबी, बंगाल और अन्य प्रांतों की लोक भाषा के हैं। अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए भारतेंदु भी इन आचंलिक शब्दों और शब्दावलियों का उपयोग किया है जैसे - गठरी भारी होना, सौत बुलाना, चाभना, उपास करना आदि। इन विशिष्ट प्रयोगों से लोक जीवन को दर्शानें में वे सफल हुए हैं। वे ग्रामीण भारतीय चेतना को जाग्रत करना चाहते थे इसलिए लोक भाषा एवं लोक तत्वों के प्रयोग से उन्होंने कथा को लोक से जोड़ा। महंत जब कहते हैं- 'इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जाएगा'। तो यह कथन लोक-विश्वास को प्रकट करता है। भारतेंदु मानव मन के साथ समाज की नब्ज को जानते थे। वे यह समझते थे कि स्वतंत्रता की लड़ाई, नव जागरण के बिना संभव नहीं है तथा केवल नगरीय समाज को सचेत एवं जाग्रत कर यह लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती इसके लिए ग्रामीण समाज का जाग्रत होना आवश्यक है। अत: ग्रामीण मन:स्तिति को समझना तथा उनके मनोमस्तिष्क तक पैठ बनाने के लिए उन्होंने 'अंधेर नगरी' में लोक भाषा का प्रयोग किया। बाजार का दृश्य एवं संवाद भी ग्रामीण जन से जुड़े प्रतीत होते हैं। यह नाटक अपनी सरसता, सहजता, प्रवाहमयता, प्रभावाकात्मता, रोचकता में अद्वितीय है। रोचकता में अद्वितीय है। भारतेंदु हरिश्चंद्र की भाषा शैली ने, इसमें निहित लोक तत्वों ने नाटक की उपयोगिता में वृद्धि की तथा भारतेंदु जिस नव जागरण के उद्देश्य को लेकर चले थे उसे पूरा किया। यह अंग्रेजों की मानसिकता से परिचय कराकर उनके विरुद्ध खड़ा होने की चेतना जाग्रत करने में सफल रहा है।

1.6 'अंधेरी नगरी'- प्रासंगिकता

भारतेंदु हरिश्चंद्र की समस्त नाट्य रचनाओं में संभवत: 'अंधेर नगरी' को सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। भारतेंदु युग में रचित समस्त नाटकों का तथा मंच पर अभिनीत किये गए नाटकों का समीक्षात्मक अध्ययन करें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि 'अंधर नगरी' ही सर्वाधिक लोकप्रिय, उद्देश्यपूर्ण एवं मनोरंजक नाटक था जिसकी प्रासंगिकता एवं लोकप्रियता ख्क्वीं सदी तक बनी हुई है। इस नाटक के शीर्षक एवं कथ्य के स्वरूप में हल्का-फुल्का फेरबदन कर अनेक

रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। लेकनि वे मूल 'अंधर नगरी' नाटक की ऊंचाई को नहीं पा सके। शिष्ट हास्य युक्तप्रहसन होने के कारण यह रचना विशिष्ट है।

हम जानते हैं कि आज का सभ्य समाज एक राजनैतिक चेतना संपन्न समाज है और हम राजतंत्र में नहीं, जनतंत्र में सांस से लेने वाले नागरिक है पर क्या 'अंधेर नगरी' समाप्त हो चुकी है? शासन का खौफनाक चेहरा बदल चुका है, हमारी भाषा सत्ता के आतंक से मुक्त हो चुकी है, हमारी चेतना पर किसी की भयावह छाया नहीं है, हम फंसने वाले गोवर्धनदास की तरह अकेले, निहत्थे और बेचारे नहीं है, हमारे बाजार लोभ को उकसाकर हमें ठगते नहीं है? नौकरी के चकेकेर ने क्या हमें राग दरबारी में प्रवीण नहीं किया गया है, क्या हम गुरु के उपदेश को तुरंत स्वीकार करना सीख गए है, अपने से कमजोर को फंसाने और जाल बिछा कर पकड़ने का शातिर काम हमने छोड़ दिया है, हर दूसरे को गलत ठहराना, खुद बचकर निकल भागना क्या हमने त्याग दिया है? क्या आज हम अंधेर नगरी के समाज से ज्यादा चतुर, चालक, धूर्त, मक्कार नहीं है? यदि किसी भी कारण से ऐसे स्थितियां अब भी मौजूद है तो 'अंधर नगरी' आज भी अपनी अनेक अर्थ संभावनाओं के साथ हमें चमत्कृत करती है और आने वाली पीढ़ी को भी करेगी। इसी रूप में यह नाटक जीते-जागते हिंदुस्तान का प्रतिनिधत्व करता है। बेकसूर गोवर्धनदास को अंततः गुरु ही बचाता है, आदर्श न्याय के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। गुरु भी अंततः चतुराई से ही शिष्य को छुड़ा पाता है जिससे लगता है कि भारतेंदु 'साध्य' की पूर्ति में ही विश्वास रखते थे फिर चाहे साधन जो भी हो।

'अंधर नगरी' की कथा प्रचलित लोक कथा है। बिहारी प्रांत के किसी जमींदार के अन्याय को लक्ष्य करके भारतेंदु जी ने इस कथा को नाटक का स्वरूप प्रदान किया। इस लोक प्रचलित कथानक को उन्होंने मनोरंजन के साथ अन्याय पीड़ित भारतीय समाज को जाग्रत और सचेत करने का साधन भी बनाया। लोक रुचि के अनुसार इसमें हास्य-प्रसंग तो है ही तथापि अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास और अकर्मण्यता के अंधकार में डूब भातीय समाज की व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य भी है। समसामयिक समाज के अनेक विकृत स्वरूपों को इस प्रहसन में अतिरंजना के साथ प्रस्तुत किया गया है। अतिरंजना को प्रहसन साहित्य का प्रधान गुण माना जाता है। भारतेंदु जी ने इस 'अंधर नगरी' नाटक के सभी पात्रों में विशेष रूप से राजा के चरित्र में अतिरंजना का पर्याप्त प्रयोग किया है। डॉ. भानुदेव शुक्ल कहते हैं कि - ''यह अतिरंजित चित्रण विनोद की सृष्टि अवश्य करते हैं किंतु यह विनोद बुद्धिवादी हास्य तथा कलात्मक विनोद की दृष्टि से मध्यम कोटि का ही ह।'' 'अंधाधुंध मच्यौ सब देशा। मानहुं राजा रहत विदेशा।' जैसी काव्योक्तियां अंग्रेजी शासन के भ्रष्ट, अविवेकी स्वरूप को लक्ष्य करके लिखी गई है। डॉ. भवदेव पांडेय 'अंधर नगरी' की

समीक्षा करते हुए लिखते हैं - 'अंधर नगरी' में भारतेंदु ने धर्म, समाज, राजनीति और न्याय-व्यवस्था का चित्रण विस्तृत फलक पर किया है। यही कारण है कि इसकी कथा और इसके दृष्य किसी निश्चित काल-खंड तक सीमित नहीं होते। इसमें पात्रों की कल्पना प्रवृत्तियों के आधार पर की गई है। कोई भी प्रमुख पात्र केवल एक 'व्यक्त' नहीं है बल्कि किसी -न किसी परंपरा अथवा सामाजिक विचारधारा का प्रतीक है। 'राजा' अव्यवस्ता, राज-कर्मचारी दायित्वहीनता और चाटुकारिता, गोबरधनदास उपभोक्तवा प्रवृत्ति और धार्मिक अवमूल्यन, महंत और नारायणदास अतीत जीवन-दर्शन, 'जातवाला' जाति-पांति के छद्म आचरण, 'मुगल' राष्ट्रवादी आस्था, घासीराम और पाचकवाला तद्युगीन इतिहास, हलवाई और बनिया भोगवादी आकर्षण के प्रतीक है। इसी प्रकार कुंजड़िनें, मछलीवाली जैसे पात्र मानवीय संवेदना को कुरेदने के माध्यम पात्र है। स्पष्ट है कि किसी भी समाज में प्रवृत्ति, विचारधारा, मानवीय संवेदना, मूल्यन-अवमूल्यन, चाटुकारिता, न्यायहीनता, राजनैतिक अव्यवस्था का उत्थान-पतन होता रहता है। आरोह-अवरोह का क्रम कभी नहीं टूटता। इसीलिए किसी कृति में प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के प्रतीक पात्र तब तक प्रासंगिक बने रहते हैं जब तक समाज का अस्तित्व है। 'अंधर नगरी' की प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

नाटक के मुख्य पात्र महंत, गोबरधनदास एवं नारायाणदास के चरित्रों पर दृष्टि डाले तो पता चलता है कि ये पात्र आज इक्कीसवीं सदी में भी जीवंत है, अतीत नहीं बने हैं। वर्तमान में धार्मिक आडंबर और धर्म को व्यवसाय बनाने वालों में गोबरधनदास जैसे पात्रों की संख्या बढ़ती जा रही है जो धर्म के नाम पर आराम से 'मिठाई चाभ' रहे हैं उन्हें आत्मपोषण के अतिरिक्त अन्य किसी संस्कार, परिष्कार से कुछ लेना देना नहीं है। इनके लिए धर्म उपभोग का साधन है तथा यही इनकी व्यक्तिगत उपलब्धि है जिसे साधन की तरह उपयोग करके ये जनता को ठग सकते हैं। ऐसे मठाधीशों एवं धर्माचायों को जो धर्म के नाम पर जनता से सुख-सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, सरकार को भी ठगते हैं, मूर्ख बनाते हैं और धर्म को निष्प्राण करने में लगे रहते हैं, सजा मिलनी चाहिए जैसे गोबरधनदास के लोभ ने उसे फांसी के फंदे तक पहुंचा दिया था। लेकिन ऐसा कम ही होता है। भारतीय धर्मांध है, धर्म भीरू है। अत: ऐसे गरीब लोग भी, जिनके पास खाने, पहनने, रहने के लिए पर्याप्त भोजन, कपड़े और आवास की सुविधा नहीं है, वे भी इन धार्मिकता का मुखौटा पहने ढोंगियों के चक्कर में पड़कर अपनी रही-सही पूंजी गंवा बैठते हैं। गरीबों के पास मकान नहीं हो तो सरकार का ध्यान नहीं जाता लेकिन धर्म के नाम पर बड़े-बड़े भूखंड धर्मगुरूओं के नाम आवंटित कर दिए जाते हैं। धर्मगुरुओं को राजनीति से लगाव हो गया है। वे किसी-न-किसी पार्टी के प्रचारक के रूप में सामने आते हैं। धर्म के नाम पर दंगे, मार-काट होना

आम बात हो गई है। देश में फैली अव्यवस्था, भ्रष्टाचार और कुशासन का लाभ उठाकर धर्म को भोग का साधन और उपभोक्ता संस्कृति का अंग बनाने में धर्म के ठेकेदारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गोबरधन दास जैसे लोगों को अपना पेट भरने से मतलब है उन्हें धार्मिक मूल्यों के पतन और उससे भारतीय संस्कृति को लगने वाले आघातों से कोई लेना देना नहीं है।

नाटक के पांचवें दृश्य में गोबरधनदास आनंद से मिठाई खाते हुए कहता है- ''गुरुजी ने हमको नाहक यहां रहने को मना किया था। माना कि देश बहुत बुरा है, पर अपना क्या? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, मिठाई चाभना, मजे में आनंद से रामभजन करना।'' यहां गोबरधनदास एक लालची, स्वार्थी एवं दायित्वहीनता से परिपूर्ण पात्र दिखाई देता है। यही दायित्वहीनता आज की पीढ़ी की अधिकांश आम जनता में भी है तथा धर्मगुरुओं और उनके शिष्यों में भी। यह सामाजिक अवस्था और धार्मिक स्थिति खतरनाक है- यह भारतेंदु जानते थे। इस पर रोक लगाना और इसका निवारण करना चाहते थे, इसीलिए इस सफल नाटक की उन्होंने रचना की। उनका एक पात्र 'महंत' जैसे तब गोबरधनदास को नहीं समझा पाया था, रोक पाया था वैसे ही अब भी अल्प संख्या में महंत हो जो विवश है और मूक दर्शक है। पश्चिमी संस्कृति के आकर्षण में बंधे गोबरधनदासों की संख्या बढ़ती जा रही है। पश्चिम की भोगवादी, आत्मकेंद्रित संस्कृति से होने वाली हानि को रोकना, धार्मिक मूल्यों के पतन का समाधान भी भारतीय धर्म, दर्शन और अधात्य में ही छिपा है। भारतेंदु जी ने नाटक के अंत में यह समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। जब निरपराध गोबरधनदास को फांसी होने वाली है और वह गुरु जी का स्मरण करता है तो वे संकट दूर करने के लिए वहां पहुँच जाते हैं तथा एक धार्मिक चाल चलते हैं कि 'इस मुहूर्त में जो फांसी चढ़ेगा वह सीधा बैकुंठ जाएगा।' बैकुंठ जाने के लोभ में राजा स्वयं फांसी चढ़ने के लिए तैयार होता है। इस तरह एक निर्दोष की प्राण रक्षा हो जाती है तथा राज्य को चौपट करने वाले, अंधेर फैलाने वाले अविवेकी और मूर्ख राजा से राज्य को मुक्ति मिलती है। भारतेंदु महंत के झूठ से प्राप्त सुफल को जनता के सामने गूढ़ार्थ में प्रस्तुत करते हैं ताकि दर्शक और पाठक इस बात को समझ सकें कि मूर्ख शासक कितना बड़ा संकट उपस्थित कर सकता है और दुराचारियों से मुक्त होने के लिए झूठ का आश्रय भी लेना पड़े तो यह कोई पाप कर्म नहीं होगा।

अंग्रेजों और हिंदू राजाओं के चंगुल में फंसी पराधीन जनता के लिए भी है। भोग-विलास में डूबे, स्वार्थी, विवेकांध मूर्ख शासक जो आपने एयर कंडीशनर युक्त कमरों में बैठे रहकर, चापलूसों की बातों को सच मानकर फैसले सुनाते हैं, वे 'अंधर नगरी' के चौपट राजा से किसी मायने में कम नहीं है। ये शासक जनता की वास्तविक स्थिति से, उनके अभावों और आवश्यकताओं से परिचित नहीं होते, केवल भ्रष्ट अधिकारियों की बातों को ही सच मानकर चलते हैं, जिससे जनता त्रस्त रहती है। कर्मचारी और अधिकारी झूठी चापलूसी करके, कपटपूर्ण छद्म

आचरण द्वारा अपने कर्तव्यनिष्ठ होने का विश्वास राजा या वर्तमान संदर्भों में शासक, नेता, मंत्री को दिलाते रहते हैं और अपना स्वार्थ साधते हैं। ऐसी शासन व्यवस्था में भ्रष्टाचार, व्यभिचार, चोरी, हत्याएं, लूट-पाट बढ़ेगी ही, जिसका प्रभाव जन साधरण पर पड़ेगा। झूठे, सच्चे सबूतों के आधार पर होने वाला न्याय, न्याय व्यवस्था को भी कलंकित कर रहा है। चौपट राजा के न्याय पर हंसी और दुख साथ-साथ होता है क्योंकि वह विवेकांध होकर न्याय करता है लेकिन एक सदी व्यतीत हो जाने पर भी न्याय-व्यवस्था अब भी उतनी ही तकलीफ देते हैं। इस पर हंसा नहीं जा सकता। एक नब्बे वर्ष के वृद्ध को उसके तीस वर्ष पूर्व किये गए अपराध के लिए नब्बे वर्ष जेल में रहने की सजा सुनाई जाती है। यानी अदालत में निर्णय में ही तीस-तीस वर्ष लग जाते हैं। तब तक अनेक अपराधी जमानत पर छूटकर आराम से जीवन बिताते हुए मर जाते हैं या फांसी के हकदार आराम से जनता के रुपयों से रोटियां तोड़ते रहते हैं। यह अकर्मण्य शासन व्यवस्था और न्याय प्रणाली भी 'अंधर नगरी' की ही सृष्टि करती है। राजा अपने परिवर्तित पदनाम, रंग-रूप के साथ अब भी विराजमान है। राजा और उसके अधीनस्थ मंत्रीगण जब उन्माद और अज्ञान वश वक्तब्य देते हैं तो समस्त राज्य व्यवस्था में अराजकता फैल जाती है। इतिहास में जो हुआ है, वह अब भी हो रहा है।

भारतेंदु युग में अंग्रेजी की शासन, व्यवस्था, न्याय-प्रणाली और प्रतिदिन जारी होने के फरमान 'अंधर नगरी' का गूढ़ कथ्य बने थे। आज भी लोकतंत्र के होते हुए 'लोक' दे की आदर्शहीन शासन प्रणाली के सामने त्रस्त और विवश मूकदर्शक तथा भोक्ता बन जाता है। अंधेर मचा है यह लोकोक्ति प्रसिद्ध थी, अब भी प्रसिद्ध है। पश्चिमी शिक्षा ने नैतिक मूल्यों का क्षरण कर एक अजीब से काइयांपन और कुटिलता को जन्म दिया और विकसित किया है जिसके चलते सीधे, सच्चे निर्दोष ही सजा पाते हैं तथा अक्सर झूठे सबूत जुटाकर अपराधी छूट जाते हैं। अदालत में खड़े होकर झूठा बयान देना भी एक व्यवसाय हो गया है। उनके झूठ से मनुष्यता की हानि हुई, धर्म आहत हुआ इस बात से उन्हें कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि पश्चिमी संस्कारों ने, शिक्षा ने उनके भीतर से धर्म, मनुष्यता, नैतिकता, भावनाएं जैसे शब्दों को झाड़-पोंछकर बाहर कर दिया है। महंत और गोबरधनदास 'अंधर नगरी' में भारतेंदु युग में थे, अब भी है। जैसे तब महंत की सीख गोबरधनदास ने नहीं मानी, अब भी नहीं मानते। 'अंधर नगरी' के दृश्य अब भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। चौपट राजओं का दर्शन भी दुलर्भ नहीं है।

अंधेर नगरी के चौथे दृश्य में 'राजा सभा' का चित्रण है। इसमें असंगत संवादों की लंबी शृंखला है, असंबद्ध वार्तालाप, राजा की विवेकहीन, राज की विवेकहीन, हास्यास्पद भीरुत है, असहज बौखलाए कर्मचारी अधिकारी है। इस नाटक का यह दृश्य वर्तमान में भी प्रासंगिक है, कहा जा सकता है। अविवेक पूर्ण न्याय-प्रणाली और भीरु मानसिकता के अंतर्गत किये गए संवादों

ने विवादों, बौखलाहट, मार-पीट, उठा-पटक के दृश्य राज भवनों में उपस्थित किये हैं। उत्तरदायित्वहीनता और राज-धर्म के बोध से रहित होकर अपनी शांति, सुख और सुरक्षा को केंद्र में रखकर सुनाए जाने वाले निर्णयों से शासक के राजनैतिक और सामाजिक सरकारों की संबद्धता एवं पवित्रता का पता चलता है। 'अंधर नगरी' का चौथा अंक अत्यंत सरस बनकर नाटक की उद्देश्य पूर्ति करता है। यह जनता पर सकारात्मक प्रभाव डालता है। अब भी इसे पढ़ते या देखते हुए दर्शक और पाठक अपने समय की नब्ज पकड़ लेते हैं। शासकों और अधिकारियों के बीच मदिरा का चलन तब जितना था, अब उससे कहीं अधिक हैं। 'अंधर नगरी' का एक दृश्य दृष्टव्य है -

नौकर - (एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझलकर देता है)। लीजिए महाराज। पीजिए महाराज।

राजा - (मुंह बना-बना कर पीता है) 'और दे।'

राजनीति के गलियारों में यह 'और दे' बार-बार ध्वनित होता है।

एक नवीन संस्कृति का विकास हुआ है जिसमें सभ्यता और सदाचरण के साथ स्वागत करने का मानक मदिरा परोसना है। अंग्रेजों ने हिंदू राजाओं और जनता के एक बड़े वर्ग को अतिथि सत्कार का और आनंद का जो मदिरामय मार्ग दिखाया, वह अब भारतीय शासकों और समृद्ध वर्ग की जीवन शैली बन गई है। 'अंधर नगरी' के इस चौथे अंक में ही हर व्यक्ति अपनी चालाकी से 'अपराध' दूसरे पर थोप देता है। स्वयं की गर्दन बचाकर दूसरे निरपराध को फांसी दिलवा देता है। यह प्रवृत्ति वर्तमान भारत में चौगुनी तीव्रता से बढ़ी है। भारतेंदु काल में हिंदू राजा एवं अंग्रेजी शासक चापलूसों की बातों को सच मानकर निर्दोष को ही दंड दे दिया करते थे, कभी-कभी फरियादी ही सजा पा जाता था इसलिए लोग तब न्याय-व्यवस्था के पास जाकर अपनी व्यथा सुनाने से डरते थे। समय बदल गया, सदी बदल गयी किंतु न्याय-व्यवस्था के प्रति व्याप्त भय जनता के हृदय में अब भी ज्यों का त्यों है। अब भी निर्दोष व्यक्ति अमानवीय यातना सहते हैं। जैसे भारतेंदु काल में सहते थे। न्याय-व्यवस्था अब भी पद, रुपया और व्यक्ति के सामाजिक-राजनैतिक रूतवे से प्रभावित होती है। पश्चिमी शिक्षा एवं संस्कृति ने अपराध करने और बचने के सौ तरीके सिखा दिए है तथा कानूनी जटिलताओं के जलेबी की तरह घुमावदार होने के कारण न्याय उसमें फंसकर अक्सर दम तोड़ देता है। भारतेंदु जी ने 'अंधर नगरी' में इसी अमावीयता को दर्शाया है।

'अंधर नगरी' के 'बाजार' वाले दृश्य के जो गीत कुंजड़िने, जातवाला, पाचकवाला आदि गाते हैं वे आज भी प्रासंगिक है। पांचवे अंक का राग काफी में गोबरधनदास द्वारा गाया गया गीत वर्तमान भारत की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक स्थितियों को देखते हुए अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होता है। इसकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करना आवश्यक है -

सांच मारे-मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अंतर छल धारी। सोई राज सभा बल भारी॥
सांच कहैं ते पनहीं खावैं। झूठे बहु बिधि पदवी पावैं।।
छलियन के एका के आगे। लाख कहौ एकहु नहिं लागै॥

भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहि अमले अरु प्यादे।।
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहु राज रहत विदेसा॥

इस गीत की उपरोक्त अंतिम पंक्ति हमारे वर्तमान का यथार्थ है। भारतेंदु जी ने जिस यथार्थ को प्रकट किया था कि - सच्चे लोग मारे-मारे फिर रहे हैं और छल-कपट जानने वाले दुष्ट सिर पर चढ़कर बोल रहे हैं। बाहर से सभ्य दिखने वाले जो अंतर में ढेर सारा छल समेटे हैं उनके भारी बल से राजसभा सोई पड़ी है उसका विवेक सो गया है। झूठ कहने पर पद प्राप्त होता है, चापलूसी से पद प्राप्त होता है लेकिन सच्ची कड़वी बात कहने पर जूते खाने पड़ते हैं आदि-आदि। यह यथार्थ हमारे वर्तमान में प्रवृत्ति और धर्म बन गया है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में कलियुग का जो चित्रण किया है वह चित्रण हमें भारतेंदु जी के 'अंधर नगरी' में भी दिखाई देता है और वही सब कुछ वर्तमान भारतीय समाज में हम अपने आस-पास घटित होता हुआ देखते हैं। इस दृष्टि से रामचरितमानस और 'अंधर नगरी' की प्रासंगिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। तुलसीदास जी ने लिखा है - 'सबसे कठिन जाति अवमाना' लेकिन कलियुग में और 'अंधर नगरी' में जातवाला कथन यह यथार्थ प्रस्तुत करता है कि लोग जातिगत मान-अपमान से परे हो गए है और इसे भी वे वर्तमान में आधुनिक मानव धर्म का नाम देकर अपना स्वार्थ साधते हैं। सचमुच में टके में जात बेच देते हैं, अपनी इच्छापूर्ति के लिए। 'अंधर नगरी' प्रहसन अपनी उद्देश्य पूर्ति में सफल और सार्थक सिद्ध होता है। भारतेंदु युग में इसकी प्रासंगिकता जितनी थी सदी बीतने के साथ ही उसमें वृद्धि हुई है। इसके पात्र, संवाद, कथ्य और कथा वर्तमान में भी अपनी प्रासंगिकता बनाएं हुए है। इस दृष्टि से यह नाटक आज भी उतना ही प्रभावशाली उपयोगी और मनोरंजक है जितना उस भारतेंदु युग में था। इसके पात्र और कथा काल का अतिक्रमण करने वाले सिद्ध हुए है जो पाठकों और दर्शकों के हृदय पर अपनी मजबूत पकड़ अब भी बनाए हुए हैं।

गतिविधि

अपने मित्रों के साथ मिलकर 'अंधर नगरी' नाटक का मंचन कीजिए।

क्या आप जानते हैं ?

जब भारतेंदु ने कवि वचन-सुधा नामक पत्र का प्रकाश किया उस समय वे मात्र 18 साल के थे। इस पत्र में उस समय के शीर्षस्थ विद्वानों की रचनाएं प्रकाशित होती थीं।

1.7 सारांश

हिंदी नाटक का प्रारम्भ भारतेंदु युग से माना जाता है। भारतेंदु एवं उनके सहयोगियों ने गद्य के माध्यम से हिंदी साहित्य को सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आमतोर पर इस काल के नाटकों में समाज की आंतरिक विकृतियों तथा अन्यायों के विरुद्ध संघर्ष करने के उपरांत ही, भारतीय जन की निराशा को दूर कर, आदर्शों के लिए संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करने का उद्देश्यपूर्ण समाज चिन्तन साफ पहचान में आता है। लोक-नाट्य में यह समय सबसे अधिक समाज सुधार के स्वर लेकर चलता है। भारतेंदु युगीन नाटकों में व्यंग्य की प्रहार क्षमता विश्व-नाट्य साहित्य में किसी से कमजोर नहीं है। बाद में कलापूर्ण तथा साहित्यिक दृष्टि से उत्तम नाटकों में भी यह क्षमता कम नहीं हुई। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, ''वास्तव में ऐसा सजीव और चेतन युग हिंदी साहित्य में एक बार ही आया है। भारतेंदु का नाटटकार मित्र-समुदाय उनके निर्देश पर सामाजिक प्रश्नों को अपने नाटकों के माध्यम से उठाता है। भारतेंदु युगीन प्रहसन वस्तुगत एवं शिल्पगत दोनों दृष्टियों से नया है तथा यह पहल कहे गए दुहरे संघर्ष की उपज है। भारतेंदु युगीन व्यंग्य नाटकों में शिल्प कौशल की अपेक्षा कथ्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस वजह से इनमें नाट्य प्रहार-क्षमता विलक्षण है। पश्चिमी देशों में इब्सन, गार्ल्सवादी और बर्नार्ड शॉ के नाटकों में व्यंग्य का जो पैनापन दिखाई देता है भारतेंदु युगीन व्यंग्य नाटकों की धार उससे अधिक है।''

द्विवेदीयुग के पश्चात लगभग दो दशक भावात्मक आदर्शवाद के वर्ष है। जयशंकर प्रसाद के श्रेष्ठ नाटक द्विवेदी-युग के समाप्त होनेके बाद ही लिखे गए। प्रसाद मूलत: भावुक और अपेक्षाकृत अधिक एकान्तप्रिय व्यक्ति थे। उनके नाटकों में सांस्कृतिक अभियान प्रमुख है, यद्यपि इनके माध्यम से प्रसाद जी अंतत: अपने युग से ही जुड़े हैं। गंभीर दार्शनिक विवेचन, कावात्मक तथा अनुभूति संपन्न उक्तियों की इन नाटकों में प्रचुरता है। इस कारण से इन नाटकों में गंभीरता है तथा व्यंग्य के लिए अनुकूल परिस्थितियों की कमी है। इस युग में साहित्यिक दृष्टि से भले हिंदी नाटक शिखर पर जा पहुंच किंतु अन्याय, शोषण और विद्रूप के विरुद्ध जारी संघर्ष में उसका रवैया उदासीन ही दिखाई देता है। प्रसादोत्तर युग में संभवत: एकांकी नाटकों की विकास गति तीव्रतम है। यद्यपि आरम्भिक एकांकियों में सामाजिक चेतना के स्वर तीव्र नहीं है किंतु शीघ्र ही वे गुरु गम्भीर होते नजर आते हैं। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात हुए सबसे महत्वपूर्ण नाटककारों में मोहन राकेश का नाम नये हिंदी नाटक की सुदृढ़ नींव रखने वालों में लिया जा सकता है। नाटकों का आकर्षण सदैव बना रखा है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ इसके परिवर्तित तेवरों, रूप-

रंग, प्रस्तुति इसे और अधिक आकर्षक, प्रासंगिक और उपयोगिता पूर्ण बनाते रहेंगे। नाटकों के अनेक प्रकार है- ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटक आदि। सभी अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ पठनीय और उपयोगी होते हैं।

शिल्प की दृष्टि से 'अंधर नगरी' नाटक को उत्कृष्ट कोटि का नहीं कहा जा सकता किंतु तत्कालीन समय, समाज और साहित्यिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालें तो उत्कृष्ट नाट्य शिल्प की अपेक्षा करना अनुचिति ही होगा। पराधीन भारत के संवेदनशील और उत्तरदायित्वपूर्ण रचनाकार भारतेंदु जी ने कथ्य को प्रमुखता दी जो तत्कालीन समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक था, लेकिन ऐसा नहीं कि 'अंधेर नगरी' भाषा, शैली, शिल्प किसी भी कसौटी पर हीन ठहरता हो। यह इस दृष्टि से उत्तम एवं सफल है, सार्थक है कि इसकी भाषा शैली ने तत्कालीन भारतीय समाज को मनोरंजन प्रदान कर उनमें जीवंतता एवं उत्साह जाग्रत किया साथ ही उनके विवेक को झकझोर कर रख दिया। सामाजिक व्यवस्था, राजा एवं प्रजा के कर्तव्य तथा अधिकारों के प्रति सोचने के लिए उन्हें नई चिंतन-दृष्टि प्रदान की। इस काव्यात्मक व्यंग्य प्रधान प्रहसन में कथ्य प्रखर व्यंग्य के माध्यम से लक्ष्य बेध करता है। इसकी कथावस्तु लोक रुचि के अनुकूल है इसलिए इसकी लोकप्रियता बढ़ी साथ ही साथ रंचमंच के अनुकूल होने के कारण यह बार-बार मंचित किया गया। कलात्मक रूप से प्रौढ़ न होने पर भी इसमें साहित्यिक गरिमा है। इस दृष्टि से यह भारतेंदु जी का मौलिक एवं सफल नाटक माना जाता है।

'अंधर नगरी' नाटक भारतेंदु हरिश्चंद्र की एक ऐसी ही कृति है तो तत्कालीन यथार्थ की सशक्त एवं प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। पराधीन भारत की अशिक्षित, विवकहीन, शोषित जनता को झकझोर कर जगाने वाला यह एक अद्‌भुत ऐतिहासिक नाटक है। 'अंधर नगरी' एक यथार्थवादी नाटक है। भारतेंदु युग में भारतीय जनता दोहरी शासन व्यवस्था के बीच घुन की तरह पिस रही थी। एक ओर भारतीय राजाओं की स्वार्थवश अंग्रेजों की चापलूसी करने की नीति और जनता का शोषण तथा दूसरी ओर अंग्रेजी शासकों की प्रताड़ना, अत्याचार, शोषण और दमन। उन्होंने तत्कालीन यथार्थ को साहित्य का विषय बनाया। नाटक इस उद्देश्यपूर्ति के लिए एक सशक्त विधा बना।

'अंधर नगरी' नाटक में जैसे उस युग का पूरा भारत जीवंत हो उठा है। लोक तत्व के रूप में अंधर नगरी का आरंभ भजन के साथ होता है। प्रहसन का दूसरा दृश्य पूर्णत: लोक दृश्य है। ग्रामीण बाजारों में उठने वाली ध्वनियाँ, शोर इस नाटक के प्रेक्षकों को सीधे ग्रामीण हाट से जोड़ देते हैं। ग्राम्य मानसिकता से जोड़ने वाली भाषा का प्रयोग भारतेंदु जी ने किया है। उनके पात्र अपनी भूमिका के अनुरूप भाषा बोलते हैं। भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक अपने आप में ध्वनि-

कौशल, स्वर के आरोह-अवरोह, क्रिया व्यापार, शब्द चमत्कार, गति और निश्चलता, वर्ण मैत्री आदि की अद्भुत सामर्थ्य से युक्त है।

भारतेंदु का यह नाटक एक कालजयी कृति के रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। आज भले ही समय बदल गया है महर यह नाटक आज भी नये अर्थों के साथ सामयिक बना हुआ है। भारतेंदु ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली से तत्कालीन समाज की मूल्यहीनता, चरित्रहीनता एवं खोखलेपन को रोचकता से प्रस्तुत किया है। 'अंधर नगरी' में भारतेंदु ने धर्म, समाज, राजनीति और न्याय-व्यवस्था का चित्रण विस्तृत फलक पर किया है। यही कारण है कि इसकी कथा और इसके दृश्य किसी निश्चित काल-खंड तक सीमित नहीं है। इसमें पात्रों की कल्पना प्रवृत्तियों के आधार पर की गई है। कोई भी प्रमुख पात्र केवल एक 'व्यक्ति' नहीं बल्कि किसी-न-किसी परंपरा अथवा सामाजिक विचारधारा का प्रतीक है। इसीलिए किसी कृति में प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के प्रतीक पात्र तब तक प्रासंगिक बने रहते हैं। जब तक समाज का अस्तित्व है। 'अंधर नगरी' के चौथे दृश्य में हर व्यक्ति अपनी चालाकी से 'अपराध' दूसरे पर थोप देता है। स्वयं की गर्दन बचाकर दूसरे निरपराध को फांसी दिलवा देता है। यह प्रवृत्ति वर्तमान भारत में चौगुनी तीव्रता से बढ़ी है। भारतेंदु काल में हिंदू राजा एवं अंग्रेजी शासक चापलूसों की बातों को सच मानकर निर्दोष को ही दंड दे दिया करते थे, कभी-कभी पीड़ित फरियादी ही सजा पा जाता था इसलिए लोग तब न्याय-व्यवस्था के पास जाकर अपनी व्यथा सुनाने से डरते थे। समय बदल गया, सदी बदल गायी किंतु न्याय-व्यवस्था के प्रति व्याप्त भय जनता के हृदय में अब भी ज्यों का त्यों है। अब भी निर्दोष व्यक्ति अमानवीय यातना सहते हैं जैसे भारतेंदु काल में सहते थे। आज भी राजनीति में झूठ बोलने पर पद प्राप्त होता है, चापलूसी से पद प्राप्त होता है लेकिन सच्ची कड़वी बात कहने पर जूते खाने पड़ते हैं आदि-आदि। यह यथार्थ हमारे वर्तमान में प्रवृत्ति और धर्म बन गया है। भारतेंदु के इस यथार्थ को हम वर्तमान में उनकी चुनौती मान सकते हैं। 'अंधर नगरी' की प्रासंगिकता असंदिग्ध है।

1.8 मुख्य शब्दावली

- **विकृति :** खराबी, विकार
- **प्रहसन :** परिहास, दिल्लगी
- **मिथ्या :** झूठ, असत्य
- **श्लाघनीय :** प्रशंसनीय

- **मंथर गति :** धीमी गति, मंद गति
- **सनातन :** परंपरानुसार चला आता हुआ
- **अभिशप्त :** शापित, शाप से ग्रस्त
- **औचित्य :** उचित होने की अवस्था, उपयुक्तता
- **अनौचित्य :** औचित्य का अभाव, अनुचित
- **बिलायत :** विदेश
- **अजीरन :** अजीर्ण
- **टिकस :** टैक्स
- **टका :** अग्रेंजी शासन काल में प्रचलित दो पैसे का सिkkा, चांदी का पुराना सि€का
- **भिश्ती :** मशक से पानी ढोने वाला व्यक्ति
- **टिकठी :** फांसी का तख्ता

1.9 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. कथ्य
2. नाटक
3. अंग्रेजी और बांग्ला
4. पांच
5. हास्य
6. यथार्थवादी
7. सन् 1981में
8. छह दृश्य
-9. जन जागरण
10. प्रहसन
11. 'राम भजो' गीत से

12. पाप का मूल

13. . लोक संगीत

14 . लोक प्रचलित गाथा

15 परंपरा अथवा सामाजिक विचारधारा

16 . गोबरधनदास

17. राजा

1.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र का साहित्यिक परिचय कीजिए।

2. 'अंधेर नगरी' नाटक की मूल संवेदना को अपने शब्दों में अभिव्यक्त कीजिए।

3. अंधेर नगरी नाटक के आधार पर इसके पात्र 'पाचकवाला' के चरित्र की विशेषताएँ बताइए।

4. गोबरधनदास के चरित्र का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

5. अंधेर नगरी के भाषा-शिल्प पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. हिंदी नाटकों की विकास यात्रा का विवेचन कीजिए।

2. नाट्य-शिल्प की दृष्टि से अंधेर नगरी पाठक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

3. 'अंधेर नगरी' में वर्णित यथार्थ बोध का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।

4. 'अंधेर नगरी' में विद्यमान लोक तत्वों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

5. सामयिक युगबोध को प्रखरता से व्यंजित करने वाले 'अंधेर नगरी' नाटक की आज के संदर्भ में प्रासंगिकता सिद्ध कीजिए।

1.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

- डॉ. रामविलास शर्मा, *भारतेंदु युग और हिंदी भाषा का विकास,* राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली।
- गोविंद चातक, *भारतेंदु के संपूर्ण नाटक,* तक्षशिला प्रकाशन।
- गोविंद चातक, *संपूर्ण रंग नाटक,* तक्षशिला प्रकाशन।
- भारतेंदुयुगीन हिंदी *नाटक : संदर्भ सापेक्षत, के.एल. पचौरी प्रकाशन,* गाजियाबाद ।
- बच्चन सिंह, *हिंदी नाटक,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

इकाई 2 आधे-अधूरे (मोहन राकेश)-II

2.1 नाट्य समीक्षा की कसौटी पर 'आधे-अधूरे'

मोहन राकेश का यह नाटक कथ्य एवं शिल्प स्तरों पर पाठकों को आंदोलित करता है। इसमें विद्यमान युगबोध आज भी उतना ही प्रासंगिक है। यहां नाटक के कुछ ऐसे ही पक्षों का विश्लेषण किया जा रहा है-

2.1.1 कथानक

यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की शुष्क, विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज है और विकृक मूल्यों, भ्रान्तियों, एवं दोगली नैतिकता का निर्गम अनावरण, जो उस रिक्तता के कारण है। इसके केंद्र में पत्नी के वे प्रयत्न है, जो वह अपने बिखरते परिवार को बांधने के लिए करती है।

आधे-अधूरे नाटक का विश्लेषण करते हुए उसकी बनावट और भावों पर त्रिपुरारी शर्मा लिखते हैं - 'आधे-अधूरे' नाटक का ढांचा बहुत सावधानी से बनाया गया है और बहुत ही बारीक विशिष्ट बुनावट है। नाटक के हर वाक्य, हर शब्द में दर्द, क्षोभ और विड□बना संवादों से झांकती है। नाटक उकसाता भी है और जबरन हमें अपने से जोड़ लेता है। अक्सर मन करता है विरोध करने का, कुछ कहने का, अफनी फटेहाल अधूरी जिन्दगी को पूरा करने का। हां, शहरी जिन्दगी के रोजमर्श जीवनयापन और आपसी व्यवहार का इस नाटक से गहरा नाता है। एक स्तर पर नाटक एक ऐसे परिवार के बारे में है जिसकी जड़ें कहीं नहीं जम पाई, यह एक ऐसी संस्कृति के बारे में भी है, मध्यवर्गीय धीरे-धीरे जिस पर आश्रित हो गए, ऐसी आकांक्षाओं की संस्कृति। इसमें वो गर्माहट व आश्वासन नहीं जो निश्चितता से पैदा होता है। अविकाशील समाज को सहारा देने वाले ढांचे अभी तक तैयार नहीं हुए। अकेलेपन की भयानकता और बदलाव को यह नाटक पकड़ता है, साथ ही एक विशेष परिवर्तन को भी रेखांकित करता है। सावित्री के मां-बाप का कहीं कोई जिक्र नहीं फिर भी जब कभी बिन्नी अपनी शादी-शुदा जिन्दगी से लौटना चाहती है तो उसके पास लौटने की एक जगह है। हालांकि यह वही घर है जिसके उसे ऐसा बनाया, फिर भी यही आसरा भी है और आदि बिंदु भी। टूटता हुआ सा घर फिर भी मजबूत है कि हर किसी को वापस खींचता है। एक मजबूरी और निर्भरता सबको एक दूसरे से बांधती है, वे अपनी कमजोरी से नफरत करते हैं इसलिए एक-दूसरे की आजादी को तोड़ते रहते हैं। एक सुखी परिवार के मिथक को यह नाटक साफ तौर पर तोड़ देता है। स्थिरता का आधार विवाह है, इस बात पर गहरे प्रश्न है, तीव्र विवाद है। कई अर्थों में यह आदमियत के अधूरेपन का नाटक है, सीमाहीनता और व्यक्तिवादिता और असहिष्णुता सब पर काबिज है, दूसरों की कमियों के साथ। जबकि खुद अपनी भी कोई गहरी पहचान नहीं। खुशी पैदा करने की नालायकी उतनी ही बड़ी है जितनी कि खुशी पानेकी ख्वाहिश, कोशिशों की नाकामयाबी में एक अजब व्यंग्य है लेकिन जिंदगी के सब की तरह हर पीढ़ी को उसका तजुर्बा व पहचान खुद ही करनी पड़ती है।

यह नाटक अपने आप में एक पूरा संसार है, एक ऐसा संसार जो व्यक्ति ने रचाया है काले लिबास वाले व्यक्ति ने, जिसके तजुर्बे और जिसकी नजर का रंग इस संसार पर काबिज है। चूंकि उसने काला चुना है तो यह सारे स्थान में फैले जाता है। इसी में बाकी के पात्र स्थापित किए गए है। हालांकि सभी पुरुष इस मानसिकता के प्रतीक है, यह औरत सावित्री भी कई औरतों की तरह है, उन पुरुषों से व्यवहार करते हुए उनसे रिश्ते कायम करते हुए हर एख पुरुष से पेश आते हुए इस औरत के व्यक्तित्व के अलग ही रंग सामने आते हैं, जिससे वो बहुरंगी बन जाती है, और उतने ही रंगों में भी जाती है। बीवी, मां व नौकरीशुदा। वो रूमानियत की भी तलाश करती है, और अपनी वकालत भी खुद करती है। इस संसार में वह असहाय है और पुरुष से शक्ति प्राप्त करती है। किंतु महेंद्रनाथ खुद उसकी शक्ति से बंधा है, उसे आश्वासन या शक्ति नहीं दे सकता, जिसकी जरूरत है। वो कमजोर दीखता है लेकिन सावित्री और उस घर पर अपने अधिकारों को यह कायम रखता है, सभी विरोधों के बावजूद उसका दोस्त, उसका वकील, जुनेजा भी उससे हार जाता है। जुनेजा के शब्दों में स्वीकृत नैतिकता, जो सामाजिक रस्म रिवाज से पैदा हुई है, गुंजती है, उसमें दुहरापन है, फिर भी उसका कहना है कि अलग-अलग मुखौटों के नीचे चेहरा एक ही है। इसलिए सावित्री की तलाश बेमानी है। सावित्री नहीं मानती। वह केवल भूमिकाओं से बंधी औरत ही नहीं बल्कि, मानवीय आत्मा है जो अपने सुख की खोज, शांति और सुन्दरता और मंजिल में संतुलन की खोज स्वयं करती है। और ऐसा लगता है कि नाटक में होने वाली घटनाओं का दोष सावित्री का है, लेकिन यह इसीलिए कि वो ही जिम्मेदारी उठाती है तथा औरों से कम भगोड़ी है। हमने उसे परखने की कोशिश की है, उसे समझने की, उसकी कुंठाओं, इच्छाओं और टूटन को समझने की कोशिश। इस घर के बच्चे कोई अर्थों में संक्रमणकालीन समाज की पैदाइश है। अशोक को लगता है कि घर निश्चित रूप से टूटा है। बिन्नी की कोशिश है कि सब कुछ बंधा रह सके, इस प्रक्रिया में वह ऐसी धुरी बन जाती है जिसके गिर्द सारी स्थितियां घूमती है। किन्नी जैसे घर की आत्मा हो, तरस्ती हुई कि कोई उसे प्यार करे, कोई उसकी तरफ भी ध्यान दे। घर उन सब में प्रमुख है और वह घटनाओं को आकार देता है - यह चक्र चलता रहता है। क्या चलना ही चाहिए? शायद नाटक धीरे से, अस्पष्ट स्वर में यही प्रश्न करता है।

इस नाटक में समकालीन जीवन के अनेक धूप-छांही चित्र और ढांचे बुने हुए है। 'आधे-अधूरे' मोहन राकेश द्वारा एक जीवन्त नाट्य-रूप और हिंदी नाटक-लेखन में नाटकीय संवाद की खोज का चरम-बिन्दु है। यह उनके स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्वेषण की एक कड़ी होते हुए भी यहां वह एक तरह की स्वीकृति पर पहुंच गए हैं। स्त्री और पुरुष के बीच पह्मरस्पर अनुकूलता नहीं है, और उनके संबंधों में एक बुनियादी संघर्ष सदा बना रहता है। मगर फिर भी इस संघर्ष को समझना और इसके साथ-साथ रहना भी पड़ता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष पूरी तरह कभी अलग नहीं हो सकते और इस तरह यह चक्र चलता रहता है।

नाटक की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन-सब कुछ ऐसा है, जो बहुत संपूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है।

मोहन राकेश आधुनिक जीवन में व्याप्त अतृप्ति और महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में हारते जीवन की व्यथा कथा कहकर यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि संतोष ही परम सुख है। सब कुछ एक साथ नहीं मिलता, सबको सब कुछ नहीं मिलता, लेकिन जो मिला है उसे प्यार से सहेजना ही शांतिपूर्ण जीवन की कुंजी है।

2.1.2 पात्र एवं चरित्र चित्रण

आधे-अधूरे के सभी पात्र भारतीय संस्कृति से भटके और पाश्चात्य संस्कृति से संक्रमित दिखाई देते हैं। महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने में लगी स्त्री, सावित्री पथभ्रष्ट प्रतीत होती है तो पुरुष महेन्द्रनाथ और अशोक नकारा, अकर्मण्य, आलसी और परजीवी प्रतीत होते हैं। आत्मसम्मान और पौरुष से हीन दिखाई देते हैं। किन्नी, बिन्नी, सावित्री सभी असंतुष्ट, अंदर के अधूरेपन को भरने के लिए बेचैन गलत मार्ग पर चलती हुई, कुंठित, हीनता-ग्रंथि का शिकार और खुद में एकाकी दिखाई देती है। मोहन राकेश ने अन्य पुरुष पात्रों-सिंघानिया, जगमोहन, जुनेजा, मनोज सभी को भोग-विलास में रत, स्वार्थी, शोषक एवं कुसंस्कारी दिखाकर पाश्चात्य सता से आच्छादित समाज को प्रतिनिधियों की ओर संकेत किया है जो भावनाओं का, मित्रता का लाभ उठाकर केवल स्वयं का भला करते हैं। यह नाटक असंतुष्ट अधूरेपन से ग्रस्त पात्रों का दस्तावेज है। कथा के अनुकूल पात्रों का चयन किया गया है, जिनकी वेशभूषा, भाषा, संवाद एवं प्रवृत्ति प्रभावशाली है, जो नाटक को जीवंत बनाती है। आधुनिक मध्यवर्गीय समाज में जो विशेष रूप से महानगरों में बसते हैं, ऐसे चरित्रों की भरमार है। अनेक सावित्रियां, किन्नियां, महेन्द्रनाथ और अशोकों से समाज भर गया है। असंतुष्टि, आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति, ज्यादा पाने की होड़, कम समय और कम मेहनत कर सब कुछ एक साथ, ज्यादा से ज्यादा पाने की होड़ में लगे भटकते अशोकों, सावित्रियों से समाज पटा पड़ा है। यह पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के दुष्परिणाम हैं जिनको दिखाने के लिए ही संभवत: मोहन राकेश ने ऐसे पात्रों का चयन किया, जो कथा की कसौटी पर खरे उतरते हैं। चरित्रों के चयन की दृष्टि से भी यह सफल नाटक है।

महेंद्रनाथ

महेंद्रनाथ नाटक का मुख्य पुरुष पात्र है। यह सावित्री का पति है तथा बिन्नी, किन्नी और अशोक का पिता है। व्यवसाय में मित्रों पर निर्भरता और विश्वास के कारण सारा धन गंवाकर अब बेकार बैठा है। यह निकम्मा और दब्बू प्रतीत होता है, क्योंकि सावित्री की कमाई पर पलता है और उसके पुरुष मित्रों से उसकी निकटता देखकर यदा-कदा व्यंग्य करता है। बहस करता है और दो-दो, तीन-तीन दिन के लिए घर से गायब होकर मित्रों के घर पड़ा रहता है। महेंद्रनाथ गैर जिम्मेदार है। वह न घर संभालने की जिम्मेदारी उठाता है न बच्चों की। अगर वह बच्चों को

प्यार, अनुशासन एवं संस्कार सिखाता तो घर इतना बिखरा हुआ और तनावग्रस्त नहीं होता। नौकरी से लौटने पर सावित्री बच्चों को पिता के साथ बैठकर पढ़ते देखती, घर को व्यवस्थित देखती तो उसके अंदर कार्य करने की लगन और उत्साह बढ़ जाता। वह सारी थकान भूलकर पति और बच्चों के प्यार तथा सहानुभूति से जीवंतता का अनुभव करती। लेकिन महेंद्रनाथ घर का मुखिया होते हुए भी इस दायित्रव को नहीं समझता। उसे यहां-वहां भटकते, बिगड़ते बच्चों की चिंता नहीं है। उसकी खींझ का एक मात्र केंद्र सावित्री है। महेंद्रनाथ पत्नी को अमानवीय तरीके से पीटता, प्रताड़ित करता हुआ क्रूर पुरुष भी है जो असफल पुरुषार्थ की हीनता को कम करने के लिए पत्नी को प्रताड़ित करता है। लेकिन वह हार जाता है, क्योंकि उसकी प्रताड़ना के कारण, उसके अमानवीय व्यवहार के कारण उसके चरित्र का खोखलापन उजागर होता है जिससे पत्नी और बच्चे न केवल दूर हो जाते हैं बल्कि कोई उसका सम्मान भी नहीं करता। सावित्री खुलेआम एक के बाद एक पुरुषों के साथ घूमती है। उसे दूसरे पुरुषों के साथ संबंध बनाकर महेंद्रनाथ को हीन दिखाने में मजा आने लगता है। वह घर छोड़कर जाने के लिए उतावली है और बार-बार कहती है कि जिस दिन कोई ठीक-ठीक आधार मिल गया, वह चली जाएगी। आधार के तात्पर्य ऐसा पुरुष जो पूर्ण हो, सक्षम हो, जो सावित्री की कामनाओं की कसौटी पर खरा उतरे। जब सावित्री किसी पुरुष को घर बुलाती है तो महेंद्रनाथ नपुंसक की तरह किसी काम का बहाना करके घर से बाहर चला जाता है। गृहस्वामी होते हुए भी उसका व्यवहार नौकर से भी बदतर है। वह स्वयं खीझ कर कहता है कि उसकी हैसियत एक रबर के टुकड़े के समान है।

महेंद्रनाथ में निर्णय लेने की क्षमता नहीं है। वह हर निर्णय अपने मित्रों से पूछ कर करता है। उसमें आत्मदृढ़ता भी नहीं है, वह बार-बार बहस करके घर छोड़कर जाता है लेकिन फिर सावित्री के पास लौट आता है क्योंकि वह उससे प्रेम करता है। अपनी कमजोरियों को महेंद्रनाथ समझता है इसलिए वह कहता है कि - मैं कीड़ा हूं जो इस घर को खोखला कर रहा है। मैं सबके पतन के लिए जि□मेदार हूं। मेरी हड्डियों में जंग लग गई है इसलिए पत्नी और बच्चों की उपेक्षा तथा तिरस्कार सहकर भी इस घर में पड़ा रहता हूं। महेंद्रनाथ के अंदर जीवन में कुछ भी हासिल कर पाने की पीड़ा और कुंठा है। वह ऐसा पुरुष है जिसने पत्नी को अपने अनुसार चलाने में ही अपना पुरुषार्थ समझा, पत्नी को अपने हाथों की कठपुतली बनाना चाहा लेकिन बुरी तरह हार गया। न केवल पत्नी बल्कि बच्चे भी उसके हाथ और अधिकार क्षेत्र से निकल गए। वह असंतुष्ट और निराश व्यक्ति है तथा पलायनवादी है। संघर्ष करके सब कुछ पा लेने का प्रयत्न करने के बजाय वह सिगरेट और शराब में डूबा गम गलत करता है। महेंद्रनाथ कमजोर व्यक्ति है, उसकी आत्मकेंद्रित प्रवृत्ति, स्वार्थपरता उसे आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का प्रतिनिधि घोषित करती है। वह न अच्छा पति है न अच्छा पिता बल्कि वह श्रेष्ठ मनुष्य भी नहीं लगता। राकेश जी ने आधे-अधूरे के इस पात्र के माध्यम से मध्यवर्गीय, अभावग्रस्त, महत्वाकांक्षी लेकिन अकर्मण्य पुरुष की छवि को प्रभावशाली तरीके से अभिव्यक्त किया है। पूरे नाटक में यह पात्र अपने लिजलिजेपन से केवल खीझ उत्पन्न करता है, सहानुभूति अर्जित नहीं करता। यह आधुनिक परिवेश के विकारों से ग्रस्त पात्र है।

अशोक

यह सावित्री और महेंद्रनाथ का बेटा है। नाटक में यह एक अल्पशिक्षित, आवारा, निकम्मा और उद्दण्ड पात्र है, जो अपनी मां से मर्यादाहीन वार्तालाप करके अपनी खराब छवि प्रस्तुत करता है। संघर्ष करती हुई मां का सहारा बनने की बजाय यह उसके कार्यों को गलत सिद्ध करता हुआ उस पर

आरोप लगाता है। यह एक कृतघ्न पात्र है जो मां के सारे अहसानों पर पानी फेर देता है यह कह कर कि ये जो कुछ करती है स्वयं के सुख के लिए करती है। यह कहता है, किन्नी दिनोंदिन बिगड़ रही है, बिन्नी मनोज के साथ घर से भाग गयी, पिता लड़कर घर से चले गए, मैं नकारा घूम ही रहा हूं। अगर सावित्री बच्ची और घर के लिए ही संघर्ष कर रही होती तो घर का और बच्चों का यह हाल नहीं होता। यह कटु भाषा में संवाद करता है। अशोक स्वयं कुछ कमाता नहीं, घर से उसे जेब खर्च मिलता नहीं, इसलिए वह जिस लड़की से प्रेम करता है उसे उपहार देने के लिए घर की चीजें उठा-उठाकर ले जाता है।

वर्तमान में आधुनिक युवा पीढ़ी स्वयं परिश्रम करने से बचती है तथा माता-पिता से अपेक्षा करती है कि वे उसकी जिंदगी को ऐशो-आराम युक्त बनाने के साधन उपलब्ध कराएं। ऐसा न हो पाने पर वह माता-पिता के प्रति क्रूरता, अस□यता से भरा व्यवहार करती है। अशोक ऐसा ही युवा है। जो आलसी और कर्मण्य है। पढ़ने में उसकी रुचि नहीं है, न ही कोई काम करना चाहता है। मां अपने अधिकारियों, पुरुष मित्रों से मिलवाकर उसे काम दिलाना चाहती है तो वह उनसे नहीं मिलना चाहता बल्कि मां को चरित्रहीन समझता है और स्वयं को श्रेष्ठ और स्वाभिमानी प्रदर्शित करता है। अशोक अपने पिता की ही तरह गैर जिम्मेदार है। वह अपने परिवार के प्रति किसी दायित्व को निभाना आवश्यक नहीं समझता। उसके मन में परिवार के लिए प्रेम भी दिखाई नहीं देता क्योंकि प्रेम होता तो वह जिम्मेदारी भी समझता। किन्नी को बिगड़ने से बचाता। मां का सहयोग करता। अशोक एक स्वार्थी युवा है। अपने अधूरेपन को भरने के लिए भी गलत रास्तों पर चल रहा है। अपने समवयस्क युवाओं के साथ रहने पर हीनता से ग्रस्त होने के कारण संभवत: यह कुंठित एवं विकृत आचार-विचार का प्रदर्शन करता है। वह सावित्री के बॉस का कार्टून बनाता है, व्यंग्य करता है। इससे यह तो पता चलता है कि वह बुद्धिमान है, लेकिन वह अपनी बुद्धि का प्रयोग नकारात्मक कार्यों में करता है। वह भी पिता की तरह घर में किसी को बताए बिना कई-कई दिनों तक घर से गायब रहता है।

आधे-अधूरे नाटक के हर पात्र की तरह अशोक भी असंतुष्ट भटकता, एकाकीपन से ग्रस्त पात्र है। कमरे में बैठकर फिल्मी अश्लील पत्रिकाएं पढ़ना तथा चित्र काट-काटकर रखना उसका शौक है। उसे घर में घुटन का अनुभव होता है। वह मानता है कि इसी घुटन से तंग आकर उसकी बहन बिन्नी मनोज के साथ भाग गयी। वह स्पष्ट वक्ता है। बोलते समय यह नहीं सोचता कि उसके

शब्दों से किसी का मर्म आहत हो सकता है। इसके दो उदाहरण दिए जा सकते हैं- एक तो वह बिन्नी से कहता है कि तू घर से इसलिए नहीं गई कि तुझे मनोज से प्रेम हो गया था- बल्कि मनोज के रूप में तुझे एक खिड़की मिली कि तू इस घर से बाहर जाकर चैन की सांस ले सके। दूसरा, वह मां के लिए कहता है कि बार-बार कहती है कि अब अकेले जिम्मेदारी नहीं सम्हाली जाती मुझसे, अब केवल अपने लिए जीऊंगी तो क्यों नहीं छोड़ देतीं जिम्मेदारी निभाना, हमें हमारे हाल पर छोड़कर जाएं जहां जाना हो। अशोक की कटुक्तियों में कहीं सच्चाई भी दृष्टिगोचर होती है। तब लगता है कि भले ही वह आवारा घूमता है, पढ़ता नहीं, कोई काम नहीं करता, लेकिन परिस्थितियों को समझने और विश्लेषण करने की उसमें भरपूर क्षमता है। यह नाटक वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय परिवार में व्याप्त संघर्ष, तनाव, द्वंद्व, कुंठा के बीच पलती पीढ़ी के आक्रोश एवं मनोवृत्तियों को सफलतापूर्वक दर्शाता है। अशोक एक नकारात्मक छवि को प्रस्तुत करने वाला पात्र है जिसके परिप्रेक्ष्य में सावित्री के प्रति सहानुभूति बढ़ती है। दूसरी ओर यदि सकारात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यही एक पात्र है जो मां के चरित्र के अनुरूप अपने चरित्र/व्यवहार का औचित्य सिद्ध करता है।

सावित्री

सावित्री एक मध्यवर्ग की आधुनिक नारी है। आधे-अधूरे में सावित्री नाटक का मुख्य आधार है। वही प्रमुख स्त्री है जिसे नायिका कहा जा सकता है। उसके अनेक संबंध है- पति महेंद्रनाथ और बॉस सिंघानिया, जगमोहन और जुनेजा-जिन्हें क्रमशः एक, दो, तीन, चार पुरुष कहा गया है। सावित्र के जीवन में ये आते-जाते हैं। सावित्री के माध्यम से राकेश आधुनिक स्त्री को चित्रित करना चाहते हैं जिसकी कई भूमिकाएं हैं। आर्थिक रूप में कई बार वह परिवार की धुरी है। घर के लिए वह कमा कर लाती है, पर गृहस्थी भी उसे ही देखनी पड़ती है, बच्चों की सारी जिम्मेदारी भी उसी के कन्धों पर है। कई पात्र उसके जीवन में आते हैं जिसका कारण उसका असन्तोष तो है ही, पर वह परिवार की बेहतरी भी चाहती है, जैसे बॉस सिंघानिया से बेटे अशोक की नौकरी के लिए निवेदन। नाटक में वह आदि से लेकर अन्त तक सक्रिय है और घटनाचक्र उसी के इर्द-गिर्द घूमता रहा है, तो इसके लिए समाजशास्त्रीय कारण तो हैं ही, उसका अहं भी है, परिस्थितियां भी हैं। वह मां है और अपने बेटे-बेटियों को भी ऊपर उठाना चाहती है। यह बात दूसरी है कि वह सफल नहीं हो पाती।

सावित्री के माध्यम से राकेश एक कामकाजी महिला को सामने लाते हैं, और इस दृष्टि से वह आधुनिक नारी है। राकेश ने आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर इस प्रकार के पात्र अपनी अन्य रचनाओं में भी प्रस्तुत किए हैं। सावित्री आधुनिक नारी के रूप में अपना स्वतंत्र आर्थिक आधार रखती है। वह नौकरी करती है और इस आधार पर स्वतंत्र सामाजिक संबंध भी बनाना चाहती है। पति महेंद्रनाथ बेकार है, सावित्री के लिए नौकरी करने की यही विवशता नहीं है, स्वभाव से भी वह आर्थिक

स्वतंत्रता चाहती है। आधुनिक भारतीय नारी के विषय में सोचा गया कि यदि वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो जाए तो उसकी स्थिति बेहतर हो सकती है। पर यह अधूरी दृष्टि है। नारी अपने शरीर में हो उसकी स्थिति में जब तक सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से नारी सम्मानित नहीं होती, स्थिति में परिवर्तन सम्भव नहीं। अब भी जैसे आधुनिकता के नाम पर हम मध्यकाल के सामन्ती समाज में जी रहे हैं- दहेजप्रथा, अनमेल विवाह, बलात्कार, स्त्री के प्रति निरादर भाव आदि आम बातें हैं। इन स्थितियों में आधुनिक भारतीय नारी ने आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होना चाहा तो क्या उसके 'स्टेटस' में सामाजिक दृष्टि से कोई गुणात्मक परिवर्तन हुआ? सम्भवत: नहीं। क्योंकि स्थितियां बाहर-बाहर बदलीं, ऊपर-ऊपर-मानसिकता में अधिक परिवर्तन नहीं आया और नारी के प्रति दृष्टि में प्राय: वही पिछड़ापन मौजूद है।

सावित्री के माध्यम से राकेश जिस आधुनिक नारी का चित्रण करते हैं, वह साधारण मध्यवर्ग की हैं, और परिवार के साथ तमाम उम्र समझौते करती है। तथाकथित इण्टलेवचुअल मध्य वर्ग की नारी आर्थिक रूप से स्वतंत्रता पाने के प्रयत्न में काफी हद तक सफल हुई, पर राकेश प्रश्न उठाते हैं कि वह संतुष्ट है क्या? सम्भवत: नहीं। सावित्री की 'ट्रैजिडी' ही यह है कि वह आर्थिक आधार बनाकर अपने जीवन को स्वतंत्रता देना चाहती है, पर ऐसा हो नहीं पाता। वह स्वयं भी टूट-बिखर जाती है, तरह-तरह के दबावों में रहती है। और परिवार तो विघटन के कगार पर है ही। आधुनिक नारी के रूप में उसकी सीमा यह है कि वह परिवार को अपने ढंग से चलाना चाहती है- पति से लेकर बेटा, बेटी और तथाकथित मित्रों तक को, पर यह स□भव नहीं, क्योंकि आजादी तो सभी चाहते हैं- स्कूल में पढ़ने वाली छोटी बेटी तक। सावित्री चाहती है कि घर ठीक-ठाक रहे, और ऐसा न होते देखकर झुंझलाती है, चीखती है। पति महेंद्रनाथ से कहती है, ''पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का? रोज आने पर पचास चीजें यहां-वहां बिखरी मिलती है।'' आधुनिक प्रवृत्ति के कारण सावित्री घर को यन्त्रवत चलाना चाहती है, व्यवस्था चाहती है। पर यह स□भव नहीं होता और वह खींझती चली जाती है, और इस क्रम में लगातार टूटती है।

सावित्री आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहती है, चाहे अपनी इच्छा से अथवा विवशता में, पर यह उसके जीवन का प्रमुख प्रश्न है। उस पर पूरे परिवार का बोझ है जिसके कारण उसे यथार्थ से समझौते करने पड़ते हैं। उसकी स्वाभाविक इच्छा है कि पति महेंद्रनाथ कुछ काम करे, निठल्ले न बैठे रहें। अशोक को अच्छी नौकरी मिल जाए और बेटियों को अच्छे पति। सावित्री की इच्छाओं को हम आधुनिक प्रवृत्ति से प्रेरित व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा भर नहीं कर सकते, इसके मूल में उसके पारिवारिक दायित्व हैं। वह बड़ी लड़की से दर्द से कहती है- ''... यहां पर परिवार में सब लोग समझते क्या हैं, मुझे? एक मशीन, जो कि सबके लिए आटा पीस-पीसकर रात को दिन और दिन को रात करती रहती है।'' सावित्री यदि समझौता करती है और उसमें स्खलन दिखायी देता है तो इसीलिए कि वह परिवार के लिए खटती है। पुरुष दो (सिंघानिया) सावित्री के साथ विचित्र व्यवहार करता है। बार-बार कहता है कि : ''तुम (सावित्री) आओगी ही घर पर।'' सावित्री यह यातना सह जाती है क्योंकि उसे अपने बेटे अशोक के लिए नौकरी चाहिए। अशोक इस पुरुष को

(सिंघानिया) को 'वनमानुष' कहता है। पर मां के रूप में सावित्री को बेटे-बेटियों के भविष्य की चिन्ता है, मूल्य कुछ भी चुकाना पड़े। इस दृष्टि से सावित्री समाज की सहानुभूति की भी अधिकारिणी है।

सावित्री परिवार की चिंता में है और जैसे अकेली ही लड़-झगड़ रही है। जब अशोक कहता है कि ऐसे गलत लोगों को **क्यों** बुलाती हो? तो सावित्री का उ**त्त**र है- ''इसलिए कि किसी तरह इस घर का कुछ बन सके। मेरे अकेली के ऊपर बहुत बोझ है इस घर का जिसे कोई और भी मेरे साथ ढोने वाला हो सके।'' कितनी चिन्ताएं लेकर चल रही है सावित्री। निठल्ला पति, विद्रोही संतान, वह भी आपस में सौमनस्यरहित। बेटा अशोक छोटी बहिन को पीट देता है **क्यों**कि वह पड़ोस की लड़की सुरेखा से स्त्री-पुरुष संबंधों पर बात करती है। छोटी लड़की भाई के प्रेम-प्रसंग की चर्चा करती है कि ये अपनी प्रेमिका वर्षा के च**क्क**र लगाते हैं। परिवार का भार वहन करने वाली नारी के रूप में सावित्री अपने पति महेंद्रनाथ से पूर्णरूपेण असंतुष्ट है, वह किसी काम का नहीं। सावित्री में एक गहरा विक्षोभ है कि वह परिवार के लिए अकेली ही पिस रही है, फिर भी उसे टूटने-बिखरने से बचा नहीं पा रही है। परिवार में जैसे सब गैरजि**म्मे**दार हैं, सारा बोझ उसी पर। बड़े दर्द से सावित्री कहती है- ''मेरे पास अब बहुत साल नहीं जीने को। पर जितने हैं, उतने में इसी तरह और निभाते हुए नहीं काटूंगी। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था, इस घर का, हो चुका आज तक। मेरी तरफ से अब अन्त है उसका-निश्चत अन्त।''

सावित्री अपने पारिवारिक दायित्वों की ओर ध्यान देती है पर उसके व्य**क्ति**त्व में संग्रंथन, संयोजन सबको साथ लेकर चल सकने वाले नेतृत्व की कमी हो सकती है। इसके कारण समाजशास्त्रीय हैं और आर्थिक हैं। औद्योगिक, शहरी समाज बन रहे हैं, पारिवारिक इकाइयों का टूटना एक स्वाभाविक परिणति है। पहले टूटते हैं सामन्ती समाज के बने बड़े संयु**क्त** परिवार, फिर छोटे परिवार भी व्य**क्ति**यों में बंट जाते हैं, छोटी-छोटी आत्मकेंद्रित इकाइयों में से यहां तक कि पति-पत्नी, माता-संतान, भाई-बहिन आदि संबंध भी टूट जाते हैं। उचित हो यह था कि महेंद्रनाथ और अशोक परिवार का बोझ ढोते, पर दायित्व आ पड़ा है सावित्री पर और वह इसे निभाने में ही टूटती है। यह बात दूसरी है कि उनके पास 'गोदान' की धनिया का जुझारूप ग्राम-व्य**क्ति**त्व न होकर मध्यवर्ग की शहरी मानसिकता है, इसीलिए वह भीतर-भीतर टूटती है। इसमें मनोग्रन्थियां बनती हैं, पर जहां तक उसके जीवन का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं कि पारिवारिक दायित्व उसे थकाते हैं। वह अपने बेटे से पीड़ा के साथ कहती है- ''ऐसे में मुझसे नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहां दर्द नहीं किसी चीज का तो अकेली मैं ही **क्यों** अपने को चीथती रहूं रात-दिन? मैं भी **क्यों** न सुर्खरू होकर बैठी रहूं, अपनी जगह?''

सावित्र महेंद्रनाथ का वरण पति के रूप में करती है, पर स्वभाव से दोनों भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं। इनमें कुछ तो अपनी बनावट का रोल है, और कुछ परिस्थितियों की भी भूमिका है। कुल मिलाकर जो मानव व्य**क्ति**त्व बनता है, उसमें व्य**क्ति** एवं समाज दोनों का योग होता है, अर्थात सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव। सावित्री महेंद्रनाथ को फिजूल का आदमी समझती है। बेकार

का, जो निठल्ला बैठा रहता है, कुछ करना ही नहीं चाहता। वह न खुद चलता है और न दूसरों को ही चलने देता है- 'नामुराद मोहरे की तरह है। पुरुष एक, महेंद्रनाथ पत्नी से खीझकर कहता है- ''अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूं। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूं, क्योंकि अंदर से मैं आरामतलब हूं, घर-घुसरा हूं, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।'' सावित्री महेंद्रनाथ के साथ रहती तो है, पर मुक्त का कोई उपाय नहीं है। सावित्री महेंद्रनाथ के साथ-साथ रहने के लिए विवश है, जैसे। यह आज के ठण्डे, तनावपूर्ण स्त्री-पुरुष-संबंधों की एक झांकी है।

पति-पत्नी एक-दूसरे को सही ढंग से समझना नहीं चाहते। महेंद्रनाथ कहीं काम पर लगने की कोशिश में है- जुनेजा के पास आता-जाता है, पर सफल नहीं होता। सावित्री धीरे-धीरे मानसिक स्तर पर पति से दूर होती जाती है, उन दोनों में जैसे भावात्मक संबंध गायब हो जाते हैं- एक संवादहीन स्थिति। उनमें बातें होती हैं तो जली-कटी, आक्रोश भरी, जैसे हर वक्त झगड़ रहे हों। कुछ संवाद है-

''**पुरुष एक** (महेंद्रनाथ) तुम लड़ना चाहती हो?

स्त्री (सावित्री) तुम लड़ भी सकते हो इस वक्त, ताकि उसी बहाने चले जाओ घर से।... वह आदमी (पुरुष दो, सिंघानिया) आयेगा। तो जाने क्या सोचेगा कि क्यों हर बार इसके (सावित्री के) आदमी को कोई न कोई काम हो जाता है बाहर। शायद समझे कि मैं जान-बुझकर ही भेज देती हूं।

पुरुष एक : वह मुझसे तय करके तो नहीं आता कि में उसके लिए मौजूद रहा करूं घर पर।

स्त्री : कह दूंगी, आगे से तय करके आया करे तुमसे। तुम इतने बिजी आदमी हो, पता नहीं कब किस बोर्ड की मीटिंग में जाना पड़ जाय (तीखा व्यंग्य, महेंद्रनाथ की बेकारी पर)।

पुरुष एक : तुम तो बस, आमादा ही रहती हो हर वक्त।

स्पष्ट है कि 'आधे-अधूरे' में मोहन राकेश-महेंद्रनाथ के माध्यम से स्त्री-पुरुष के तनाव भरे संबंधों पर टिप्पणी करते हैं। उन पति-पत्नी में वह सौमनस्य नहीं जो दाम्पत्य जीवन को, अभावों के बावजूद भी पूर्णता देता है, इसलिए वे त्रस्त हैं और घर भी टूट रहा है। सावित्री अपने असंतोष में कई पुरुषों से बंधती दिखायी देती है - जुनेजा, जगमोहन और विवश स्थिति में बॉस सिंघानिया भी। सावित्री खोजती क्या है? पूर्ण मनुष्य! पर वह तो कल्पना है, दार्शनिकी की, कवियों की। महेंद्रनाथ को आधा-अधूरा व्यक्त करार देते हुए वह कहती है- ''आदमी होने के लिए क्या यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत हो?... जब से मैंने उसे जाना है, हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी न किसी को सहारा ढूंढ़ते पाया है।'' जैसे वह आधा-अधूरा आदमी है। एक पत्नी के रूप में सावित्री असन्तुष्ट है, भटकती है, पर उसे परितृप्ति नहीं मिलती। पूर्णत्व की इस मृग-मरीचिका के पीछे दौड़कर वह हताश सी हो गयी है। यह हमारे आज के मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष संबंधों पर तीखी टिप्पणी है।

सावित्री-महेंद्र के तनावपूर्ण संबंधों का प्रभाव पूरे घर पर पड़ता है। पूरा परिवार जैसे इस तनाव के कारण टूटता चरमराता दिखायी देता है। बेटे अशोक में तीव्र आक्रोश है, वह विद्रोह पर उतारू है, बेकार होकर भी वर्षा से प्रेम करता है। विचित्र संस्कार है उसके... आवारापन के। बड़ी लड़की किने हर चीज से असंतुष्ट है। भाई-बहन में कोई प्रेम-भाव नहीं, इसीलिए कि परिवार के अभिभावक सावित्री-महेंद्रनाथ में सौमनस्य नहीं है। बच्चे भी जानते हैं कि मां के कहां-कहां, कैसे संबंध है? कौन आता-जाता है। परिवेश का प्रभाव परिवार पर पड़ना स्वाभाविक है, इसे राकेश ने नाटक में भलीभांति दिखाया है। बिन्नी (बड़ी लड़की) एक स्थान पर पुरुष चार (जुनेजा) से कहती है- ''मैं तो बयान नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने।'' वह घर को 'चिड़ियाघर का पिंजड़ा' कहती है। इस तरह पारिवारिक तनावों के कारण सभी सदस्य असंतुष्ट हैं- आधे-अधूरे।

मोहन राकेश ने सावित्री का चरित्र मध्यवर्ग से उठाया है और उसे एक परिवार का दायित्व दिया। पति को निठल्ला बनाया और संतान भी इस अर्थ में लापरवाह कि मां मैं कोई रुचि नहीं। राकेश ने सावित्र को शरीर अथवा यौन स्तर पर भटकती साधारण नारी के रूप में चित्रित नहीं किया, उसे एक व्यक्तित्व देने की कोशिश की। एक प्रकार से 'रैशनलाइज' किया है कि सावित्री पूर्णता चाहती है जो मिलना असंभव है। इस दृष्टि से सावित्री की यात्रा 'सही संबंधों की खोज की यात्रा' है। वह गृहस्थी की त्रासदी भी झेलती है और अपने मन की यातना भी। वास्तव में सावित्री 'व्यक्ति' नारी नहीं है कि राकेश उसमें 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका अथवा 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी जैसे चारित्रिक रेखाएं भरने का अधिक सावधान प्रयत्न करते। 'आधे-अधूरे' में उन्होंने सावित्री को एक स्त्री माना है- और वह मध्यवर्ग की इन परिस्थितियों की कोई भी स्त्री हो सकती है। विवाह के पूर्व महेंद्रनाथ उसका प्रिय था, पर विवाह के अनंतर ऐसा क्या कुछ बदल गया कि सावित्री का मन उससे तिक्त हो जाता है। उसकी बालों में तिक्तता, कड़वाहट और व्यंग्य है, स्नेह बिल्कुल नहीं। क्यों ये संबंध धीरे-धीरे ठंडे, व्यर्थ होते गए हैं? राकेश ने उसके लिए सावित्री को घर-गृहस्थी के तनाव से गुजारा है- घर से लेकर बाहर तक।

मोहन राकेश 'आधे-अधूरे में एक और मध्यवर्ग की त्रासदी दिखाते हैं- पारिवारिक स्तर पर, दूसरी ओर यह भी बताते हैं कि सभी को सही संबंधों की खोज है और उसका सबसे अधिक प्रयत्न सावित्री में है। नाटक के लगभग अंतिम दौर में पुरुष नं. चार, जुनेजा आता है और बड़ी लड़की- बिन्नी से उसकी काफी बातचीत होती है जिससे सावित्री-महेंद्र के संबंधों के बिखराव का पता चलता है। जब सावित्री स्वयं रंगमंच पर उपस्थित होती है तो जुनेजा के सामने वह लंबे वक्तव्य देती है, जहां उसकी मानसिकता उजागर होती है। सावित्री कहती है- ''...एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक जरूरत पूरी करने के लिए। कौन सी जरूरत? अपने अंदर के किसी उसको एक अधूरापन कह लीजिए उसे... उसको भर सकने के लिए। इस तरह उसे

अपने लिए... अपने में, पूरा होना होता है।'' इस क्रम में, अपने बहुत लंबे व€क्तय में सावित्री बोलती चली जाती है लगातार और कहती है कि अपने ढंग से जीना चाहती है, सही संबंधों की तलाश है उसे। उसके शब्द है- ''वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए... एक... पूरा आदमी।'' और मोहन राकेश ने चुना है सावित्री को, पूर्णता की तलाश के लिए। सावित्री को भटकन हर उस व्यक्ति की भटकन हो सकती है जिसे पूर्णता की खोज है- यही सावित्री की 'ट्रैजिडी' है।

बिन्नी

बिन्नी सावित्री की बड़ी लड़की है और किन्नी छोटी। बिन्नी बी मां की तरह पूर्णता की खोज में है। राकेश दिखाते हैं कि बिन्नी उस मनोज के साथ भाग निकलती है जो उसकी मां का प्रेमी था। पर प्रेम और विवाह में अंतर है। विवाह करके बिन्नी भी मां की तरह असंतुष्ट है, कहती है... ''एक गुबार सा है जो हर वक्त मेरे अंदर भरा रहता है...'' या ''मन करता है कि आसपास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूं।'' ऐसा क्यों होता है कि जिस व्यक्ति का स्वयं वरण किया, उसी के साथ असंतोष। नागरिक समाज में उपजे एकाकीपन, अलगावपन, अतृप्ति आदि का संकेत मोहन राकेश अपने पात्रों के माध्यम से करते हैं। बिन्नी निस्संकोच है, अपना असंतोष मां से लेकर अजनबी तक के सामने व्यक्त करती है।''

यदि केवल यह कह दिया जाय कि बेटी मां के संस्कार पाये हैं, तो अधूरी बात होगी। यह एक पक्ष है। स्थिति यह कि पारिवारिक परिवेश में माता-पिता में जो तनाव बिन्नी ने देखा है, ''यदि उस पर उसका प्रभाव है तो यह चेष्टा भी होनी चाहिए कि वह उससे युक्त भी हो। पर ऐसा नहीं हो पाता। एक क्षण ऐसा भी आता है कि जब मां-बेटी एक-दूसरे को सहानुभूति देती है जैसे उनके जीवनवृत्त एक जैसे हों। दोनों ही प्रतिक्रियाओं में कई बार समानता मिल जाती है। माता-पिता दोनों बिन्नी से पूछते हैं कि वह मनोज के साथ खुश तो है न? पहले तो वह टालती है, फिर मां के सामने स्कूल जाती है, कहती है ''...शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूं। पर अब आकर... अब आकर लगने लगता है कि यह जानना, बिल्कुल जानना नहीं था। इससे बिने के मन का द्वंद्व पता चल पाता है। मां तरह-तरह के प्रश्न पूछती है, पर बेटी के पास कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं है। छोटी-छोटी बातों पर तनाव क्यों हो जाता है? फालतूपन है क्या? बिन्नी छोटी-मोटी नौकरी करना चाहती है- क्यों? ''कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह (मनोज) अंदर से तिलमिला उठे।'' फिर खीझती है और कुछ नहीं कर पाती।

बिने मध्यवर्ग की नारी है, अपनी विसंगतियों से गुजरते हुए परेशान होती है। माता-पिता के संबंधों को देखकर उसमें भय जागता है। सोचती है, ''क्या यही नियति उसकी भी है?'' और तब वह टूटते स्वरों में से कहती है, ''...एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूं कि क्या

चीज है इस घर में, जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है?'' और स्थिति यह कि इस पूर्णता की तलाश मां को भी है, बेटी को भी-यहां दोनों में समानता है। पर बिने का एक शुभ पक्ष है कि वह मनोज के साथ होकर भी माता-पिता, भाई-बहन से जुड़ी है। माता-पिता का तनाव उसे खलता है, वह अपने दु:ख को व्यक्त करती है। पर कोई कारगर भूमिका निभाने में स्वयं को असमर्थ पाती है। खुद तनाव से गुजरते हुए प्राय: इंसान दूसरों के सुख-दु:ख से अन्यमनस्क हो जाता है। पर बिन्नी ऐसी नहीं है। इसीलिए नाटककार राकेश ने उसे नाटक में काफी स्थान दिया है। बड़ी लड़की बिन्नी मां की सहेली जैसी हो जाती है और इसी तरह का व्यवहार करती है। मां के साथ सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहती है- ''जब से बड़ी हुई हूं, तभी से देख रही हूं। तुम सब कुछ सहकर भी रात दिन अपने को इस गर के लिए हलाक करती रही हो।'' पिता के प्रति भी उसकी सहानुभूति है। पर चाहने से तनाव नहीं मिट सकते। भाई को ममता देती है और छोटी बहन को भी। यह बिन्नी के व्यक्तित्व की प्रौढ़ता को भी सूचित करता है कि वह बातों को ठीक से समझती है।

2.1.3 युग-बोध

प्रत्येक रचनाकर अपने युग से प्रभावित होकर रचनाकर्म करता है। तत्कालीन समाज, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थिति और आवश्यकताएं उसकी रचना में प्रतिबिंबित होती है। मोहन राकेश की रचनाओं में भी यह युग बोध अपने चरम पर पूरी उत्कृष्टता के साथ दिखाई देता है। वे अपने युग से प्रभावित हैं और युग की नब्ज पकड़ कर चलते हैं। मोहन राकेश की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म एवं गहन तत्वों को पकड़ने की क्षमता रखती है। स्वातंत्र्योत्तर भातर के विकास की प्रक्रिया में हर क्षेत्र विज्ञान से, भौतिकवाद से प्रभावित है। पाश्चात्य संस्कृति को अपनाकर आधुनिक बनने की होड़ में भारतीय समाज का मध्यवर्ग सर्वाधिक पतित हुआ है। मध्यवर्ग वैसे भी हर परिवर्तन के लिए उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए जिम्मेदार माना जाता है। उच्च वर्ग में शामिल होने की उसकी महत्वाकांक्षा उसे पथभ्रष्ट, कुंठित, असंतुष्ट, भटकन एवं एकाकीपन का शाप झेलने के लिए विवश करती है। युवा वर्ग काम करना अशोभनीय मानते हुए सोचता है कि वह काम करता हुआ निम्नवर्गीय लगेगा इसलिए अकर्मण्य हो जाता है। महत्वाकांक्षाएं उसे कल्पना लोक में घुमाती है और शिक्षा बुद्धि को भी विकसित करती है। इसलिए वह सुखों की परिभाषा को जान नहीं पाता और अशोक, सावित्री, बिन्नी, किन्नी, महेंद्रनाथ जैसे चरित्रों की सृष्टि होती है। वर्तमान युवा पीढ़ी माता-पिता के प्रति कितनी कटु, अमर्यादित असभ्य भाषा का प्रयोग कर सकती है, यह अशोक के चरित्र से ही पता चलता है। आत्मनिर्भर स्त्रियों की मानसिकता का पता सावित्री के चरित्र में चलता

है। हर मध्यवर्गीय आत्मनिर्भर स्त्री सावित्री नहीं होती, लेकिन समाज में ऐसी असंतुष्ट, भटकती, महत्वाकांक्षी स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है।

मोहन राकेश सावित्री और उसके गृहस्थ जीवन के माध्यम से तत्कालीन समाज का प्रतिबिंब दिखाते हैं। कलह, अशांति, कटुता, व्यंग्यात्मक संवाद, तनाव, द्वंद्व, असंतुष्टि, पलायनवादी प्रवृत्ति, अकर्मण्यता आदि वर्तमान युग की सर्वाधिक व्याप्त रहने वाली प्रवृत्तियां हैं जिन्हें इस नाटक में स्थान मिला है। युग-बोध की अभिव्यक्ति में नाटककार सफल रहा है। नाटक में काव्य की सफल अभिव्यक्ति है। यह युग के यथार्थ को प्रस्तुत करने वाला नाटक है जिसमें भाषा, ध्वनि, संवाद, पात्र निर्देशन सभी कुछ प्रभावशाली एवं मर्मस्पर्शी हैं। मोहन राकेश ने सामान्य विषय वस्तु के माध्यम से जटिल यथार्थ को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। संपूर्णता की तलाश में भटकती स्त्री सावित्री का चरित्र इस युग का सत्य है। कटुता, तनाव, द्वंद्व के कारण नीरस होते पारिवारिक संबंध, बिखरते गृहस्थ जीवनों की झांकी दिखाने वाला यह नाटक बहुत गरही बात कह जाता है।

2.1.4 अभिनेता

नाटककार ने एक ही अभिनेता द्वारा पांच पृथक भूमिकाएं निभाये जाने की दिलचस्प रंगयुक्ति का सहारा लिया है। महेंद्रनाथ की जगह पर जगमोहन को रख देने से स्थिति में कोई बुनियादी अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि परिस्थितियों के ढांचे में व्यक्ति लगभग समान ढंग से बर्ताव करता है। इसी अनुभव पर बल देने के लिए कुछेक प्रदर्शनों में नाटक की शुरुआत के साथ एक सपाट कमरे में लगे मुखौटे को आलोकित करता था।

'आधे-अधूरे का कार्य-स्थल एक मकान की बैठक है, जिसमें सोफे, कुर्सियां, अलमारी, किताबें फाइलें आदि हैं। यह कमरा एक समय साफ-सुथरा रहा होगा, पर सालों की आर्थिक कठिनाइयों के कारण अब सब पर धूल की तह जम गयी है। क्राकरी पर चटखन है। दीवारें मटमैली हो गयी है। परिवार का हर सदस्य एक दूसरे से कटा हुआ है। घर की हवा तक में उस स्थायी तल्खी की गंध है, जो पांचों व्यक्तियों के मन में भरी हुई है- ऊब, घुटन, आक्रोश, विद्रूप... दम घोंटने वाली मनहूसियत जो मरघट में होती है।

यह नाटक एक टूटते हुए मध्यवर्गीय के बारे में है। इसके केंद्र में है सावित्री, तीन बच्चों की मां और एक नाकामयाब पुरुष की पत्नी। परिवार को बचाने के लिए सारे उतार-चढ़ाव का सामना करने के साथ-साथ वह संपूर्ण पुरुष की भी तलाश में है। उसका संपूर्ण मोहभंग, और उससे पैदा होने वाली मध्यवर्गीय अस्तित्व के स्तर पर हताशा, एक सुगठित स्थिति में उजागर हुई है जिसमें

सावित्री के जीवन में आने वाले चार पुरुषों का अभिनय एक ही अभिनेता से कराने की प्रभावी रंगमंचीय युक्ति का प्रयोग किया गया है।

मोहन राकेश, 'आधे-अधूरे के माध्यम से नाट्य लेखन को कई दिशाएं प्रदान करते हैं, उदाहरणार्थ नाटकीय संघर्ष पैदा करने के लिए उन्होंने अतिनाटकीयता का सहारा न लेकर एक आम, साधारण विषय-वस्तु का चुनाव किया है।

'आधे-अधूरे' में मोहन राकेश द्वारा नाट्य संरचना की दृष्टि से अपनी लोक परंपरा से लिया गया सूत्रधार का प्रयोग, जो सभी चरित्रों का अभिनय करता है, आधुनिक हिंदी नाट्य लेखन में महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस परंपरा का निर्वाह पूरे नाटक की मूल विषय-वस्तु के ताने-बाने में इतने कौशल के साथ किया गया है कि आरोपित न प्रतीत होकर नाटक के कथ्य का एक अनिवार्य अंग बन जाता है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' की संरचना में सही अर्थों में यथार्थवादी भाषा, विषय-वस्तु, चरित्र चित्रण, ध्वनियां आदि का कुशलता से सामंजस्य किया गया है और इसी जटिल रूप का इस्तेमाल प्रस्तुति में किया गया है। प्रस्तुति लोक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए छः सदस्यों का कोरस भी शामिल किया गया है, जो सूत्रधार का विकसित रूप है। कोरूस चरित्रों की आन्तरिक भाषा को शब्द देता है तथा कई बार मंच निर्देश भी बोलता है। इस प्रकार नाटकीय स्थितियों पर अपनी प्रतिक्रिया तथा प्रबल मनोभावों के प्रति तटस्थ दृष्टि भी प्रदान करता है। अप्रिय एवं कर्कश संगीत का प्रयोग मात्र नाटकीय चरमोत्कर्ष के लिए ही नहीं है, बल्कि चरित्रों के जीवन में व्याप्त कटुता एवं कर्कशता को प्रकट करने के लिए है। संगीत, वातावरण की ध्वनियों से इतना जुड़ा हुआ है कि किसी चरित्र के स्वर से अथवा किसी वस्तु विशेष की आवाज से शुरू या खत्म होता है। कई स्थल पर यथार्थवादी मनोभाववादी की अतिरंजना के लिए भी शुद्ध ध्वनियों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रस्तुति में घोर यथार्थवादी एवं अतिनाटकीय तत्वों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया है जिसके माध्यम से नाटक का मूल कथ्य अपनी पूरी प्रखरता से उजागर होता है, जिसका संबंध एक मध्यवर्गीय परिवार की भयानक स्थिति, उनका झूठा दिखावा और पारिवारिक संबंधों की असफलताओं के सत्य का सामना न करने की नपुंसकता से है। 'आधे-अधूरे' हमारे यथार्थ का संपूर्ण प्रतिबिंब है तथा नाटककार की असमझौतावादी साफगोई की रोशनी में प्रकाशित चरित्रों में दर्शक अपने-आपको देखकर अंदर ही अंदर हिल उठता है।

2.2 आधे-अधूरे की नाट्यभाषा

मोहन राकेश की रंगदृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण आयाम एक नई नाट्यभाषा की अनवरत तलाश है जो अपने समय के जटिल जीवन अनुभव को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त कर सके। नाट्यभाषा की बनावट की सही पहचान हिंदी नाटक को उनका सबसे बड़ा योगदान कहा जा सकता

है। प्रसिद्ध नाटककार आइनेस्को की मान्यता है कि कलाकार भाषा को बदलकर ही पुराने कथानकों को नया रूप दे सकता है। उनके अनुसार चली आती हुई भाषा के संश्लिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिहाज से नाकाफी है अत: एक नई नाट्यभाषा की तलाश आवश्यक है। एक ऐसी भाषा जो दृश्य हो, जो मंच की भाषा हो, ज्यादा प्रत्यक्ष, ज्यादा विश्वसनीय और अपने प्रभाव में शब्दों से कहीं अधिक शक्तिशाली।

2.2.1 रंगमंच के अनुकूल शब्दों का चयन

हिंदी नाट्य साहित्य में नाटक एवं रचनात्मक भाषा के संबंध की पूरी निष्ठा के साथ तलाश एवं इस प्रक्रिया में एक नई नाट्य भाषा के विकास का प्रयास सर्वप्रथम राकेश में ही दिखाई देता है। साहित्य में भाषा के पक्ष को लेकर राकेश कितने जागरूक थे, यह 'बकलम खुद' में अभिव्यक्तउनके इस वक्तव्य से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है-

''अभिव्यक्ति के लिए भाषा से उलझने की समस्या हर लेखक के सामने आती है- अर्थात हर सचेत और अनुभूति प्रवण लेखक के सामने। समस्या नहीं आती तो उन लोगों के सामने, जो अनुभूति और चिंतन की दृष्टि से अंदर से बिल्कुल साफ हैं या केवल कुछ एक बेसिक अनुभूतियों और विचारों के दायरे में सोचते रहते हैं। उनके मन की हर बात पहले से ही किसी न किसी की कही और सोची हुई बात होती है। हजारों बार कही और सोची हुई बातों की कार्बन कॉपी तैयार करने में समस्या पैदा ही कहां होती है? जब एकाध विचार और दो-एक अनुभतियों से आगे व्यक्ति का मन यात्रा ही न कर पाता हो तो उलझे हुए रास्ते पार करने की समस्या ही नहीं होगी, उसके लिए साधन ढूंढ़ने की बात तो बाद में आती है।''

मोहन राकेश का उपर्युक्त वक्तव्य भाषा के संबंध में उनकी जागरूकता को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने तब लिखना शुरू किया जब देश मोहभंग के काल से गुजर रहा था। स्वतंत्रता के बाद एक ओर देश का विभाजन जैसी राजनीतिक विपत्ति थी जिसके लाखों लोग शिकार हुए तो दूसरी ओर उससे भी अधिक दर्दनाक थी विभाजन के बाद की परिस्थिति एवं जीवन के सभी पहलुओं में बढ़ता पतन। इस मूल्यहीनता की स्थिति ने न केवल करोड़ों लोगों को प्रभावित किया बल्कि अधिकांश को अंदर से खोखला कर दिया। जाहिर है स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई जीवन और अनुभूतियों की इस जटिलता को पारंपरिक भाषा पूरी प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती थी। जो भाषा राकेश को विरासत में मिली थी, वह मु□यत: प्रसाद की अभिजात्य भाषा थी। यह भाषा काव्यात्मक होते हुए भी समसामयिक जीवन के रंग को पकड़ पाने में पूरी तरह समर्थ

नहीं थी। अत: एक ऐसी नाट्यभाषा की तलाश आवश्यक थी जो रंगानुकूल होने के साथ-साथ समसामयिक जीवन की जटिलता को प्रमाणिक रूप से अभिव्यक्त दे सके।

एक शिल्पकार की तरह राकेश अपने शब्दों, वाक्यों और मुहावरों को निरंतर संशोधित, परिवर्तित करते रहते थे। वह 'शब्दो को रंगमंच का बुनियाद एवं अनिवार्य तत्व मानते थे, इसीलिए एक सटीक एवं रंगानुकूल नाटकीय शब्द की तलाश में वे लगातार करते रहे। राकेश का यह कथन कि 'रंगमंच मूलत: एक श्रव्य माध्यम है, नाटक के संबंध में चली आ रही परंपरागत धारणा को बिल्कुल छिन्न-भिन्न कर डालता है। लेकिन उनका वक्तव्य महज चौंकाने वाली कोई युक्ति नहीं है, बल्कि भाषा और शब्द को लेकर उनके द्वारा किए गए गंभीर शोध पर आधारित है। अपने अप्रकाशित नाटक 'पैर तले की जमीन' में एक स्थान पर वह तीन भिन्न दृश्यों को एक दूसरे में घुलते हुए दिखाना चाहते थे। इसके लिए उनका फुटनोट इस प्रकार है-

''इन्हें थिएट्रिकली प्रतिष्ठित करो, शब्दों और ध्वनियों के द्वारा।''

राकेश का उपर्युक्त कथन नाटककार की इस मान्यता को स्पष्ट करता है कि शब्द और ध्वनियां ही रंगमंच की जान है, न कि बिंब, जैसा कि पारंपरिक रूप से समझा जाता रहा है। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए राकेश लिखते हैं-

''शब्दों और ध्वनियों को नाटकीय रंगमंच का आधार मानने का अर्थ बिंब का अस्वीकार नहीं है। अर्थ केवल इतना है कि इस माध्यम की आंतरिक निरंतरता शब्दों और ध्वनियों पर निर्भर करती हैं। सिनेमा मूलत: एक दृश्य माध्यम है जहां शब्दों और ध्वनियों की एक सहायक अत: गौण भूमिका है। वहां दृश्य की अपेक्षा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का संयोजन होता है और उस माध्यम की प्रगति को देखते हुए लगता है कि आगे चलकर उसकी आधारभूत विशेषता और रेखांकित होगी। इसके विपरीत रंगमंच मूलत: एक श्रव्य माध्यम है। रंगमंच में दृश्य की आपेक्षिक स्थिरता के बावजूद जो एक आंतरिक गति रहती है, वह शब्दों और ध्वनियों की निरंतरता से ही उपजती है, क्योंकि यहां जो 'देखा जाता है वह सुने जा रहे' का ही रूपांतर होता है।''

राकेश का उपर्युक्त वक्तव्य रंगमंच में शब्द की बुनियादी भूमिका को उद्घाटित करता है। उनके अनुसार दृश्य नाटक का अनिवार्य तत्व होते हुए भी वह अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। वह शब्द की ही परिणति है। रंगमंच की इस शब्द निर्भरता के कारण प्रत्येक नाटककार की सफलता शब्दो और ध्वनियों के सार्थक संयोजन में निहित होती है। राकेश के अनुसार नाटक में अलग से दिए गए रंग निर्देश या प्रस्तुत की गई सामग्री उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती, जितना शब्दों और ध्वनियों का संयोजन, क्योंकि रंगमंच में बिंब का उद्भव शब्दों के बीच से ही होता है। उनके अनुसार किसी भी नाटक की सफलता नाटकीय प्रयोजन से युक्त शब्दों के सटीक प्रयोग पर

निर्भर करती है। शब्दों का अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग वास्तविक रंग-सिद्धि में बाधक ही सिद्ध होता है। रंगमंच में शब्दों की इस महत्वपूर्ण भूमिका को उद्घाटित करते हुए राकेश लिखते हैं-

''रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग से नहीं। शब्दों की बाढ़ से, या बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से, रंग-सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि बिंब को जन्म देने के साथ-साथ उस बिंब से संयोजित रहने की संभावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है।''

शब्दों और ध्वनियों को रंगमंच का बुनियादी तत्व मानने के कारण ही राकेश आजीवन नाटकीय शब्दों की तलाश में लगे रहे। उनके सभी नाटक रचनाकार की शब्द संबंधी मान्यता पर खरे उतरते हैं तथा नाटकीय संभावना से युक्त शब्दों के सटीक प्रयोग का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राकेश की रचनाओं में पहली बार भाषा नाटककार के अतिरिक्त शब्द-मोह, नाटकीय दृष्टि से निरर्थक शब्दजाल के आग्रह और आलंकारिकता के लबादे से सहसा मुक्त हुई है। यद्यपि अपने पहले दो नाटकों 'आषाढ़का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' में संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक भाषा के प्रयोग के कारण नाट्य-समीक्षकों ने राकेश को प्रसाद की परंपरा का वाहक माना है, लेकिन कई मायनो ंमें राकेश की नाट्यभाषा, प्रसाद की नाट्यभाषा से बुनियादी रूप से भिन्न है। प्रसाद के नाटकों में काव्यात्मकता और अलंकारप्रियता कई स्थानों पर नाट्यभाषा को बांधती हुई चलती एवं रंग-सिद्धि में बाधा उत्पन्न करती है वहीं राकेश की भाषा साहित्यिक होते हुए भी नाटकीय संभावना से युक्त है एवं आम बोलचाल के काफी निकट है।

'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश ने एक अनूठा प्रयोग यह किया कि एक मु□य पुरुष को पांच भूमिकाएं करने के लिए नियुक्त किया। पहले वह काले सूट वाला सूत्रधार बनता है फिर एक के बाद एक ऊपरी वस्त्र बदल-बदल कर रंगमंच पर आता है- महेंद्रनाथ, सिंघानिया, जगमोहन और जुनेजा बनकर। किन्नी, बिन्नी अशोक की वेशभूषा में परिवर्तन नहीं होता केवल सावित्री दूसरे अंक के लिए साड़ी बदलती है। यह खुले एवं बंद नाट्यगृहों दोनों में प्रभावशाली तरीके से मंचित होने वाला नाटक है। मध्यवर्गीय अभावग्रस्त घर को दिखाने के लिए टूटा-फूटा सामान और फर्नीचर प्रयोग किया गया । पात्रों को बिना मेकअप के प्रस्तुत किया गया। ध्वनि, प्रकाश और संवाद का संयोजन अद्भुत था। धाराप्रवाह बोले जाने वाली बातों की गहनता भी छूती है और धारावाहिक रूप से बाले जाने वाले छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभाव भी अमिट बन रहता है।

मोहन राकेश ने मंच और पात्रों की चमक-दमक के स्थान पर यथार्थ प्रस्तुति देने का प्रयास किया है जो मध्यवर्गीय परिवार के संघर्ष और अनुभूतियों को जीवंत बनाता है। मोहन राकेश प्रयोगधर्मी नाटककार हैं। नाटक के कथ्य को आम जनता तक पहुंचाने के लिए उन्होंने सरल, आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। अत: जहां-जहां इस नाटक का मंचन हुआ वहां उसने सफलता, ख्याति और प्रशंसा प्राप्त की। हिंदी नाटककार समकालीन स्थितियों और जीवन से जुड़े चरित्रों को लेकर एक सफल नाटक लिख सकता है, यह बात मोहन राकेश ने सिद्ध कर दिखायी। तीन बच्चों की मां सावित्री का चरित्र दर्शकों को गहराई तक झकझोर देता है। असफल, नाकारा पति महेंद्रनाथ, और सावित्री की भटकन दर्शकों को आम जीवन के बीच ले जाती है।

कलकत्ता के श्यामानंद जालान लिखते हैं- ''आधे-अधूरे'' मोहन राकेश द्वारा रचित एक जीवन्त नाट्य रूप और हिन्दी नाटक लेखन में नाटकीय संवाद की खोज का चरम बिंदू है।'' नाटक में उपस्थित दृश्य जैसे सामानों पर छाई धूल और सावित्री का उसे झाड़ना संकेतात्मक है कि रिश्तों पर गलतफहमी की धुंध पड़ गयी है जिसे सावित्री साफ करने का प्रयास करती है। फटी पत्रिकाएं, दीमक लगी फाइलें, टूटी प्लेटें, बिखरा सामान, घर में छाई कुंठा, तनाव और उदासी को व्यक्त करते हैं। कलात्मक दृष्टि से देखने वालों ने इसे दोष भी कहा किंतु यथार्थ को जानने-परखने की दृष्टि से लैस दर्शकों की भीड़ ने राकेश जी की प्रयोगधर्मिता को सराहा। आधे-अधूरे अपने युग की सफलतम कृति है, जिसे दर्शनीयता और पठनीयता दोनों दृष्टियों से सफल कहा जा सकता है।

2.2.2 भाषा शैली

भाषा और संवाद का विकास इस नाटक में शब्दों के चुनाव और विन्यास के रूप में दिखाई देता है। अभिव्यक्ति, बल्कि निश्चित और प्रभावकारी ढंग से संप्रेषण की निरंतर ललक। अर्थ और ध्वनि दोनों के माध्यम से न सिर्फ विचार बल्कि भावावेग के संप्रेषण की भी। 'आधे-अधूरे' की प्रभावी भाषा उसी खोज की उपलब्धि है, जो 'लहरों के राजहंस' के प्रथम लेखन के बाद शुरू हुई थी और उस नाटक के संशोधित रूप में मौजूद है, और जो 'आधे-अधूरे' में खिलकर आयी है।

'आधे-अधूरे' की बहुत बड़ी विशेषता नाटक की रंगमंच की भाषा के प्रति गहरी समझ है। रंगमंच, दृश्य एवं श्रव्य तत्वों का माध्यम है, और इस क्षेत्र में मोहन राकेश, नई, जमीन रचते हैं। नाटकीय उपलब्धियों के लिए अमूर्त काव्य आदि साहित्यिक रुढ़ियों का मोह छोड़कर 'आधे-अधूरे' रोजमर्रा के जीवंत यथार्थ को प्रस्तुत करता है। यह यथार्थ अपने आप में जटिल है जो कि सूत्र में बंधना या परिभाषित होना स्वीकार नहीं करता है किंतु साथ ही अपनी लगातार

परिवर्तनशीलता तथा रहस्यात्मक विशेषता के कारण उत्तेजक है। यह अपरिभाषित एवं जटिल यथार्थ केवल इस नाटक के कथ्य का ही नहीं बल्कि इसमें प्रयुक्तभाषा का भी निर्धारण करता प्रतीत होता है। इस प्रकार कथ्य एवं रूप ने एकाकार होकर इस नाटक को रूप दिया है जिसके आधार पर इसे आधुनिक यथार्थवादी नाट्य लेखन में 'क्लासिक' की संज्ञा दी जा सकती है।

नाटक की भाषा सादी, सच्ची और एकसमान तनाव-भरी है। इसमें एक ओर जहां बोलचाल की भाषा की लय और उसकी बुनावट है, वहीं दूसरी ओर सहज प्रवाह एवं स्वत: स्फूर्तता भी है। अनुभूति की सूक्ष्मता को प्रकट करने वाले ध्वनि और मौन के समन्वय की गहरी समझ रखने वाला केवल एक श्रेष्ठ रचनाकार ही वह उपलब्ध कर सकता था जो राकेश ने किया है। संभवत: मुखर मौन में भी नाटक-तत्व अधिक रहता है- सघन संवाद की अपेक्षा अनुच्चरित विचारों में। जैसा कि संगीत में है जो मौन ध्वनि की व्यवस्था का एक भाग होता है। 'नाटकीय शब्ध' के लिए राकेश का स□मोहन उनकी खोज का एक हिस्सा है- अस्तित्व के जटिल, गहरे एवं सूक्ष्म स्तरों की अभिव्यक्ति के लिए, और उस भाषा को पकड़ने के लिए, जिसमें हमारे समय के विखंडित व्यक्तियों के प्रामाणिक स्वर बोल सकें।

इस नाटक की शक्ति घोर साहित्यिक एवं कृत्रिम भाषावली से मुक्त है। यह वो सहज भाषा है जो हम रोजमर्रा की जिंदगी में बोलते हैं, किंतु जिसमें हमारे सभी अनकहे भावों की कसमसाहट मौजूद है और प्रकटत: बिना काव्यात्मक होते हुए भी जिसमें काव्य का अनुपम सौंदर्य है। संप्रेषणीयता के साथ-साथ भाषा में ध्वनियों की सजगता भी शामिल है। ध्वनियों, जैसे अशोक की कैंची की ध्वनि, टिनकटर, कप-प्लेटों की या महेंद्र के फाईल झटकने की आवाजें आदि जो एक ऐसा वातावरण निर्मित करती है जिसमें चरित्रों की आंतरिकता मुंह से बोलने की अपेक्षा अधिक मुखर हो उठती है। इन आवाजों और कुछ दृश्य बिंबों के अतिरिक्त मोहन राकेश ने, अपने मंच-निर्देश के अनुसार कुछ अन्य रोजमर्रा के हाव-भावों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से किया है- जैसे सावित्री टेबल कवर को खींच कर उसमें अपना मुंह छिपा लेती है या परेशान सी अपने पर्स को टटोलती है। इन भावों में चरित्र की आंतरिक वेदना एवं खोयापन अपनी पूरी शक्ति एवं समग्रता से प्रकट होता है।

गतिविधि

मोहन राकेश की प्रयोगधर्मिता पर अपने मित्रों के साथ मिलकर एक परिचर्चा का आयोजन करें।

क्या आप जानते हैं ?

मोहन राकेश को 'आधे-अधूरे' और 'आषाढ़ का एक दिन' की रचना के लिए सन् 1968 में 'संगीत नाटक अकादमी' भारत सरकार द्वारा स□मानित किया गया।

2.3 सारांश

'आधे-अधूरे' महानगरीय आधुनिक भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में व्याप्त बिखराव एवं संत्रास की कहानी है। यह स्त्री-पुरुष के बीच लगाव एवं तनाव, आसक्ति एवं विरक्ति का दस्तावेज है, जो आडंबर हीन, अकृत्रिम शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसका कथानक एक मध्यवर्गीय घर पर केंद्रित है। इस घर में एक स्त्री सावित्री, उसका पति महेंद्रनाथ तथा तीन बच्चे बिन्नी और किन्नी बेटियां तथा एक बेटा अशोक रहते हैं। ये सभी सदस्य साथ रहते हुए भी एक-दूसरे से कटे हुए, एक-दूसरे को नापसंद करते हुए, मन से दूर-दूर हैं। सावित्री इस कथा की धुरी हैं, मुख्य नायिका है। यह संघर्ष करती हुई, अकेली नौकरी करके परिवार का भरण-पोषण करती हुई सहानुभूति की पात्र लगती है लेकिन वहीं दूसरी ओर अनेक पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करती हुई वह चारित्रिक दृष्टि कमजोर महिला दिखाई देती है। पति महेंद्रनाथ व्यवसाय में सब कुछ गंवाकर बेरोजगार घर में बैठा रहता है। लड़का अशोक भी नकारा है। वह न शिक्षा में दिलचस्पी लेता है न व्यवसाय में। एक लड़की से प्रेम करता है और घर की चीजें उठा-उठाकर उसे उपहार में दे देता है। फिल्मी पत्रिकाएं पढ़ना, तस्वीरें काटकर रखना और आवारागर्दी करना, यही उसके काम हैं। वह मां के व्यवहार से और पिता से भी असंतुष्ट खींझ से भरा दिखाई देता है। बड़ी लड़की बिन्नी मनोज नामक युवक के साथ भागकर विवाह कर लेती है। लेकिन विवाह के बाद भी उसका असंतोष और भटकन समाप्त नहीं होती। वह बार-बार भागकर मायके आ जाती है। मनोज अच्छा व्यक्ति है लेकिन पहले वह सावित्री का अर्थात बिन्नी की मां का प्रेमी या मित्र हुआ करता था। सावित्री के लिए ही घर आता था, सावित्री उस अपने से आयु में छोटे युवक के भीतर भी अपनी संतुष्टि को तलाशती थी। उसे आश्चर्य हुआ जब वह उसकी बेटी को लेकर भाग गया और फिर उसके साथ विवाह करके गृहस्थी बसा ली। बिन्नी यह नहीं समझती थी कि उसके पति के साथ उसकी मां के संबंध कैसे थे। सावित्री की अतृप्त इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं के संस्कार बिन्नी में भी है। वह भी सदैव बेचैन रहती है। मनोज चूंकि मां और बेटी दोनों के निकट रहा है इसलिए वह दोनों की असंतोषी प्रवृत्ति को जानता है। अत: बिन्नी जब भी बहस करती है, वह कहता है कि- ''तुम इस घर से ही ऐसी चीज लेकर गई हो जो तुम्हें स्वाभाविक नहीं रहने देगी।'' बिन्नी मनोज की बात को सच मानती है, वह जानना चाहती है कि वह

ऐसी क्या चीज उसके भीतर है जो उसे स्वाभाविक नहीं रहने देती। वह हर काम मनोज की इच्छा के विरुद्ध करना चाहती है ताकि उसे चोट पहुंचा सके। मनोज को दुखी देखकर, उसे चोट पहुंचाकर उसे शांति मिलती है। वह नौकरी करना चाहती है क्योंकि मनोज को यह पसंद है। वह

सावित्री से पूछती है कि- दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में सांस लें, उतना ही ज्यादा वे एक-दूसरे से अजनबी होते जाते हैं क्या?

छोटी बेटी किन्नी स्कूल में पढ़ती है। कोई उसकी तरफ ध्यान नहीं देता। न उसके कपड़ों, मोजे, फीस, पढ़ाई के बारे में सोचता। वह लावारिस की तरह घूमती है। भाई की पत्रिकाएं पढ़ती है। अपनी पड़ोस की, स्कूल की लड़कियों से प्रेम-संबंधों की बातें करती है। एक तरह से उसका मानसिक और बौद्धिक पतन आरंभ हो गया है। वह चाहती है, उसे आम बच्चों की तरह माता-पिता, भाई-बहन का प्यार मिले सभी उसका ध्यान रखें लेकिन यह अभाव उसे विकृत मनोवृत्ति वाला बना देता है। आर्थिक अभाव के साथ-साथ आपसी सौमनस्य का अभाव उस घर में केवल तनाव और टूटन को जन्म देता है। और दिलचस्प बात यह कि सबके आरोपों का केंद्र बिंदु सावित्री बनती है जो घर की एक मात्र कमाने वाली सदस्य है।

महेंद्रनाथ सावित्री से और अपने परिवार से बहुत प्रेम करता है। लेकिन अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह करने में वह अक्षम है। उसके पास निर्णय लेने की शक्ति नहीं है, मित्रों की बातों में आकर वह व्यावसायिक क्षेत्र में सब कुछ गंवा बैठा। वह मित्रों द्वारा ही ठगा गया, ऐसा सावित्री मानती है। मित्रों की बातों से प्रोत्साहित होकर ही वह घर में सावित्री के साथ दुर्व्यवहार करता है। वह नकारा है। गृह स्वामी होते हुए भी उसकी हैसियत घर में एक 'रबर के टुकड़े' के समान या नौकर के समान है। वह सावित्री की कमाई पर पलता है। सावित्री के पुरुष मित्रों को जानता है। और यदा-कदा उन मित्रों के साथ सावित्री के अनैतिक संबंधों की चर्चा करके मन की भड़ास निकालता रहता है। अपने चोट खाए आत्मसम्मान को बचाने के प्रयत्न में कभी-कभी घर छोड़कर चला जाता है और दो-तीन दिन तक नहीं लौटता।

सावित्री दिन भर नौकरी करने के बाद शाम को घर लौटती है तो उसे घर का सामान बिखरा हुआ, अस्त-व्यस्त मिलता है, पति और बच्चे भी घर पर उसकी प्रतीक्षा करते नहीं मिलते तो वह आहत होती है कि न बच्चे और न पति उसकी प्रतीक्षा में मिलते हैं। न घर, घर जैसा व्यवस्थित मिलता है। वह थकी हुई अवस्था में बड़बड़ाती जाती है और घर को व्यवस्थित करती है। पति और बेटे को नौकरी मिल सके इसलिए वह अपने बॉस से घनिष्ठ संबंध बनाती है, उसे घर बुलाती है और चाहती है कि घर के लोग उसका स्वागत करें। लेकिन उसके बॉस या पुरुष मित्रों का इस तरह घर आना, सावित्री के साथ घूमना बच्चों को पसंद नहीं है, न महेंद्रनाथ को। वे जुनेजा, सिंघानिया मनोज आदि के साथ सावित्री के संबंधों को अनैतिक और स्वार्थ प्रेरित मानते हैं। अशोक सावित्री से व्यंग्यात्मक वाद-विवाद करता है और स्पष्ट कर देता है कि उसके लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। इन बड़े-बड़े लोगों के आने से उन्हें अपमान और हीनता का बोझ होता है।

सावित्री आहत स्त्री है। वह बेटे द्वारा की गई उपेक्षा और तिरस्कार से आहत होकर निर्णय लेती है कि वह घर छोड़कर चली जाएगी। इस घर की चिंता नहीं करेगी केवल अपने सुखों और खुशियों का ध्यान रखेगी। सावित्री एक महत्वाकांक्षी स्त्री है। जीवन से उसे अनंत और बहुमुखी अपेक्षाएं हैं। वह सब कुछ, बहुत शीघ्र और एक साथ पा लेना चाहती है। यही कारण है कि महेंद्रनाथ से विवाह करने के बाद जब वह उसकी अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा तो उसे उससे वितृष्ण हो गई। यह कभी जुनेजा में सब कुछ ढूंढ़ने लगी, कभी सिंघानिया, कभी जगमोहन और कभी मनोज में-। वह अतृप्त स्त्री है। मन की अतृप्ति उसे अमर्यादित बना देती है। पर पुरुष के साथ घूमना, उसके साथ जीवन बिताने की योजना बनाना और स्वयं को कुटिलता पूर्वक परिवार के सुख-समृद्धि का कारण बता कर उसकी आड़ लेना उसकी चारित्रिक दुर्बलता को दिखाता है। महेंद्रनाथ की बेकारी उसे और भी कटु बना देती है। एक ओर घर चलाने का असह्य बोझ है और दूसरी ओर जिंदगी में सब कुछ न पा सकने की तीखी कसक। सावित्री कहती है कि वह अपनी बची खुची जिंदगी को एक पूरे, संपूर्ण पुरुष के साथ बिताना चाहती है। लेकिन यह उसकी भूल है, क्योंकि वह नहीं जानती कि संपूर्णता की तलाश ही बेगानी है।

नाटक के अंत में जुनेजा और सावित्री के बीच का संवाद न केवल सावित्री को आईना दिखाता है बल्कि सावित्री अपनी बर्बाद गृहस्थी का आरोप जुनेजा पर मढ़ देती है। जुनेजा उससे कहता है कि- तुम्हारी महेंद्र के संबंध में जो मानसिकता है कि वह अपूर्ण पुरुष है, गलत है। तुम जिस तरह अतृप्त, असंतुष्ट हो वह सोच और भटकन तुहारी प्रवृत्ति है। तम्हारा विवाह महेंद्र से न होकर जगमोहन से, शिवजीत से, जुनेजा, सिंघानिया या मनोज किसी से भी होता, अंततः उस पुरुष के संबंध में तुम्हारी यही धारणा होती। क्योंकि तुम सब कुछ एक साथ, एक व्यक्ति में पाना चाहती हो, जो संभव नहीं है। कोई भी व्यक्ति संपूर्ण नहीं होता। हर व्यक्ति को हर चीज एक साथ नहीं मिलती। सब को सब कुछ नहीं मिलता लेकिन तुम सुख, शांति को अपने भीतर न तलाश कर बाहर तलाशती हो इसलिए तुम भटकती रही हो। एक पुरुष से दूसरे पुरुष और दूसरे से तीसरे तक की यात्राओं का कोई अंत नहीं है। महेंद्रनाथ सब कुछ जानते हुए भी सावित्री के पास लौट आता है। वह घर से प्रेम करता है, एक ऐसा घर जिसमें घर जैसी स्निग्धता, सुरक्षा, शांति के भावों और उष्मा का लोप है। जहां बच्चे माता-पिता का सम्मान नहीं करते। जहां पिता बच्चों को पिता जैसी सुरक्षा, प्यार और सुविधाएं नहीं दे पाता। आलसी और कायर पिता जो केवल बड़बड़ाता है, सिगरेट पीता है और घर से कई-कई दिन गायब रहता है, को बच्चे अपना अभिभावक कैसे मान सकते हैं? मां पराए पुरुषों के साथ घूमती है और 'घर का बोझ ढो रही हूं' इस बात का रोना रोती रहती है। बच्चों के जीवन उनके संस्कारों और शिक्षा की ओर उसका ध्यान ही नहीं है। घर के इस तनाव, द्वंद्व और कटुता से भरे वातावरण का प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। छोटी लड़की भी बिगड़ती

जा रही है। बेटा पढ़ाई छोड़कर आवारागर्दी करता है और बड़ी बेटी ने भागकर विवाह कर लिया। छोटी-बेटी की जुबान कैंची की तरह चलती है। वह बदमिजाज होती जाती है। सावित्री को थोड़ी सहानुभूति केवल बड़ी बेटी से मिलती है।

यह घर आंतरिक स्तर पर टूटा पड़ा हुआ है। हर कोई संबंधों के स्तर पर अधूरा है। संतुष्टि और पूर्णता की तलाश में भटक रहा है। आर्थिक इस टूटन के लिए उत्तरदायित्व तो है ही साथ ही बड़ा हाथ मानसिकता का भी है। सावित्री अपनी कमजोरियों की वकालत करती है। वह स्वयं को सही सिद्ध करती है। महेंद्रनाथ के लिए उसका कथन है कि- ''आदमी होने के लिए क्या यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत हो? जब से मैंने उसे जाना है, हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी न किसी का सहारा ढूंढ़ते पाया है। वह खुद एक आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है।''

सावित्री महेंद्रनाथ से कभी संतुष्ट नहीं रही। वह कहती है कि आदमी घर बनाता है कि अपने अंदर के अधूरेपन को भरने के लिए, लेकिन महेंद्रनाथ सदा मित्रों के अधूरेपन को भरने की चीज बना रहा। व्यक्तित्वहीन पति के कारण उसके अंदर खीझ, ऊब और बेचैनी बढ़ती जाती है तथा वह महेंद्रनाथ से बेहतर इनसान खोजने के क्रम में कभी जगमोहन से निकटता बढ़ाती है, कभी सिंघानिया तो कभी जुनेजा से। महेंद्रनाथ को सावित्री के विभिन्न पुरुषों से संबंध की जानकारी है अत: समय-समय पर व्यंग्य करके वह अपनी खीझ व्यक्त करता रहता है।

मोहन राकेश ने स्त्री पात्रों को प्रमुखता दी है। महेंद्रनाथ को दब्बू और नाकारा दिखाया गया है। इस तरह घर की आर्थिक स्थिति की डोर सावित्री के हाथ में है। महानगर हों या गांव, आर्थिक समस्या मानव जीवन की प्रमुख समस्या है जो जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करती है। शिक्षा, रहन-सहन, आचार-विचार सभी इससे प्रभावित होते हैं। आधे-अधूरे के पात्रों को विकृत आचार-विचार वाला बनाने में इस समस्या की मुख्य भूमिका है। यदि महेंद्रनाथ एक जिम्मेदार कमाऊ पति होता तो सावित्री की नौकरी का उपयोग उसके मनोरंजन और ऐशो-आराम के लिए होता, घर चलाने के लिए नहीं। बच्चों की शिक्षा ठीक से हो पाती। बच्चों के भीतर अभावों से उत्पन्न क्रोध, खीज और हीनता की भावना नहीं होती। लेकिन पूरा दोष आर्थिक स्थिति को ही नहीं दिया जा सकता, क्योंकि बहुत गरीबी में जीवन बिताने वाले भी प्यार और सुख से रहते देखे जाते हैं।

दरअसल महानगरीय आधुनिक सभ्यता की देन है- असीम महत्वाकांक्षाएं, असंतोष, द्वंद्व, तनाव, कुंठा, अतृप्ति, भटकाव। यही सब कुछ सावित्री, बिन्नी, किन्नी, अशोक और महेंद्र में है। वे सभी असंतुष्ट और अधूरे हैं। सभी सुख और संतुष्टि के लिए गलत रास्तों का प्रयोग कर रहे हैं।

कथा पर दृष्टि डालें तो सावित्री का दोष अधिक दिखाई देता है, लेकिन दूसरी ओर आर्थिक स्थिति ठीक करने का संघर्ष करने वाली एक मात्र सदस्य वह है जिससे घर का कोई भी सदस्य सहानुभूति नहीं रखता, सिवाय बिन्नी के। अशोक का उस पर आरोप लगाना और कटु संवाद उसकी कृतघ्नता को दर्शाते हैं जो प्रवृत्ति वर्तमान युवाओं में अधिकतर देखी जा रही है। नाटक में पाश्चात्य संस्कृति का संक्रमण दिखाई देता है जहां सभी अपने-अपने सुख की खोज में भटक रहे हैं। मर्यादाहीन बच्चे, गरिमाहीन माता-पिता और संस्कारहीन घर, जो घर कम धर्मशाला अधिक लगता है।

आधुनिक परिवेश को अभिव्यक्ति करता यह नाटक मोहन राकेश की अनुपम कृति है जो मन पर अमिट प्रभाव छोड़ता है। तथापि विडम्बना यह है कि नाटक का एक भी पात्र ऐसा नहीं है, जिसका स्वभाव और व्यवहार अनुकरणीय हो। इन पात्रों से केवल यही सीखा जा सकता है कि मनुष्य को ऐसा नहीं होना चाहिए।

2.4 मुख्य शब्दावली

- रुतबा : पदवी।
- शिकंजा : पकड़/गिरफ्त।
- महसूस : अनुभव करना।
- आत्मकेंद्रित : स्वयं में केंद्रित।
- वर्चस्व : बोलबाला।
- बदमिजाज : चिड़चिड़े स्वभाव वाला।
- अकर्मण्यता : नकारापन, निकम्मापन।
- अभिनेयता : अभिनय किये जाने योग्य।
- दिग्दर्शक : दिशाओं का ज्ञान कराने वाला।
- अभ्यागत : अतिथि, साधु-संन्यासी, सामने आया हुआ।

2.5 – 'अपनी प्रगति जांचिए के उत्तर

1 सावित्री
2 . सावित्री
.3 चार
4 असमंजस की
.5 हिन्दी रंगकर्म को
6 1958
7 मौलिक रंगदृष्टि की तलाश पर
8 हल्दी, चंदन और गेरुए
-9 . वकील
10 अधूरी जिंदगी को पूरा करने का

11 पाश्चात्य संस्कृति
12 घर से बाहर चला जाता है
13 महत्वाकांक्षी एवं अकर्मण्य
14 सावित्री
15 . पूर्णता
16 रंगमंच का
17 'रंगमंच मूलत: एक श्रव्य माध्यम है'
18 नाटकीय शब्दों की
.19 क्लासिक
20 ध्वनि और मौन का समन्वय

2.6 : अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1 रंगमंच की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटकों की तुलना जयशंकर प्रसाद से करते हुए टिप्पणी लिखिए।
2 'आधे-अधूरे' नाटक के कथानक की बनावट पर अपने विचार को प्रस्तुत कीजिए।
3 इस नाटक की सबसे सक्रिय पात्र सावित्री के संघर्ष पर एक निबंध लिखिए।
4 'आधे-अधूरे' नाटक के आधार पर एक पति एवं पिता की भूमिका ने 'महेंद्रनाथ' के चरित्र की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5 बिन्नी और किन्नी पात्रों के माध्यम से नाटककार क्या कहना चाहता है ? समझाइए।
6 'आधे-अधूरे' में विद्यमान युग-बोध की समीक्षा कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1 निम्नलिखित अवतरणों की सप्रसंग व्या□या कीजिए-
(क) बड़ी लड़की मेरा अपना घर इस घर में ?
(ख) असल बात इतनी है कि नजर आता और तुम
2 'आधे-अधूरे' में विद्यमान आधुनिकता बोध का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
3 'नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखता है, उसे आंख मूंदकर अपनी कल्पना के रंगमंच पर घटित होते हुए भी देखें- इस कथन के परिप्रेक्ष्य में मोहन राकेश के रंगमंचीय प्रयोगों का विस्तार से विवेचन कीजिए।
4 पात्र एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'आधे-अधूरे' की समीक्षा कीजिए।
5 अभिनेयता की कसौटी पर 'आधे-अधूरे' नाटक की विशेषताओं का विस्तार से विवेचन कीजिए।
6 'आधे-अधूरे' की नाट्यभाषा का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।

7 'आधे-अधूरे' नाटक वर्तमान जीवन शैली की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। स्पष्ट कीजिए ?

2.7 आप ये भी पढ़ सकते हैं

- डॉ. मीना पिपलापुरे, मोहन राकेश का नारी संसार, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली 1987
- संपादक - नेमिचंद जैन, मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक, राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली 1999--
- डॉ. नगेंद्र, आधुनिक हिंदी नाटक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
- बच्चन सिंह, हिंदी नाटक, राधाकृष्टा प्रकाशन, दिल्ली
- गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
- डॉ. जयदेव तनेजा, राकेश रंगशिल्प और प्रदर्शन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

इकाई 3 निबंध-II

3.1 साहित्यकारों का दायित्व-मूल पाठ

भारतवर्ष पराधीनता के जाल से मुक्त हो गया है। हमें इस पुराने राष्ट्र के अनेक पुर्जे दुरुस्त करने पड़ेंगे, अनेक जंजाल साफ करने होंगे, प्रत्येक क्षेत्र में नव-निर्माण का व्रत लेना होगा। हम जो कुछ भी करने जाएंगे उसके लिए हमें साहित्य चाहिए। हमारे कई विश्वविद्यालयों ने हिंदी को उच्चतर शिक्षा का माध्यम मान लिया है, बाकी विश्वविद्यालय बहुत शीघ्र ही मानेंगे। इनमें अध्ययन-अध्यापन करने वालों के लिए साहित्य चाहिए। हमारी राजनीति और अर्थनीति अब सिर्फ घरेलू झगड़ों तक सीमाबद्ध नहीं रहेगी, उन्हें विदेशों के साथ संबंध स्थापित करना होगा। इसीलिए हमें अपने निकट और दूर के सहयोगी राष्ट्रों की भीतरी और बाहरी अवस्था की जानकारी आवश्यक होगी। इसके लिए भी हमें साहित्य चाहिए। बहुत शीघ्र ही इस देश के बड़े-बड़े न्यायालयों और व्यवस्थापिका सभाओं की बहसें और उसके निर्णय देशी भाषा में होंगे। इसके लिए भी हमें साहित्य चाहिए। अगर हमें संसार में महान राष्ट्र बनकर रहना है तो हमें अपनी समूची जनता को ज्ञान-विज्ञान के प्रति उत्सुक और मनुष्य के न्याय-अधिकारों के प्रति जागरुक बना देना होगा। कल तक हम बात बनाकर काम चला सकते थे, आज नहीं चला सकते। हमें जीवन के हर क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए साहितय चाहिए- साहित्य, जो मनुष्य-मात्र की मंगल भावना से लिखा गया है और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित है।

राजनीतिक पराधीनता बड़ी बुरी वस्तु है। वह मनुष्य को जीवनयात्रा में अग्रसर होने वाली सुविधाओं से वंचित कर देती है। हमने उस पराधीनता की जंजीरें तोड़ दी है। लेकिन सुविधाओं को पा लेना ही बड़ी बात नहीं है। प्राप्त सुविधाओं को मनुष्य-मात्र के मंगल के लिए नियोजित कर सकना ही बड़ी बात है। हमारी राजनीति, हमारी अर्थनीति और हमारी नव-निर्माण की योजनाएं तभी सर्वमंगलीय-विधायिनी बन सकेंगी जबकि हमारा हृदय उदार और और संवेदनशील होगा, बुद्धि सूक्ष्म और सारग्रहिणी होगी और संकल्प महान और शुभ होगा। यह काम केवल उपयोगी और व्यावहारिक साहित्य के निर्माण से ही नहीं हो सकेगा। इसके लिए साहित्य के उन सुकुमार अंगों के व्यापक प्रचार की आवश्यकता होगी जो मनुष्य को मनुष्य के सुख-दुख के प्रति संवेदनशील बनाते हैं। हमारा काव्य-साहित्य, कथा, अख्यायिका और नाटक-साहित्य ही हमें ऐसी सहृदयता दे सकते हैं। साहित्य का वह अंग केवल वाग्विलास का साधन नहीं होना चाहिए, उसे मनुष्यता का उन्नायक होना चाहिए। जब तक मानव-मात्र के लिए, मंगल के लिए इन्हें नहीं लिखा जाता, तब तक ये अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इस बात के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के प्रति हमारी जो परंपरालब्ध दृष्टि है, वह स्पष्ट और सतेज हो। हमारे पास प्राचीन आचार्यों का छोड़ा हुआ और दीर्घकाल का आजमाया हुआ ज्ञान-भंडार है। दुर्भाग्यवश अभी तक

वह साहित्य हमारी भाषा में नहीं आ सका है। परिणाम यह हुआ हे कि अभी तक हम अपनी ही जीवन-दृष्टि के बारे में अस्पष्ट भाव से सोचने के अभ्यस्त हो गए हैं। आये दिन तरह-तरह की बातें हमारे यहां की लिखी हुई बताई जाती हैं। आज जब हम नये सिरे से इस पुराने देश को गढ़ने का प्रयत्न करने जा रहे हैं, तो दीर्घकाल की साधना के फल इस विशाल ज्ञान-भंडार की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जो लोग साहित्य-निर्माण के कार्य में लगे हुए हैं उन्हें आलस्य और विचिकित्सा का भाव त्याग कर इसे नये और पुराने ज्ञान-भंडार को अपनी भाषा में ले आने के महान कार्य का आरंभ जल्दी ही कर देना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम देश की अग्रगति में सहायता नहीं ही पहुंचाएंगे, अपने प्रति देशवासियों की उपेक्षा और अवज्ञा के भाव को दृढ़ बना देंगे। इस प्रकार साहित्यकारों के सामने इस समय बहुत विशाल कार्य है।

यदि आप ध्यान से मनुष्य की अग्रगति का अध्ययन करें तो आपको मालूम होगा कि बहुत काल तक मनुष्य के हाथ में बाधाओं पर विजय पाने वाले साधन संयोगवश मिलते गए हैं। केवल पदार्थ-विधा, रसायनशास्त्र और प्राणितत्व के क्षेत्र में ही संयोग और दैव ने मनुष्य की सहायता नहीं की है, गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी उसने सहायता पहुंचाई है। संयोगलभ्य ज्ञान को लेकर मनुष्य ने अंधेरे में और टटोला है और थोड़ा-थोड़ा और आगे बढ़ता गया है। यह अवस्था अब कट गई है। अब मनुष्य सुचिंतित योजनाओं के आधार पर आगे बढ़ रहा है, परंतु सुचिंतित योजनाओं के भीतर ही इतिहास-विधाता का वरद हस्त उसे प्राप्त है। वह अधिक विश्वास और अधिक दृढ़ता के साथ बढ़ने का अवसर पा रहा है। नये-नये ज्ञान-विज्ञान में मानवहित को अधिक उदार, अधिक संयमी और अधिक शिष्ट होने को मजबूर किया है। यह और बात है कि वह उतना शिष्ट और उदार नहीं हो सका है, जितना होना चाहिए। क्योंं नहीं हुआ है, यह विचारणीय प्रश्न है। विज्ञान बहुत बड़ी शक्ति है। शक्तिशाली के पास उदार और शुभानुध्यायी बुद्धि होनी चाहिए, नहीं तो शक्ति सत्यानाश की ओर घसीट ले जायेगी। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक साधनों को हथियाता गया है, त्यों-त्यों वह बड़े-बड़े राज्यों का और विशाल उत्पादन-यंत्रों का संघटन करता गया है और संसार के सुदूर प्रांत में स्थित देशों को सहज-सभ्यता बनाता गया है। आज इन सबकी सम्मिलित शक्ति इतनी विकट दानवाकार बन गई है कि आश्चर्य होता है। इन बड़े-बड़े राष्ट्रों के पास नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के लिए सुचिंतित योजनाएं हैं। उनकी पोषक और विरोधी शक्तियों का पूरा ब्यौरा जानकर ये काम किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का प्रभाव हमारे ऊपर नाना भाव से पड़ता है। हमारी राजनीति, अर्थनीति, यहां तक कि शिक्षणनीति भी इनसे प्रभावित होती है, परंतु परिणाम देखकर निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इन महान साधनों के मालिकों में उदार हृदय नहीं है, चरित्र-बल नहीं है और शुभानुध्यायी बुद्धि नहीं है। अत्यंत घिनौने युद्ध,

बुद्धिमत्तापूर्ण मिथ्या प्रचार और राग-द्वेष से विषायित प्रतिस्पर्द्धा यही सिद्ध करा रही है कि नियमित प्रयत्नों और सुचिंतित योजनाओं के बल पर विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्तिऔर भी शक्तिशाली होती जाएगी, उसे रोकना अब संभव नहीं है। नदी की धारा को मोड़ना दुष्कर है। इसलिए मैं बराबर सोचता हूं कि यह क्याा ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिए। क्याा कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाया जा सके ? मेरे पास इसका एक ही उत्तर है। यह उपाय है, उदार और सरस साहित्य। मेरा मन बार-बार ग्लानि और क्षोभ के साथ जानना चाहता है कि साहित्यिक कहे जाने वाले लोग, जिनका काम ही विश्व को सरस, स्निग्ध और उदार बनाना है, जो संवेदनशीलता को इतना बहुमान देते हैं, विज्ञान की इस बढ़ती हुई शक्ति के साथ क्याा ताल मिलाकर चल सके हैं ? बाधाएं हैं, मैं उन्हें स्वीकार करता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि संसार के अनेक साहित्यकार बार-बार सचेत करते आए हैं कि विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्‌बोधन का सामंजस्य होना चाहिए। संकीर्ण राष्ट्रीयता, मोहग्रस्त जातिप्रेम और पथभ्रांत व्यापार-वाणिज्य के साथ विज्ञान के सार्वभौम सत्यों का कोई मेल नहीं है, अंधाधुंध बढ़ाने वाली अनियंत्रित उत्पादन-व्यवस्था के साथ मनुष्य के जीवन सार्वजनीन रागात्मक संबंधों का विरोध अवश्यंभावी है, परंतु मुझ यह भी मालूम है कि ऊंचे सिंहासनों तक इन साहित्यिकों की वाणी नहीं पहुंची है। शक्ति-मद से मत्त लोगों ने इन चेतावनियों का उपहास किया है। हमारे देश के श्रेष्ठ साहित्यकार कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने नाना भाव से यह संदेश मदगर्वित राष्ट्रनायकों तक पहुंचाना चाहा, परंतु संदेशा या तो सुना ही नहीं गया या सुनकर भी उपेक्षित हुआ। मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि झूठी, विद्वेष-प्रचारिणी और विषैली बातों का जितना तेजी से प्रचार किया गया है, उतनी ही निर्दयतापूर्वक इन शुभ-विधायी वाणियों की अवहेलना की गई है। साहित्यकारों के विचारने के लिए यह बड़ा भारी प्रश्न है। हार तो माननी ही नहीं है। हमें आज सावधानी से बाधक तत्वों का अध्ययन करना है और देखना है कि हमारे मंगल प्रयत्न अरण्य-रोदन सिद्ध न हों। आग्र संसार को महानाश से बचाना है तो साहित्यिकों को विराट प्रयत्न करने होंगे। इन बाधक तत्वों से जूझना होगा। यह मत सोचिये कि हम दुनिया के एक कोने में पड़े हुए ऐसी भाषा के साहित्यिक हैं जो भारतवर्ष की चहारदीवारी के बाहर समझी ही नहीं जाती। इसलिए हमारे प्रयत्न से दुनिया की मदगर्वित राष्ट्रनीति में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। मैं कहना चाहता हूं कि आज हम यह भूल नहीं जाएं कि हिंदी दुर्बलों की दुर्बल भाषा है। वह संसार की अत्यंत शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि चीन, थाईलैंड, जावा, सुमात्रा आदि एशियाई देशों में हिंदी सीखने की उत्सुकता बहुत बढ़ गई है। यह निश्चित मानिये कि इन

देशों के लोग केवल अक्षर-बोध के लिए हिंदी सीखना नहीं चाहते। वह बड़ी चीजों को पाने की आशा से इधर झुके हैं और अगर आपने बड़ी बातें देने और लेने का प्रयत्न किया तो आपके प्रयत्न उपेक्षित नहीं होंगे। मनुष्य-जाति का अधिकांश इन्हीं देशों में बसा है। इन देशों के मनुष्यों की चिंतन-धारा अगर मंगल-विधायिनी होगी तो समूची मनुष्यता के लिए वह हितकर होगी। साहित्य-सेवा का अवसर पाना बड़े सौभाग्य की बात है और हिंदी साहित्य की सेवा पाना किसी प्रकार कम सौभाग्य नहीं है। यदि हममें दृढ़ निश्चय होगा तो हम निश्चय ही संसार को उदार और चरित्रवान बना सकेंगे और संसार को महानाश के गर्त में गिरने से उबार सकेंगे। इस समय हमें धीर भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है।

यह लक्ष्य क्या है? देश के स्वतंत्र हो जाने पर हमें राष्ट्र-निर्माण के लिए अनेक प्रयत्न करने होंगे। हमारे साहित्यिक नेताओं ने इस मंच से अनेक उपाय सुझा रखे हैं। इस प्रकार हमारे पास न तो काम की कमी है न उपाय की। परंतु ये काम और ये उपाय हमारे अंतिम लक्ष्य नहीं है। हमारे नेताओं की सुझाई गई योजनाओं के कार्यान्वित होने में कई बाधाएं हैं। बड़ी भारी बाधा हमारी सामाजिक व्यवस्था ही है। मनुष्य की आदि वृत्तियों को प्रलुब्ध करने से वह लाभ-हानि की चिंता छोड़ देता है। यदि इन वृत्तियों को ही प्रधान उपजातीय बनाकर आदमी कारबार शुरू करने की छूट पा जाए तो वह निश्चय ही सफलता पा जाएगा। फिर वह यह परवाह नहीं करता कि इससे उसकी दीर्घकाल की प्राप्त की हुई साधना म्लान हो जाती है या नहीं, त्याग और बलिदान से प्राप्त की हुई मनुष्यता म्लान होती है या नहीं। दुर्भाग्यवश इस समय जो व्यवस्था हमारे सिर पर है, उसमें इस बात की छूट है। मनुष्य के पशु-सामान्य मनोभावों को सहला कर रुपया कमाना इस व्यवस्था में एक हद तक विहित है। साहित्य के द्वारा, रंगमंच के द्वारा और सवाक्-पट के द्वारा बहुत-से व्यवसायी उस ओर लग गए। जिन विषयों के गंभीर अध्ययन से मनुष्य का परिष्कृत और हृदय सुसंस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है, और उसके लिए बाजार आसानी से नहीं मिलता। इसीलिए कितनी भी अच्छी योजना बनाइए और कितनाा भी सुंदर उपदेश सुना जाइए, सात्विक साहित्य की ओर प्रवृत्ति नहीं जाती और हल्के ढंग का साहित्यिक बाजी मार ले जाता है। यह सच्चाई है। फिर भी इस समूची विरोधियों के होते हुए भी हिंदी में गंभीर और अध्ययनशील साहित्य का सर्जन हुआ है, क्योंकि मनुष्य का इतिहास ही सद्वृत्तियों की विजय का इतिहास है। असामाजिक मनोवृत्तियों को दबाकर समाज की मंगल विधायिनी प्रचेष्टाओं के उत्कर्ष का इतिहास है। हर्ष की बात है कि इस देश के विश्वविद्यालय हिंदी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करते जा रहे हैं। इनके लिए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता बी जरूर होगी। इनके लिए बाजार भी मिलेगा और इनसे रुपया भी कमाया जा सकेगा। गंभीर साहित्य भी इस बहाने कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा जाएगा। इस

कार्य में आप हाथ-पर-हाथ धरे बैठ नहीं सकते और 'क' नहीं तो 'ख' इस काम को कर ही लेगा। जिसके लिए बाजार मे ेंमांग होगी, उसका उत्पादन होकर ही रहेगा। उसके लिए आपको संगठन और सुनिश्चित योजना बनाने की चिंता नहीं करनी होगी। हिंदी को माध्यम स्वीकार कर लेने से ही हमें संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। कारण कि पोथियों की संख्या बढ़ाना या ज्ञान की दुकान चलाना साहित्य का लक्ष्य नहीं है। मेरे मन में हिंदी भाषा और साहित्य का एक विशिष्ट रूप है। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था और जो स्थान आज अंग्रेजी ने ले लिया है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिंदी को बैठाना है। मैंने यह बात पहले भी कही है और फिर भी दुहरा रहा हूं। हिंदी को संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। उसका कर्तव्य बहुत विशाल है। उसे अपने को महान उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती। इस महान उद्देश्य को हिंदी पूर्ति कर सके तभी वह उस महान उत्तरदायित्व के योग्य सिद्ध होगी, जो इतिहास-विधाता की ओर से उसे मिला है। हिंदी भारतवर्ष के हृदय-देश में स्थित करोड़ों नर-नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खुराक देने वाली भाषा है। हिंदी के ऊपर महान उत्तरदायित्व की बात जब मैं कहता हूं तो मेरा मतलब यही होता है कि भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो, पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केंद्रीय भाषा हिंदी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली भाषा, करोड़ों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग, रुदन-हास्य की भाषा। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है करोड़ों के मानसिक स्तर को ऊंचा करना, करोड़ों मनुष्यों को मनुष्य के सुख-दुख के प्रति संवेदनशील बनाना, करोड़ों को अज्ञान, मोह और कुसंस्कार से मुक्त करना। केवल शिक्षित और पंडित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की, जो दूसरों के शोषण में, और अपने स्वार्थ-साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो? इसीलिए आज जब हमारे सामने गंभीर साहित्य लिखने बहाना आ उपस्थित हुआ, तो हम जो कुछ भी लिखें, उसे अपने महान उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखें। संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है, उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षण के क्षेत्र में भी अटकल सहारा लिया है। उसका फल अच्च नहीं हुआ है। हमें सौभाग्यवश नये सिरे से सब-कुछ करना है। इसीलिए हमारे पाठ्यग्रंथों तथा रसात्मक साहित्य की रचना की भी किसी खंड-सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न

हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल मस्तिष्क वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। उसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है। घृणा और द्वेष से कोई बढ़ नहीं सकता। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है, वह शीघ्र ही पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभ-वश, मोह-वश और क्रोध-वश जो कर्तव्य निश्चित किया जाएगा, वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है। ये वृत्तियां दबी हैं, किंतु वर्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु और मुनष्यमात्र को वास्तविक 'मनुष्य' बनाने वाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। हमारा साहित्य इन बातों पर आधारित होगा तभी वह संसार को नया प्रकाश दे सकेगा।

हमारे देश में बहुत शुरू से ही काम करना है। यहां की समूची जनता अभी साक्षर भी नहीं हो सकी है। अनेक जातियां अभी अत्यंत आदिम काल की जिंदगी बिना रही हैं। रोग और दारिद्रय के अभिशाप से समूची जनता जर्जर है। इस निरक्षर देश के साहित्यकार की जिम्मेदारी भी बहुत है। दूसरे देशों ने जो कुछ किया है या जो कुछ कर रहे हैं, वे ही उपाय हमारे यहां सब समय नहीं चल सकते। हमें सब-कुछ नये सिरे से गढ़ना है। हमारे साहित्य में अभी तक कविता, कहानियों और अन्याय रसात्मक साहित्य की ही धूम है, परंतु रसात्मक साहित्य के पोषण के लिए जिस प्रकार के शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य की आवश्यकता है, वह हमारे पास नहीं है। इसीलिए साहित्य को अशिक्षित जनता का चित्त जागरुक करने के लिए जितना कुछ करना चाहिए था, उतना वह नहीं कर सकता है। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था, 'कहानी, कविता और नाटक इन्हीं से हमारे साहित्य की पंद्रह आने तैयारियां हो रही है, अर्थात दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देशों की चित्ताकर्षक विचित्र चित्त शक्ति के प्रबल सहयोग से। वहां मनुष्यत्व देह, मन और प्राण सभी दिशाओं से व्याप्त है, इसीलिए वहां अगर त्रुटियां भी हैं, तो साथ-ही-साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो वटवृक्ष की कोई डाली आंधी से टूट रही है, कहीं पर कीड़े खा-खाकर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षा ही कम हुई है, परन्तु फिर भी सब मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाये रखा। उसी तरह पाश्चात्य देशों ने मन और प्राणों को क्रियाशील बना रखा है। वहां की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने इन सबने मिलकर वाक्शक्ति की अथक उननति की। इन सबके उत्कर्ष से ही वहां का उत्कर्ष है। हमें भी अपने रसात्मक साहित्य को अगर स्वस्थ और सबल बनाना है, तो हमें अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अपने ढंग की शिक्षा और

विद्या की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरों की नकल करके हम अपना हित नहीं कर सकते। हमारी समस्याएं अनेक हैं, परिस्थिति जटिल है। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर हमारी जनता के नाना समूह खड़े हैं। सबका मुंह भी एक ही तरफ नहीं है। सबको उन्नति की ओर ले जाने के लिए हमें नाना प्रकार के प्रयोग करने पड़ेंगे। उद्देश्य की एकता के सिवा इन प्रयोगों में और किसी एकता का आरोप करना भूल होगी। कठिनाइयों चाहे कितनी भी क्यों न हो, रास्ता निकालना ही पड़ेगा। हम अपने प्राचीन और महान देश को अंधकार में भटकने के लिए नहीं छोड़ सकते और काम हमें जितना भी आरंभिक अवस्था से क्यों न शुरू करना हो, हम अपने लक्ष्य को छोटा नहीं होने दे सकते।

हिंदी की अनेक प्रकाशन संस्थाएं उपयोगी काम कर रही हैं। इनमें से कुछ का उद्देश्य रुपया कमाना भी हो सकता है, परंतु जब तक रुपया है और वह कमाया जा सकता है, तब तक रुपया कमाने को आप निषिद्ध-कर्म नहीं कह सकते। आप केवल इतनी ही आशा कर सकते हैं कि साहित्य जैसी पवित्र वस्तु को निर्माण करने का संकल्प रखने वाली ये संस्थाएं रुपया कमाने को समाज-निर्माण के कार्य से बड़ा न समझें । इनमें कुछ संस्थाएं तो अपना निश्चित उद्देश्य लेकर काम करने लगी हैं। उदाहरणार्थ, कुछ समाज-विज्ञान और समाजवादी व्यवस्थाा के अध्ययन और प्रचार का प्रयत्न कर रही हैं और कुछ हिंदू-साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन अंगों का अध्ययन और प्रचार कर रही हैं और कुछ हिंदू-धर्म के नये और पुराने रूपों का ही प्रचार कर रही हैं। मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि हिंदी में जो सैकड़ों पत्रिकाएं और पुस्तकें निकल रहीं हैं, उनको एक निश्चित योजना के अनुसार क्यों नहीं निकाला जा सकता है? कभी-कभी एक ही विषय की बार-बार पुनरावृत्ति हो जाती है मैं इन सभी संचालकों से प्रार्थना करना चाहता हूं कि वे एकत्र होकर अपना-अपना कार्यक्षेत्र बांट लें। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूं कि हमारे यहां उच्च कोटि के लेखकों की कमी है और यदि प्रत्येक संस्था कुछ गिने-चूने व्यक्तियों से अपना ाकाम चलाना चाहे तो न तो साहित्य ही उत्तम कोटि का बन पायेगा, न उक्त संस्थाएं ही लाभान्वित होंगी। विद्वानों की हमारे यहां कमी नहीं है। यह साहित्यिक संस्थाओं का कर्तव्य होना चाहिए कि वे विद्वानों को लिखने की ओर प्रवृत्त करायें। हिंदी में न जाने कितनी बेमतलब की पुस्तकें और पत्रिकाएं छप रही हैं। सभी प्रकाशकों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस प्रकार राष्ट्र के दान का अपव्यय न करके सुचिंतित योजना के अनुसार पुस्तकें प्रकाशित करें।

वस्तुत: हिंदी में अभी किसी भी साहित्यांग पर संतोषजनक कार्य नहीं हुआ। मेरे नौजवान मित्र जब कभी पूछ बैठते हैं क्या लिखें, तो मुझे झुंझलाहट होती है। हमारे पास है ही क्या? हमारा इतिहास विदेशी भाषाओं में थोड़ा बहुत लिखा है। हमारी जनता के आचार-विचार, रीति-नीति

भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान के बारे में विदेशियों ने ही थोड़ा-बहुत लिखा है। उनका उद्देश्य सब समय अच्छा ही नहीं होता, उनकी दृष्टि से जो अच्छा है, वह हमारी दृष्टि से भी अच्च होगा, ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। हमारेकीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जंगल-झाड़, मरु-मालव के बारे में भी विदेशी भाषा में ही थोड़ा बहुत मिल जाता है। विदेशों के लोग-बाग, जीव-जन्तु, नदी-पर्वत और व्यवसाय-वाणिज्य आदि का तो कहना ही क्या! जिन विदेशी पंडितों ने हमारे देश के जड़-चेतन के बारे में परिश्रमपूर्वक और ईमानदारी के साथ बहुत कुछ लिख रखा है, उनके हम अवश्य कृतज्ञ होंगे, पर उतने से ही हमें संतुष्ट नहीं होना है। हमें अपने देश को अपनी आंखों से देखना है। जब तक हम इस विशाल और महान देश को उसकी समूची खूबियों के साथ नहीं चाहते, तब तक इसके प्रति हमारा प्रेम मौखिक और क्षणस्थायी होगा। फिर जिस भाषा से करोड़ों जनता अपनी मानसिक भूख मिटाने की आशा करती हो, उसमें इतना भी न हो तो कैसे समझे कि सचमुच ही हम इस बाषा से प्रेम करते हैं? इसीलिए अगर निश्चित योजना के अनुसार कार्य किया जाए तो अच्छा और उपयोगी साहित्य बन सकता है।

हिंदी-साहित्य के अध्ययन के लिए कई संस्थाएं काम कर रही हैं और अच्छा काम कर रही हैं, परंतु अब आवश्यकता है कि हम इसके मूल उत्सों तक पहुंचे। केवल सुयोग और सौभाग्यवश पाई हुई पुस्तकों के आधार पर हिंदी साहित्य का इतिहास और उसका स्वरूप नहीं समझा जा सकता है। हिंदी-साहित्य लोक-साहित्य था। आज भरतीय जन-समाज की जो अवस्था है वह सदा से नहीं रही है। नये-नये जनसमूह इस देश में आते रहे हैं और पुराने विचारों को बदलते रहे हैं। लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और और जनता के प्रचलित आचार-विचारों से ऐसी अनेक महत्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है, जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकती। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुत: अनादिकाल-प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान जीवंत मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार तो उस धारा की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातक आजकल आचार्यत्व (डाक्टरेट) प्राप्त करने के लिए उद्ग्रीव दिखते हैं। विश्वविद्यालयों के अधिकारी इन स्नातकों को यदि लोक-साहित्य की ओर मोड़ सकें तो वे अनेक महार्घ रत्नों को जुटा ले आयेंगे। पुस्तक-साहित्य का अध्ययन भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक नाथ मत, शाक्त-संप्रदाय, वैष्णव-संहिताओं का अध्ययन भी तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक नाथ मत, शाक्त-संप्रदाय, वैष्णव-संहिताओं और बौद्ध और जैन अपभ्रंश साहित्य का अच्छा अध्ययन न प्रस्तुत किया जाए। इन विषयों का अध्ययन अभी तक उपस्थित है। हिंदी के साहित्य शोधक इनका भी अध्ययन आरंभ करें तो बहुत कुछ दे सकते हैं। हमारे प्राचीनतर साहित्य का तो कुछ भी अध्ययन हिंदी में नहं हुआ। बहुत थोड़ी-सी धार्मिक पुस्तकों के जैसे-तैसे अनुवाद की और यथाशीघ्र ध्यान देना चाहिए।

राहुलजी और उनके मित्रों से पालि-साहित्य का अच्छा और हिंदी में अनुवादित कर लिया है, परंतु महायान के विपुल साहित्य को अभी छुआ भी नहीं गया है। यद्यपि देश में जैन विद्वनों और जैन-संस्थाओं का अभाव नहीं है, तथापि अभी तक जैन ग्रंथ सर्वजन-आस्वाद्य बनाकर नहीं लिखे गए। श्री नाथूराम जी प्रेमी, मुनि जिनविजयजी और पं. सुखलालजी आदि विद्वानों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। परंतु विशाल को तो हिंदी में पूरा-पूरा आ जाना चाहिए था, पर सच पूछिये तो यह साहित्य बिल्कुल ही अस्पृष्ट रह गया। वेद, ब्राह्मण आरण्यकों और उपनिषदों का ही आधुनिक ढंग से संपादन और विवेचन नहीं हुआ है तो औरों की तो बात ही क्या! विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में हमें पराजित किया है। हमें अपने समूचे साहित्य को, विविध भाषाओं को, विविध रीति-नीतियों को और संपूर्ण जनता को अनासक्त और अनाविल दृष्टि से देखने का अब व्रत लेना है।

बालकों के योग्य पुस्तकों का तो हमारे साहित्य में नितांत अभाव है। यह काम जल्दी ही हो जाना चाहिए। हमें साहित्य के प्रत्येक अंग पर बालकों के लिए साहित्य लिखना ही होगा। हमारे पड़ोसी बांग्ला-साहित्य में इस विषय में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। मेरे बच्चे बांग्ला माध्यम से स्कूल की पढ़ाई करते हैं। आये दिन वे जो पुस्तकें पढ़ने को ले आते हैं, उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य और आनंद होता है। ऐसे उल्लेखनीय स्वदेशी-विदेशी, नाटक-काव्य और उपन्यास कम हैं, जिनका सार-मर्म बच्चों की भाषा में बंगाली लेखक में न लिख दिया हो। नाना विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई है। सभ्य जाति अपने बच्चों और स्त्रियों का ज्यादा ध्यान रखती है। हमने इन दोनों ही क्षेत्रों में लापरवाही का परिचय दिया है। बहुत-से प्रकाशक बालकों का साहित्य छापने का कारोबार करते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश बहुतों की शक्ति रीडरबाजी में बर्बाद हो जाती है। बालकों और स्त्रियों के लिए साहित्य की विशेष रूप से आवश्यकता है। शांति-निकेतन के हिंदी-भवन के लिए जब हम योजना बना रहे थे, तो महामना भारत-भक्त दीनबन्धु एंड्रयूज ने बालकों का साहित्य उसी योजना का अंग बनाना चाहा था। हम लोगों ने जब आना-कानी की, तो उन्होंने जोर देकर कहा, 'और कुछ करो या न करो, बालकों के लिए साहित्य लिखने का काम अवश्य करो।' नाना कारणों से हम वैसा नहीं कर सके, पर एंड्रयूज की यह गंभीर मुद्रा और अत्यन्त जोर के साथ कही हुई बात मुझको कभी नहीं भुलती। उस महापुरुष ने साहित्य की नींव को ही मजबूत करना चाहा था।

हमारे इस निरक्षर देश में प्रौढ़-शिक्षा का काम शुरू करना पड़ेगा। बालकों के लिए यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जाएंगी तो प्रौढ़ों के लिए नहीं मिलेगी। उत्साही और साहसी महत्वपूर्ण वस्तु है, पर हमारे देश में एक और महत्व का कार्य इसके साथ जुड़ा हुआ है। इस देश में आदिम जातियां हैं, जिनकी, कहा जाता है, अपनी लिपि नहीं है। अर्थात वे अब तक लिखने-पढ़ने से वंचित थी।

चूंकि ये जातियां लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं, इसलिए मतलबी प्रचारकों ने कहना शुरू किया कि इनकी कोई लिपि नहीं है। इनकी लिपि वहीं लिपि है जो हजारों वर्षों से इस देश की लिपि बनी हुई है। स्थान और काल के हिसाब से वह बदलती रही है, फिर भी वह लिपि सारे भारतवर्ष की अपनी जातीय लिपि है। प्रौढ़-शिक्षा के लिए हमें अनेक आदिम-भाषी मित्रों की भाषाओं का अध्ययन करना होगा और उनके लिए उपयोगी और स्वस्थ स्वरूप देवनागरी लिपि के द्वारा देना होगा। इस कार्य में विलंब नहीं होना चाहिए।

फिर विज्ञान है, दर्शन है, ललित कला है, इनके परिचायक शास्त्र है, इनकी पुरानी परंपरा और नई परिणतियों का हमें अध्ययन करना है। हमारे देश का ऐतिद्विषयक साहित्य गंभीर और महत्वपूर्ण है। उन ग्रंथों का संपादन, शोधन और अनुवाद हमें करना है। विदेशी साहित्य और दर्शन तथा अन्य विषयों की पुस्तकें और उनका सार-मर्म बताने वाली पुस्तकें भी आवश्यक है। पूर्व और पश्चिम का संपूर्ण रस निचोड़कर ही हिंदी-साहित्य अपने को पुष्ट और सबल बना सकता है।

हमें हिंदी को एक ऐसी भाषा नहीं बना देना है, जा सर्व-साधारण के निकट अंग्रेजी की भांति दुर्बोध्य बनी रहे या संस्कृत की ही भांति कुछ चुने हुए लोगों के शास्त्रार्थ-विचार की भाषा बन जाए। ऐसा करके तो हम निश्चित रूप से हिंदी का अहित करेंगे। हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो मामूली-से-मामूली जनचित्त को ऊपर उठा सके। हमें तो इस भाषा को इस योग्य बना देना है कि वह साधारण-से-साधारण मजदूर से लेकर अत्यंत विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग से समान भाव से विहार कर सके।

3.1.3 निबंध शैली

आचार्य द्विवेदी हिंदी के प्रौढ़ शैलीकार हैं। विषय प्रतिपादन के लिए वे कहीं आगमन एवं कहीं निगमन शैली का प्रयोग करते हैं। आगमन शैली प्राय: वर्णन प्रधान होती है और निगमन शैली व्याख्या प्रधान। आगमन शैली में विषय-वस्तु का वर्णन पहले तथा निष्कर्ष अंत में रहता है। निगमन शैली में सूत्र रूप में कुछ कहकर फिर उसकी व्याख्या की जाती है। उनके शोध-संबंधी निबंध तथा लेख आगमन शैली में मिलते हैं। ऐसे निबंधों की शैली गवेषणात्मक है। भावना के उत्कर्ष को प्रदर्शित करने के लिए द्विवेदी जी भावनात्मक शैली का प्रयोग करते हैं। आचार्य द्विवेदी गंभीर विषयों के प्रतिपादन में संस्कृत निष्ठ भाषा का उपयोग करते हैं जिसमें तत्सम शब्दों की भरमार होती है। वे उर्दू, फारसी तथा देशज भाषा के शब्दों का भी बहुतायत से प्रयोग करते हैं। आचार्य द्विवेदी की भाषा व्याकरण सम्मत, सजीव, प्रवाहमयी, सुगठित होती है। वे महादेवी वर्मा की तरह शब्द-चित्रों के अंकन में भी सिद्धहस्त हैं। संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित होने के साथ द्विवेदी जी प्राकृत, अपभ्रंश एवं बांग्ला भाषा के भी अधिकारी विद्वान हैं। उनका चिंतन वादों से

घिरा न होकर मुक्त एवं मौलिक होता है। साहित्य के स्वरूप को अंत:प्रेरणाओं का स्रोत मानते हुए वे कहते हैं- 'जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजाद्दीप्त न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।' वे रचना और रचनाकार में एक्य देखते हैं। वे अपनी सैद्धांतिक आलोचनाओं में साहित्य के विभिन्न अंगों पर विचार करते हैं। रचना को देश और जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों में रखकर देखते और परखते हैं। उन्होंने व्यावहारिक आलोचनाएं करते हुए भी मौलिकता का परिचय दिया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अधिकांश विचारात्मक निबंध ललित निबंधों की कोटि में आते हैं। इन ललित निबंधों में तन्मयता है, रस है तथा भाव और कल्पना का सुंदर समन्वय है। हास्य-विनोद की झलकियां जीवंतता को और बढ़ा देती हैं। भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक होने के कारण द्विवेदी जी के सांस्कृतिक निबंधों में तथा ललित निबंधों में भी महत्वपूर्ण संदर्भों में विश्व मानव संस्कृति की विराट जीवन और जययात्रा की आभा बिखरी दिखाई देती है। इन निबंधों में समन्वयात्मक शैली में प्राचीन एवं नवीन का अद्भुत संगम दिखाई देता है। उन्होंने अपने आलोचनात्मक निबंधों में विशिष्ट संतुलन और संयम से परिपूर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। सैद्धांतिक आलोचना हो या व्यावहारिक आलोचना, विषय का प्रतिपादन करते हुए वे विषयानुकूल भाषा एवं भावों को संतुष्ट करने वाली शैली का प्रयोग करते हैं। आचार्य द्विवेदी ललित निबंधकारों की श्रेणी में अग्रगण्य हैं अत: विषय कोई भी हो वे अपनी रचनात्मक क्षमता से शुष्क, नीरस एवं व्यर्थ से लगने वाले विषयों को भी सरस सार्थक तथा रोचक बना देते हैं। द्विवेदी जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ अवश्य है किंतु उसमें वैविध्य एवं भाषायी लालित्य सर्वत्र विद्यमान है। उनकी भाषा में अलंकारिता का भी समावेश है- 'मुझे लगता है कि नवल वधू के समान यह बिचारी आम्र मंजरी जरा सा झांकने बाहर निकली है।' द्विवेदी जी दार्शनिक विषयों को व्याख्यात्मक शैली के द्वारा प्रतिपादित करते हैं। ऐसी व्याख्याएं तर्कसंगत तथा तथ्यपरक होने के साथ गहन एवं संयत दिखाई देती हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात द्विवेदी जी ही सर्वाधिक एवं सफल निबंधकार माने जाते हैं। ललित निबंधों की समस्त विशेषताओं की कसौटी पर द्विवेदी जी के निबंध खरे उतरते हैं। स्वाभाविकता, तारल्य, सुघड़ता, रोचकता अपने समकालीन निबंधकारों की तुलना में द्विवेदी जी के निबंधों में अधिक दृष्टिगोचर होती है। आचार्य शुक्ल की ही तरह गंभीर विषयों को प्रतिपादित करते हुए वे उनमें हास्य-व्यंग्य-विनोद की संयत पदावली का प्रयोग कर मधुरता, रमणीयता, प्रभावशाली एवं आकर्षक होने का गुण उत्पन्न कर देते हैं। आचार्य द्विवेदी शुक्लोत्तर युग के अग्रणी निबंधकार हैं। द्विवेदी जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि विषय चाहे जो हो साहित्यकार की प्रतिभा का संबल पाकर वह गंभीर एवं पठनीय बन जाता है। उदाहरण के लिए हम प्रस्तुत निबंध

'साहित्यकारों का दायित्व' को ही लें। इनमें लेखक ने भारतीय प्राचीन साहित्य, इतिहास, धर्म ग्रंथों की महत्ता को सिद्ध करते हुए समकालीन परिस्थितियों के अनुसार नया साहित्य रचने की प्रेरणा दी है। उन्होंने अत्यंत सहज शब्दावली में साहित्यकारों को उनके दायित्व की गंभीरता से परिचय कराया है। वे समस्या और उसका समाधान साथ-साथ प्रस्तुत करते हैं। उनके निबंधों में प्रकट होन वाली मुख्य भावनाएं मानवतावाद तथा लोक संग्रह की भावना है। वे भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान हैं। इसके उदाहरण स्वरूप उन्होंने 'अशोक के फूल', 'भारतीय संस्कृति की देन', 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' जैसे निबंध लिखे। आचार्य द्विवेदी के निबंधों में गांधीवाद की छाप दिखाई देती हैं। उनके निबंध आकार की दृष्टि से प्राय: छोटे हैं। संक्षिप्त निबंधों में गहन, गूढ़ विषय का सरस प्रतिपादन करना उनकी विशेषता है। आचार्य द्विवेदी एक कुशल अध्यापक हैं। जयनाथ नलिन ने आचार्य द्विवेदी की रचनात्मकता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि- ''पांडित्य के साथ सरल सहजता, अध्ययन के साथ भोलापन चिन्तन के साथ विचारों की स्पष्टता और बात करने की सफाई, गंभीर विवेचन के साथ शैली की प्रसादात्मकता का सामंजस्य, विचार और भावुकता का सानुपातिक मिश्रण ये विशेषताएं द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और साहित्य दोनों में मिलेगी।'' आचार्य द्विवेदी की शैली जो भी हो, भाषा में काव्यात्मकता का कोमल मधुर प्रवाह पाया जाता है। वे अलंकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए- ''कोमल हाथों में अशोक पाद देश आहत हुआ।'' कहीं-कहीं द्विवेदी जी भाव-विभोर होकर भागीरथी की भांति कल-कल निनाद करती भाषा का उपयोग करते हैं। विषयानुकूल भाषा में परिवर्तन करते चलते हैं। वाक्य-विन्यास दीर्घ हो या लघु उसमें भावों की सुस्पष्टता देखी जा सकती है। उनके निबंधों में विवेचनात्मक शैली में वाक्यों की कलात्मकता एवं सुघड़ता पाठक को कहीं छूटने नहीं देती। वे लंबे वाक्यों को भी प्रभावशाली बनाकर लिखते हैं तथा आवश्यकता के अनुसार सूक्तियों और मुहावरों का प्रयोग करते हैं। कुछ सूक्तियों का सौन्दर्य दृष्ट्व्य है-

1 सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।
2 आम्र मंजरी मदन देवता का अमोघ वाण है।
3 शंकाशील हृदयों में प्रेम की वाणी भी शंका ही उत्पन्न करती है।
4 कमजोरों में भावुकता ज्यादा होगी।

द्विवेदी जी की शैली चयन करने की कुशलता पर दृष्टि डालें तो शैली के संबध में डॉ. देवराज का मत ध्यान में आता है- ''शैली अनुभूत विषय वस्तु को सजाने के लिए उन तरीकों का नाम है, जो उस विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए निम्नलिखित शैलियों का प्रमुख रूप से उपयोग

करते थे- (i) विवेचनात्मक शैली (ii) प्रसादात्मक शैली (iii) भावात्मक शैली (iv) व्याख्यात्मक शैली (v) आवेग शैली (vi) अलंकृत शैली (vii) चिंतन प्रधान गंभीर तत्सम शैली।

आचार्य द्विवेदी के निबंध हिंदी साहित्य की अक्षय निधि है। उनमें उनके व्यक्तित्व की उपस्थिति है। साहित्यकारों का दायित्व विवेचनात्मक, चिंतन प्रधान भावुक एवं भावात्मक शैली में लिखा गया निबंध है जिसे ललित निबंधों में कोटि में रखा जा सकता है।

3.1.4 साहित्यकारों का दायित्व-प्रतिपाद्य

स्वतंत्र भारत के आरंभिक काल में कराची हिंदी साहित्य सम्मेलन परिषद् के सभापति से भाषण देते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बुद्धिजीवी श्रोताओं के सम्मुख अपनी आकांक्षा, चिंता और स्वप्न को अभिव्यक्त किया जो स्वतंत्र भारत की परम आवश्यकता भी थी। उन्होंने कहा कि अब भारत स्वतंत्र हो गया है और हमें इस देश के नवनिर्माण में लग जाना है। इसमें व्याप्त पुरानी रुढ़ियों और परंपराओं के हानिकारक जाले को साफ करना है तथा शिक्षा, कला, संस्कृति की नई रंग-बिरंगी बेलें फैलाना है। जो भी करना है उसके लिए श्रेष्ठ साहित्य चाहिए। अत: साहित्यकारों का दायित्व है कि वे भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म, दर्शन, समाज, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, बच्चे, प्रकृति, विज्ञान, गणित आदि पर ऐसा साहित्य रचें जो समाज के लिए मानव के लिए कल्याणकारी हो। इन विषयों पर उपलब्ध प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन करें जो विभिन्न भाषाओं में है। दूसरे देशों के रचनाकारों ने जो भारतीय इतिहास, समाज, धर्म पर लिखा है उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं, लेकिन वह सच बहुत कम है तथा विदेशियों की दृष्टि से भारत को जितना और जैसा समझा गया, उतना ही सत्य है। अब भारतीय साहित्यकार इस सत्य को अपनी दृष्टि से देखकर लिपिबद्ध करें ताकि भारत की आगामी पीढ़ियां अपने देश पर गर्व कर सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि स्वतंत्र भारत के नव निर्माण में साहित्यकार अपने दायित्व को गंभीरता से समझें। वे साहित्य की सभी विधाओं में लेखन करें। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, कविता आदि। इन सभी विधाओं में हिंदी भाषा में लिखें। आचार्य द्विवेदी की दो अपेक्षाएं थी। प्रथम यह कि साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य लिखें और दूसरा यह कि हिंदी भाषा में लिखें। वे संसार की अन्य प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह हिंदी को भी उच्चासन पर देखना चाहते थे। वे हिंदी को अंग्रेजी की तरह और संस्कृत की तरह दुर्बोध नहीं बनाना चाहते थे। अंग्रेजी कुछ लोग ही समझते हैं तथा संस्कृत चुने हुए लोगों की शास्त्रार्थ की भाषा है। अत: वे चाहते थे कि हिंदी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो साधारण मजदूर से लेकर परिपक्व बौद्धिक जनों तक जनचित्त को

स्पर्श करे, उनकी आत्मा की उन्नति में सहायक बने। उन्होंने कहा कि अब स्वतंत्र भारत को अंतर्राष्ट्रीय संबंध बनो के लिए राजनीति, अर्थनीति की गहराई से समझना होगा, न्यायालय में बहसें होंगी, व्यवस्थापिका सभाओं में बहसें होंगी, और उनके निर्णय देशी भाषा में होंगे, इन सब के लिए श्रेष्ठ हिंदी भाषा का साहित्य आवश्यक होगा। अगर हमें संसार में महान राष्ट्र बनकर रहना है तो हमारे देश की जनता को शिक्षित, विज्ञान और न्याय के प्रति उत्सुक, अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाना होगा। इसके लिए लोकमंगल की भावना से लिखा गया साहित्य चाहिए। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि हमारा राष्ट्र समृद्ध है। वह हम भारतीयों की समस्त सुख-सुविधाओं की पूर्ति कर सकता है। जब तक हम राजनैतिक पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े थेर, इन सुविधाओं को नहीं पा सके, लेकिन अब हमने पराधीनता की जंजीरें काट दी है और अब इन सुविधाओं पर हमारा अधिकार है। द्विवेदी जी मूल बिंदु को रेखांकित करते हैं कि इन सुविधाओं को पा लेना ही सब कुछ नहीं है बल्कि इन प्राप्त सुविधाओं को लोक-कल्याण के लिए ठीक-ठीक नियोजित करना बड़ी बात है। वे कहते हैं हमारी राजनीति, अर्थनीति नव निर्माण की योजनाएं लोक कल्याणकारी तभी सिद्ध होगी जब हम हृदय से उदार और संवेदनशील हों, हमारी बुद्धि सारतत्व को ग्रहण करने में सक्षम हो, हमारे संकल्प शुभ और महान हों। हम भारतीयों को इतनी संवेदनशीलता बौद्धिकता और व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करने में श्रेष्ठ साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। चाहे वह साहित्य उपन्यास, कविता, नाटक आदि किसी भी विद्या में लिखा गया हो। साहित्य केवल वाग्विलास के लिए न लिखा जाए। लोकमंगल के पवित्र भाव से लिखा गया साहित्य ही हमें सहृदय और संवेदनशील बना सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि जीवन के प्रति हमारी दृष्टि परंपरागत हो, लेकिन वह स्पष्ट और सतेज हो। प्राचीन आचार्यों का लिखा-पढ़ा समृद्ध साहित्य हमारे पास है, लेकिन वह हमारी भाषा में नहीं है। अत: योग्य विद्वानों को आलस्य का त्याग कर इन प्राचीन ग्रंथों, ब्राह्मण साहित्य ग्रंथों, वेद आरण्यकों और उपनिषदों का, महायान के विपुल साहित्य का हिंदी में अनुवाद करना चाहिए। वे नाथ मत, शाक्त संप्रदाय, वैष्णव-संहिताओं और बौद्ध तथा जैन-अपभ्रंश साहित्य के समृद्ध बंडर को जनभाषा हिंदी में उपलब्ध देखना चाहते थे ताकि इनमें निहित ज्ञान के भंडार का लाभ हर भारतीय को मिल सके। वे मानते थे कि इस क्षेत्र में विदेशियों ने हमें पराजित किया है, अत: हम सब साहित्यकारों का यह दायित्व है कि संपूर्ण भाषाओं के साहित्य और रीति-नीतियों को खुले मन और खुली दृष्टि से स्वीकार करें। द्विवेदी जी ने कहा कि इस देश में नये जन-समूह आते-जाते रहे हैं। अत: सभ्यता, संस्कृति में नये आचार-विचार सम्मलित होते रहे हैं। साहित्य का इतिहास केवल पुस्तकों, रचनाकारों के उद्‌भव और विकास की कहानी नहीं है बल्कि इसमें लोक-कथाओं, लोकोक्तियों और लोक-साहित्य की महत्वपूर्ण भागीदारी है, अत: अनादिकाल से प्रवाहित जीवंत मानव-समाज की विकास-गाथा को भी जन-सुलभ बनाना चाहिए।

आचार्य द्विवेदी महामना भारत-भक्त दीनबंधु एंड्रयूज का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि शांति निकेतन में उन्होंने कहा था- ''और कुछ करो न करो, बालकों के लिए साहित्य लिखने का काम अवश्य करो।'' एंड्रयूज साहित्य की नींव को मजबूत करना चाहते थे। बांग्ला साहित्य समृद्ध है। उसमें बालकों के लिए उपन्यास, कहानी, नाटक, आदि भरपूर हैं। हमें भी सभी विधाओं में बाल साहित्य, प्रौढ़ साहित्य की रचना करनी चाहिए ताकि प्रौढ़ शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य आरंभ हो सके। आदिम जातियों की भाषाओं का अध्ययन कर उनके लिए देवनागरी लिपि में उपयोगी एवं स्वस्थ साहित्य तैयार करना होगा ताकि भारत की उन्नति में वे कंधे से कंधा मिलाकर चल सकें। विज्ञान, दर्शन, ललित कला आदि को प्राचीन भारतीय ग्रंथ तथा पाश्चात्य, ग्रंथों का संपादन, शोधन एवं अनुवाद का भारतीय साहित्य को स्वस्थ, सशक्त एवं समृद्ध बनाना है। हिंदी की अनके प्रकाशन संस्थाएं रुपया कमाने का काम कर रही हैं। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि ये संस्थाएं रुपया अवश्य कमाएं किंतु समाज-निर्माण के कार्य को सर्वोपरि मानें। सभी संस्थानों को मिलकर निश्चित निश्चित योजना के तहत अपने कार्य का बंटवारा कर लेना चाहिए ताकि सभी कार्यों को समय एवं महत्व मिले तथा किसी एक को ही पुनरावृत्ति न हो। जैसे कोई बाल साहित्य पर तो कोई प्रौढ़ साहित्य पर ध्यान दे। साथ ही गिने-चुने लेखकों को ही महत्व न देकर राष्ट्र के सभी योग्य साहित्यकारों की उत्तम रचनाओं को प्रकाशित करें ताकि हिंदी साहित्य समृद्ध हो तथा राष्ट्र के धन का अपव्यय न हो।

आचार्य द्विवेदी साहित्यकारों से निवेदन करते हैं कि हमारे देश की परिस्थितियां जटिल हैं, कठिनाइयां हैं, अभाव है, दरिद्रता है, जनता अशिक्षित है तथा सभ्यता के अनेक स्तर, रंग-रूप हैं, हमारे पास साहित्य की सभी विधाओं पर पर्याप्त सामग्री नहीं है, लेकिन हमें हारना नहीं है। हम अपने राष्ट्र को अशिक्षा एवं अज्ञान के अंधकार में भटकने के लिए नहीं छोड़ सकते। हमारे पास अभी कविता, कहानियों तथा अन्य रसात्मक साहित्य की ही धूम है। इस साहित्य के पोषण के लिए शक्तिशाली वैज्ञानिक, दार्शनिक समीक्षा साहित्य की आवश्यकता है, जा रचना को, रचनाकारों को एवं आम जनता के चित्त को परिष्कृत कर सकें। वे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन उद्धृत करते हैं- ''कहानी, कविता और नाटक इन्हीं से हमारे साहित्य की पंद्रह आने तैयारियां हो रही हैं, अर्थात दावत का आयोजन हो रहा है, शक्ति का आयोजन बिल्कुल नहीं। यह सब कुछ हो रहा है पाश्चात्य देशों की चित्ताकर्षक विचित्र चित्त शक्ति के प्रबल सहयोग से। वहां मनुष्यत्व देह, मन और प्राण सभी दिशाओं से व्याप्त हैं, इसलिए अगर वहां त्रुटियां भी हैं, तो साथ-ही साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो, वटवृक्ष की कोई डाली आंधी से टूट रही है, कहीं पर कीड़ उसे खा-खाकर खोखला बना रहे हैं, किसी साल वर्षा भी कम हुई है। परंतु फिर भी सब

मिलाकर वनस्पति ने अपने स्वास्थ्य और शक्ति को बनाये रखा है। वहां की अपनी विद्या ने, अपनी शिक्षा ने, अपने साहित्य ने, इन सबने मिलकर वाक्शक्ति की अथक उन्नति की। इन सबके उत्कर्ष से ही वहां का उत्कर्ष है।'' आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि हमें भी अपना एक लक्ष्य निर्धारित करना है 'भारतीय हिंदी साहित्य का विकास।' इसके लिए जो भी कठिनाइयां आएं उन्हें हंसकर सहना होगा।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि हिंदी साहित्य के विकास एवं राष्ट्र निर्माण के लिए हमारे पास पर्याप्त उपाय हैं किंतु सामाजिक व्यवस्था को इसके अनुकूल बनाना महत्वपूर्ण किन्तु कठिन कार्य है। आचार्य द्विवेदी सुझाव देते हैं कि मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों को यदि जगा दिया जाय तो वे हानि-लाभ की चिंता छोड़ कर काम में जुट जाते हैं। यदि रुपया कमाने की आदिम वृत्ति जाग जाए तो मनुष्य अपनी वर्षों की साधना, तपस्या, त्याग, बलिदान और मनुष्यता के पतन का विचार छोड़ कर रुपया कमाने में जुट जाएगा। बहुत से प्रकाशक तथा अन्य लोक रंगमंच, चलचित्र तथा साहित्य के द्वारा कारोबार कर रहे हैं। विश्वविद्यालय भी हिंदी में शिक्षा देना स्वीकार कर चुके हैं अत: हिंदी के पाठ्यक्रम की पुस्तकें लिखीं और छापी जाएंगी। इस अवसर का का साहित्यकारों को लाभ उठाना चाहिए। पाठ्यक्रम के रूप में तथा स्वतंत्र रूप से गंभीर, उपयोगी साहित्य लिखकर प्रकाशित कराते रहना चाहिए। कारोबारी जहां हल्का साहित्य बेचते हैं वहां बीच-बीच में गंभीर साहित्य भी बिकेगा।

वे कहते हैं कि जिन विषयों के गंभीर अध्ययन से मस्तिष्क परिष्कृत होता और हृदय सुसंस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है, और उसके लिए बाजार आसानी से नहीं मिलता। कारोबारियों और खरीददारों की सात्विक साहित्य की ओर रुचि नहीं जाती। फिर भी वह ऐतिहासिक तथ्य है कि समस्त विरोधी और विपरीत परिस्थितियों के बीच भी सात्विक साहित्य रचा और पढ़ा गया तथा लोगों ने अपनी सद्वृत्तियों का जाग्रत किया है। वर्तमान में साहित्यकारों का दायित्व है कि वे पुन: एक नया इतिहास रचें। हमारे देश में जो स्थान कभी संस्कृत का था और जिसे आज अंग्रेजी ने ले लिया है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिंदी को स्थापित करना है। हिंदी को समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि सबसे बड़ा उद्देश्य और लक्ष्य है कि हम हिंदी साहित्य के द्वारा मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाएं। हमें हिंदी का इस महान उत्तरदायित्व की पूर्ति करने योग्य बनाना है। विधाता ने जो इतिहास हिंदी को सौंपा है उसे लेकर वह नया इतिहास रच सके तो सार्थक होगी। हिंदी भारत देश के करोड़ों नर-नारियों के हृदय एवं मस्तिष्क को खुराक देने वाली भाषा है यानी हिंदी साहित्य ही भारतवासियों के ज्ञान की भूख मिटाकर उन्हें सपनों को पूरा करने की सामर्थ्य दे सकता है।

द्विवेदी जी कहते हैं कि राजभाषा चाहे जो भी हो, जैसी हो, लेकिन यह सुनिश्चित है कि केंद्रीय भाषा हिंदी ही है और रहेगी। लगभग आधे भारतववासी हिंदी को ही अपनी साहित्यिक भाषा मानते हैं, यह उनके मनोमस्तिष्क की भूख से, आशाओं-आकांक्षाओं से, अनुराग-विराग यानी प्रेम और वैराग्य से, रुदन-हास्य से जुड़ी है। हिंदी साहित्य की रचना से करोड़ों लोगों की मानसिक भूख मिटेगी, हृदय संतुष्ट होंगे अशिक्षा और अज्ञान, अंधविश्वास और कुरीतियों के अंधकार से बाहर निकलेंगे। हमें मनुष्य को केवल डिग्रीधारी नहीं बनाना है उसे ऐसा शिक्षित और पंडित भी नहीं बनाना है कि वह अपने ज्ञान का उपयोग केवल अपना स्वार्थ पूरा करने में करे और इसी में अपनी चरम सार्थकता स्वीकार करे। वह शिक्षा जो स्वार्थी और आत्मकेंद्रित बनाए, निरर्थक होगी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि हिंदी साहित्य की रचना अत्यंत सावधानी से करनी चाहिए। यह रसात्मकता किसी एक सत्य के लिए न हो बल्कि इससे समूची मनुष्यता लाभान्वित हो। यह ध्यान रखना होगा। सभी जातियों और धर्मों के लोग एक-दूसरे से प्रेम करें, सभी जनसमूह वर्ग एक साथ रहने में सुख का अनुभव करें, किसी की भी बुद्धि अलगाव या घृणा की भावना से विषाक्त न हो, ऐसा महान हिंदी साहित्य प्रणोदित करना ही हमारा महान् उद्देश्य होना चाहिए। जो ज्ञान मनुष्य की मनुष्यता को निखार दे वह ज्ञान बड़ा है, प्रेम और त्याग बड़ी वस्तुएं हैं। साहित्य को इन तथ्यों पर आधारित होना चाहिए तभी वह संसार को नये ज्ञान का प्रकाश दे सकेगा। घृणा, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, इन आदिम वृत्तियों को, जो मनुष्य को पतन के मार्ग पर ले जाती है मनुष्य ने अत्यंत कठिनाई से जीता है। ये वृत्तियां दबी हैं, समाप्त नहीं हुई हैं। मनुष्यता की विरोधी इन प्रवृत्तियों को साहित्य में स्थान नहीं मिलना चाहिए या साहित्य ऐसा रचा जाना चाहिए जो इन आदिम बुरी वृत्तियों को मानव के हृदय से निकाल फेंके, तभी साहित्य का लक्ष्य पूरा होगा। मनुष्यता की स्थापना ही साहित्य का लक्ष्य है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि यदि हम मनुष्य के विकास की गति पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि भौतिक, रसायन और प्राणी तत्व शास्त्रों के साथ गणित एवं ज्योतिष विज्ञान का उपहार संयोग और दैवीय कृपा से प्राप्त हुआ था। मनुष्य इसका लाभ उठाकर आगे बढ़ा। किंतु अब वर्तमान परिवर्तित स्थितियों में केवल संयोग और दैवीय कृपा पर निर्भर रहने की विवशता नहीं है। वह सुचिंतित योजनाओं एवं स्वर्णिम इतिहास का आधार लेकर अधिक आत्मविश्वास के साथ विकास के नये मार्ग पर बढ़ रहा है। ज्ञान क नये आलोक और विज्ञान ने मनुष्य को स□यता के नये द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है वह अधिक संयमी और उदार हो गया है। किंतु एक पक्ष ऐसा भी है जो विज्ञान की शक्तियों का प्रयोग सर्वनाश के ि लए कर रहा है। विज्ञान अत्यधिक शक्तिशाली है और इसका उपयोग करने वाले को अत्यधिक संयमी एवं लोकमंगल के शुभभावों

से ओतप्रोत होना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं है। कुछ राष्ट्रों ने वैज्ञानिक तरक्की के नाम पर सर्वनाशक बम, हथियार भी बना लिए हैं, कुछ ने विशेष सुविधाओं पर पूरा अधिकार जमा लिया है इससे अन्य पड़ोसी राष्ट्रों को हानि उठानी पड़ रही है।

विज्ञान एवं तकनीकी का अपने स्वार्थ के लिए ही प्रयोग करना या मनुष्यता की हानि करने के लिए प्रयोग करना यह दर्शाता है कि इनके प्रयोगकर्ताओं के पास उदार चरित्र, आत्मबल, शुभ बुद्धि नहीं है। द्विवेदी जी कहते हैं- विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति को रोकना संभव नहीं है। नदी की इस धारा को मोड़ना कठिन है किन्तु हम इस समस्या को यूं ही नहीं छोड़ सकते। केवल सरस और उदार साहित्य ही इसका एक मात्र इलाज है। विज्ञान के साथ साहित्य को जोड़ दिया जाए। साहित्यकारों का यह दायित्व है कि वे ऐसा सात्विक प्रभावशाली साहित्य रचें जिसे पढ़कर मनुष्य की अंतर्वृत्तियां जाग उठे। वह विज्ञान की शक्ति का सीमित एवं उदारतापूर्वक प्रयोग करके मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। साहित्य संकीर्ण राष्ट्रीयता और मोहग्रस्त जाति प्रेम से निकालकर विश्व बंधुत्व का मार्ग दिखा सकता है। पथभ्रष्ट अर्थनीति को सही मार्ग पर ला सकता है। विज्ञान का सार्वभौम सत्व अलग है तथा साहित्य की संवेदनशीलता अलग है। एक बुद्धि का क्षेत्र है, एक हृदय का।

आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि साहित्यकारों की वाणी ऊंचे सिद्धांतों पर बैठ कर निर्णय देने वाली तक नहीं पहुंचती। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्रनायकों तक अनेक भावों में यह संदेश पहुंचाया कि विज्ञान की सर्वग्रासिनी शक्ति का प्रयोग सीमित हो, मानव कल्याण के लिए हो, लेकिन उनकी बात किसी ने नहीं सुनी। द्विवेदी जी कहते हैं कि हमारे मंगल प्रयत्न रुकने नहीं चाहिए। हमारी शुभा विधायी वाणी न सुनी जाए या देर से सुनी जाए, हमें अपना संदेश मदगर्वित राष्ट्रनायकों और जन समूह को सुनाते जाना है। साहित्यकारों को वह स्मरण रखना है कि हिंदी दुर्बल भाषा नहीं है। हिंदी संसार की अत्यंत शक्तिशाली भाषाओं में से एक है। आज चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में हिंदी सीखने की उत्सुकता बढ़ गई है, क्योंकि वे इस भाषा के माध्यम से हमारे वेद, धर्मग्रंथों, इतिहास और साहित्य को जानना चाहते हैं। इन देशों के पास भी मनुष्य जाति के स्वर्णिम इतिहास और अतीत के साहित्य की समृद्धि है जिसका लाभ हमारे साहित्यकारों उठा सकते हैं। यदि ऐसा हो सका तो निश्चित ही भारत की अज्ञानी, अशिक्षित जनता को पतन के गर्त में गिरने से बचाया जा सकेगा। इस ललित निबंध में आचार्य द्विवेदी ने अत्यत सहजता से हिंदी भाषा को और हिंदी साहित्य को अपनी संपूर्ण विधाओं के साथ प्रतिष्ठित करने की चिंता करते हुए साहित्यकारों को यह दायित्व सौंपा है, जिसमें लोकमंगल की भावना ही सर्वोपरि है।

3.1.5 साहित्यकारों का दायित्व – समीक्षात्मक अध्ययन

'साहित्यकारों का दायित्व एक चिंतन प्रधान ललित निबंध है। इस निबंध में द्विवेदी जी का देश प्रेम तथा हिंदी भाषा एवं साहित्य के प्रति प्रेम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। स्वतंत्रता के पश्चात जब सत्ता भारतीय शासकों के हाथ में आई तब लगा कि अब देश को अपने हाथों से नये सिरे से गढ़ना होगा। अब तक भारत को विदेशियों ने अपनी दृष्टि से देखा और अपने विचारों की कसौटी पर कसकर उसे अच्छा या बुरा लिखा लेकिन अब समय आ गया है कि भारतीय अपनी दृष्टि और विचारों की अभिव्यक्ति करें। आचार्य द्विवेदी परिवर्तन के लिए सबसे सशक्त हथियार साहित्य को ही मानते हैं, क्योंकि बम, बंदूकों की शक्ति से होने वाला परिवर्तन बाह्य परिवर्तन होता है जो भय के वशीभूत भी हो सकता है। भय के हटते ही परिस्थितियां पूर्वानुसार हो सकती है इसलिए ऐसे परिवर्तन अत्यकालिक या क्षणिक हो सकते हैं, किंतु साहित्य के द्वारा होने वाला परिवर्तन शाश्वत होता है। हृदय को, विचारों को स्थायी रूप से परिवर्तित करने की शक्ति सात्विक साहित्य में होती है। यही कारण था कि भारत का नया इतिहास लिखने का दायित्व उन्होंने साहित्यकारों को सौंपा। दायित्व सौंपते हुए वे आदेश नहीं करते, विनम्र निवेदन करते हैं।

आचार्य द्विवेदी नवीन एवं प्राचीन का समन्वय करना चाहते थे। उन्होंने साहित्यकारों से प्राचीन भारतीय इतिहास धर्म, दर्शन, ज्योतिष, कला संस्कृति के ग्रंथों, विविध भाषाओं के तथा विभिन्न राष्ट्रों के ग्रंथों का अध्ययन करने का आग्रह किया ताकि वे उन महत्वपूर्ण ग्रंथों को अनुवाद हिंदी भाषा में कर सकें। इससे भारतीय उन महत्वपूर्ण ग्रंथों का लाभ उठा सकेंगे, हिंदी भाषा की उन्नति होगी तथा साहित्यकार उन ग्रंथों के अनुकूल आवश्यक तथ्यों को समन्वित कर कल्याणकारी साहित्य की रचना कर सकें। आचार्य द्विवेदी का दृष्टिकोण इस निबंध में अत्यंत व्यापक एवं उदार दृष्टिगोचर होता है। वे विदेशी साहित्यों और विविध भाषाओं के साहित्य की प्रशंसा करते हुए तथा उनसे कुछ तत्वों को ग्रहण करने की बात कहते हुए उदार बौद्धिकता का परिचय देते हैं। आचार्य द्विवेदी के निबंध में गांधीवाद का प्रभाव दिखाई देता है। उनकी विनम्र स्वीकारोक्ति मन को छूती है जब वे कहते हैं- 'हमारे पास है ही क्या? हमारा इतिहास विदेशी भाषाओं में थोड़ा-बहुत लिखा है। हमारी जनता के अचार-विचार, रीति-नीति, भाषा-भाव, नवीन-प्राचीन, धर्म-ईमान के बारे में विदेशियों ने ही थोड़ा-बहुत लिखा है।' आचार्य द्विवेदी का हृदय एवं बुद्धि दोनो ही अकुंठ और अनाविल भाव से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। इसीलिए भाषा सशक्त एवं मृदु, प्राणवान एवं प्रवाहमयी है। आचार्य द्विवेदी समाज के हर वर्ग की चिंता इस निबंध में व्यक्त करते हैं। वे जानते थे कि बालकों के हृदय और बुद्धि को परिष्कृत सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश, हवा, पानी, खाद देने का कार्य साहित्य के द्वारा ही हो सकता है। बालकों

की सच्ची शिक्षा से एक ऐसी पीढ़ी तैयार होगी जो भविष्य में भारत की गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा एवं सभ्यता की धूम देश-देशांतर तक धरती से आकाश तक प्रसारित कर सकेगी। साथ ही हिंदी भाषा के साहित्य का अध्ययन करके बालक इस भाषा को अधिक उन्नत और गरिमामय स्वरूप में स्थापित कर सकेंगे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह निबंध सदैव प्रासंगिक रहेगा क्योंकि समय परिवर्तित हुआ है। स्वंतत्रता प्राप्त किये हुए अनेक वर्ष हो गए किन्तु हिंदी भाषा में उन्नति करने पर भी वह स्थान अब तक प्राप्त नहीं किया जो आचार्य द्विवेदी चाहते थे। साहित्य की हर विधा में रचनाएं होने लगी है, लेकिन द्विवेदी जी की चेतावनी के बावजूद बाजार में बिकने वाले हल्के साहित्य की रचना ही अधिक हो रही है। सत्साहित्य का अभाव तो है ही, इधर दूरदर्शन और कम्प्यूटर ने नयी पीढ़ी के भीतर पुस्तकें पढ़ने की ललक को लगभग समाप्त ही कर दिया है। वे हर जानकारी इंटरनेट सो प्राप्त कर अपनी बौद्धिकता को शांत करते हैं तथा व्यावसायिकता को उन्नत दिशा में ले जाने का प्रयास करते हैं। धन है, सफलता है लेकिन सार्थकता, सुख और शांति नयी पीढ़ी को प्राप्त नहीं हो सकी और उन्हें न इसका भान है, न खेद है। आचार्य द्विवेदी विज्ञान और साहित्य का समन्वय चाहते थे, उन्होंने इस निबंध में अपनी यह आकांक्षा व्यक्त की है ताकि विज्ञान का दुरुपयोग न हो उसका उपयोग मानव कल्याण के लिए हो, यह आंशिक रूप से ही सफल हो पाया है। क्योंकि हर राष्ट्र विज्ञान के बल-बूते पर शेष राष्ट्रों पर शासन करना चाहता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समय की नब्ज को पहचानते थे। वे गंभीर चिंतक होने के साथ सरल, संवेदनशील मनुष्य थे। इसलिए विश्वबंधुत्व की बात सोच सके। आचार्य द्विवेदी के अगाध संस्कृति प्रेम और पांडित्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं- 'उनके परंपरा द्रोह में एक उदासी का भाव है, पीड़ा उनकी आधुनिकता है, जो सर्जनात्मक है और सर्जनात्मक होने के कारण आज भी हमारे लिए मूल्यवान है क्योंकि उसमें आज भी संभावनाएं हैं। परंपरा के प्रति यह द्वंद्वात्मकता ही वह जमीन है जिस पर द्विवेदी जी के पांव मजबूती से टिके हैं। उनकी आस्था का आधार यही है। आचार्य द्विवेदी के साहित्य में देखा जाए तो हम पाते हैं कि इनका परंपरा विरोध मात्र या कथित आधुनिकता को प्रदर्शित करने का ढोंग है, वरन् उसके पीछे पुष्ट चिंतन-मनन की संपूर्ण प्रक्रिया है।' आचार्य द्विवेदी का समन्वयवादी दृष्टिकोण उनके लेखक का सौंदर्य है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की परंपरा के निबंधकार हैं। आचार्य शुक्ल ने भी अपने निबंधों में पाश्चात्य एवं भारतीय मनीषा का सुखद समन्वय दर्शाया था। आचार्य द्विवेदी भी साहित्यकारों से पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन, अनुवाद एवं लाभदायी तत्वों के ग्रहण का निवेदन करते हैं। यह भी सुखद अनुभूति है कि आचार्य द्विवेदी के निबंधों में हमें

भारतेन्दु युग के निबंधकारों की स्वच्छता एवं उन्मुक्तता के दर्शन होते हैं। यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी के निबंधों में एक उच्चकोटि के अध्यापक की छाप है और द्विवेदी जी के निबंधों में हमें साहित्यकार का स्वरूप मुखरित दिखता है। आचार्य द्विवेदी ने अपने निबंधों के लिए साहित्येत्तर विषयों का भी चयन किया, जबकि शुक्ल जी के निबंधों के विषय साहित्यिक हैं। द्विवेदी जी के साहित्येत्तर विषयों के निबंध 'अभी थकने का समय नहीं आया है', 'जनपद सभाओं का कर्तव्य' आदि उनकी सुधारवादी दृष्टि का परिचय देते हैं। वे 'हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली', 'रवींद्रनाथ के राष्ट्रीय' आदि लिखते हैं तो यह अनुभूति प्रबल होती है कि वे व्यक्ति के जीवन एवं राष्ट्रीय जीवन के हर स्तर पर, अंग-प्रत्यंग में सुधार करना एवं देखना चाहते थे। वे देश की एकता एवं अखंडता को सर्वोपरि मानते थे तथा इसके लिए हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखते थे जिसका साहित्य हर वर्ग-हर जाति के भारतीय को एक सम्मानजनक, आत्मनिर्भर जीवन जीने का अवसर प्रदान करेगा।

द्विवेदी जी ने ज्योतिष जैसे शास्त्रीय एवं नीरस विषय पर सरस एवं सार्थक निबंध लिखे। व्यावहारिकता का पुट देकर इन निबंधों की सरसता को बढ़ाया है। 'ब्राह्मण का विस्तार', 'केतु दर्शन', 'नया वर्ष आ गया' आदि ज्योतिष शास्त्र के तात्विक निबंधों की रचना उनकी बहु-आयामी बौद्धिकता के दर्शन कराती है। द्विवेदी जी के निबंध 'साहित्यकारों का दायित्व' एक उत्तरदायित्व पूर्ण रचना है। उके निबंध साहित्य पर डालें तो पाते हैं कि द्विवेदी जी पर रवींद्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, टाल्सटाय, कालिदास, कबीर, तुलसी जैसे चिंतकों का प्रभाव है। उनके निबंधों में मानव सर्वोपरि है, देश प्रमुख है, भाषा के रूप में हिंदी मान्य है और उसके गौरव की चिंता है। आचार्य द्विवेदी के साहित्यिक योगदान व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए डॉ. स्नातक लिखते हैं- ''भारतीय वाङ्मय की समृद्ध परंपरा तीन धाराओं में होकर प्रवाहमान है। धर्म और दर्शन के दो कुलों में बहने वाली पहली धारा है। दूसरी धारा भाषा और साहित्य के कुलों से बंधी है और तीसरी धारा इतिहास और विज्ञान के कुलों में बहती है। इन तीन धाराओं में भरतीय वाङ्मय की विशाल ज्ञानराशि समेटी जा सकती है। यह त्रिवेणी किसी एक साहित्यकार में असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व में हम इन तीन धाराओं का संगम पाते हैं।'' आचार्य द्विवेदी जी के निबंधों में इन तीन धाराओं को देखा जा सकता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की शैली एक कुशल शिल्पी की शैली है। वे मानवता की महिमा का उद्घोष करने वाले निबंधकार हैं। उन्होंने राष्ट्र को ऊंचाइयों पर देखने की लालसा व्यक्त की है। वे साहित्यकारों को उनका दायित्व या दिलाते हुए, क्या करना चाहिए, क्या नहीं, यह स्मरण

कराते हुए निर्देशक एवं सलाहकार की भूमिका में दिखाई देते हैं। साहित्यकारों का दायित्व अगर सत्साहित्य की रचना करनी है तो हिंदी साहित्य की सेवा उनका सौभाग्य है, यह कहते हुए वे मां सरस्वती के उपासक प्रतीत होते हैं। आचार्य द्विवेदी नि:संकोच भाव से देश की कमजोरियों, अभाव के साथ साहित्य के क्षेत्र की दुर्बलता और अभाव का वर्णन करते हैं तथा इन दुर्बलताओं को जड़ से मिटाने का हल भी सुझाते हैं।

द्विवेदी जी एक सदा स्मरणीय निबंधकार हैं तथा उनके निबंध और समस्त साहित्य, साहित्य जगत की अमूल्य अक्षय निधि हैं।

3.2 जीवन अपनी देहरी पर – विद्यानिवास मिश्र

'जीवन अपनी देहरी पर' निबंध की रचना विद्यानिवास मिश्र ने की, इस निबंध की विशेषता जानने से पूर्व मिश्र जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय प्राप्त करते हैं–

3.2.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य विद्यानिवास मिश्र का जन्म मकर संक्रांति के दिन वि. संवत 1982 अर्थात सन् 1927 ई. को पकड़डीहा, जिला गोरखपुर उत्तर प्रदेश में हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव में हुई। माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर में प्राप्त की। संस्कृत की पारंपरिक शिक्षा घर पर और वाराणसी में संपन्न हुई। उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में 1945 में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन की छाया में हिंदी साहित्य सम्मेलन में कोश निर्माण का कार्य किया। फिर पं. श्री नारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से आकाशवाणी में कोश निर्माण कार्य किया। विंध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के सूचना विभागों में सेवा की। अध्यापन कार्य के लिए प्रथमत: श्री मिश्र गोरखपुर विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। संस्कृत विश्वविद्यालय में भी उन्होंने अध्यापन कार्य किया। आगरा विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान का अध्यापन कार्य किया। आचार्य विद्यानिवास मिश्र 1960–61 तथा 1967–68 में कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालयों में अतिथि अध्यापक के रूप में अध्यापन के लिए आमंत्रित किये गए। केंद्रीय हिंदी संस्थान आगरा में निदेशक के पद पर कार्य किया तथा काशी विद्यापीठ वाराणसी के कुलपति नियक्त हुए। आचार्य मिश्र की बौद्धिकता, संवेदनशीलता, प्रकांड पांडित्य और श्रेष्ठ अध्यापकीय व्यक्तित्व उन्हें साहित्य जगत् में उच्चासन प्रदान करता है। असाधारण व्यक्तित्व एवं अलौकिक प्रतिभा के धनी इस साहित्यकार ने इस लौकिक जगत से सन् 1997 में महाप्रयाण किया।

रचनाएं

शेफाली झर रही है, गांव का मन, संचारिणी, लागौ रंग हरी, भ्रमरानंद के पत्र, अंगद की नियति, छितवन की छांह, कदम की फूली डाल, तुम चंदन हम पानी, आंगन का पंछी और बनजारा मन, मैंने सिल पहुंचाई, साहित्य की चेतना, वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, मेरे राम का मुकुट भींग रहा है, परंपरा बंधन नहीं, कंटीले तारों के आर-पार, कौन तू फुलवा बीनन हारी, अस्मिता के लिए आदि श्री विद्यानिवास मिश्र जी के प्रमुख निबंध संग्रह हैं।

शोध

दि डिस्क्रिप्टिव टेकनीक आफ पाणिनी, रीति विज्ञान, भारतीय भाषा दशनि की पीठिका, हिंदी की शब्द संपदा, हिंदू धर्म : जीवन में सनातन की खोज' विषयों पर उनके शोध वर्तमान में भी प्रासंगिक बने हुए हैं।

कविता संग्रह

'पानी की पुकार' तथा रसखान रचनावली, रहीम ग्रंथावली, देव की दीपशिखा नामक ग्रंथों का मिश्र ने प्रणयन एवं संपादन किया।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने कुमारस्वामी के तात्विक तथा कथात्मक चिंतन से आंरभ करके निबंधकार यहां, लोक और शास्त्र, मनुष्य और उसके परिवेश, विज्ञान और साहित्य के साथ शिव, होली, नवरात्रि आदि भारतीय त्योहारों तक का सरस गहन विवेचन किया। भारतीय एकता और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के परिप्रेक्ष्य में हिंदू होने का सही अर्थ बताते हुए वे हिंदू धर्म और संस्कृति को उनकी जड़ों तक विश्लेषित करते हैं। उनका निबंध साहित्य ललित निबंधों की दुनिया के बहुमूल्य रत्न हैं।

जीवन अपनी देहरी पर - मूल पाठ

जीवन को प्यार के साथ वरण करने वाले आदमी को मृत्यु पता नहीं क्यों सबसे ज्यादा लुभाने की कोशिश करती है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे जैसा लेखक जो युद्ध को इसलिए नकारता है कि वह जीवन का घनघोर विनाश है, आत्म-हत्या के लिए प्रेरित होता है। जिन्दगी के रंगों की पहचान करने-कराने वाला वैन गो जैसा चित्रकार छुरे से अपनी गरदन पर वार करने को ललचाता है। जीवन-भर कर्म करते रहने के दर्शन के व्याख्याता कुमारिल प्रयाग में नदी में डूबकर मरने में जीवन को निष्कृति पाते हैं। इनसे लगता यही है कि मृत्यु उसी के पीछे पड़ती है, जो जीने का रस लेता है, दूसरों को रस देता है या शायद मृत्यु का प्रलोभन जीवन की परीक्षा है। ऐसी परीक्षा से गुजरते रहना रचनाकार की विशेष नियति है क्योंकि हर रचना मृत्यु होती है, पर पूरी मृत्यु नहीं होती, रचनाकार कुछ-न-कुछ अवशिष्ट रह जाता है, बल्कि यों कहें, जो अवशिष्ट रह जाता है वह रचनाकार नहीं

है, वह बुरी तरह टूटा हुआ व्यक्ति है। जितनी बड़ी रचना करके आदमी बचता है उतना ही अधिक टूटकर बाहर निकलता है। रचनाकार के रूप में वह ध्वस्त हो जाता है।

तुलसीदास का 'हनुमान बाहुक' कोई पढ़े तो पता चलेगा कि 'विनय-पत्रिका' की रचना करने के बाद कवि कितना शीर्ण हुआ है। कवि 'रामचरितमानस' के बाद टूटा तो बहुत दिनों में उसने अपने को जोड़ा, जाने कितनी व्यथाओं से विनतियों से और तब 'विनय-पत्रिका' लिखी और 'विनय-पत्रिका' लिखी नहीं कि गोसाई जी एकदम ध्वस्त हो गए। बाहु में पीड़ा होती है और उनको लगता है-

पाँय पीर पेट पीर बाँह पीर मुंह पीर
जरजर सकल सरीर पीर भई है।
देव भूत पितर काम खल काल ग्रह
मोहि पर खवाई भयानक-सी दई है॥
हौं तो बिन मोल के बिकानो बलिबारे ही तें
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर विकल बूड़े गोखुरनि
हाथ राम राय ऐसी हाल कहूँ भई है॥

सारा शरीर पीड़ामय हो गया है, लगता है, देव, भूत, पितर, दुष्कर्म, काल और दुष्टग्रह सभी एक हो गए हैं कि इस आदमी को मारो, यह आदमी जो बचपन से अपने को राम के हाथ बिना मोल बिना मानता आया है और अपने भाग्य में राम नाम का लेख टँका मानकर इतना निश्चिंत रहा है। समुद्र पीने वाले अगस्त्य के सेवक को गाय की खुर के छाप से बने गड्ढे में डुबाकर मारो।

यह तो बहुत बड़ा गरूर होगा कि तुलसी का उद्धरण देकर अपनी बात शुरू करूं और अपने को उस पंक्ति में बैठाने की कोशिश करूँ, पर भूडोल आता है तो केवल अटारियाँ ही नहीं ढहतीं, छोटी झोपड़ी भी ध्वस्त हो जाती है। झोपड़ी का अटारी से कोई मुकाबला नहीं, लेकिन ढहते समय दोनों दयनीय हो जाते हैं। अटारी के ढहने का धमाका जोरदार होता है, झोपड़ी का गिरना कोई नहीं देख पाता। मैं अपने को झोपड़ी की स्थिति में पाता हूं तो तुलसी का स्मरण करके कुछ इतराना चाहता हूं। एक राजा साहब का हाथी मरा, उनके पड़ोस में एक गरीब आदमी रहता था, सोचा राजा का हाथी बड़ा शानदार था, शोक प्रकट कर आयें, गया- सरकार क्या कीजिएगा, काली वस्तु न आपको सहती है, न मुझे। मेरी काली कुतिया थी, कल मर गयी। काली चीज राजा साहब को या गरीब पड़ोसी को ही नहीं, किसी रचनाकार को नहीं सहती। अहंकार काला होता है, रचनाकार इस अहंकार को पालता है, इसे बड़ा लाड़ देता है, बड़ा प्यार देता है, इसे बिगाड़ता है, एक दिन यकायक उसका अहंकार रचना की नदी पार करते समय गिरता है, दलदल में धँस जाता है, उस

दलदल में तड़प-तड़प कर वह मरता है, रचनाकार उसे बचाना चाहता है पर बचा नहीं पाता। उसमें जाने के बाद वह अनुभव करता है, मैं अहंकार के बल पर ही तो चल रहा था, वह बल टूट गया।

मेंीर काली कुतिया थी, बड़ी वफादार और बड़ी ढीठ। वह काफी इतराने लगी थी। छाया की तरह पीछे-पीछे लगी रहती थी और इधर तो आगे जाकर राह दिखाने लगी थी। मैं भी सोचता था, कितना भी भाग्यहीन क्यों न होऊँ, स्वाभिमान तो है, जो बराबर साथ देता है, जो ऐसे रास्ते पर नहीं जाने देता जहां मुझे नीचा देखना पड़े, उसे पहले से आभास रहता है। इस स्वाभिमान में एक आत्मविश्वास बैठा हुआ है कि तुम्हारा स्व छोटा नहीं, बड़ा है, वह अनचीन्हा नहीं है, चिन्हारी ने उसे बड़ा बना दिया है। और यह अहंकार की कुतिया इतनी प्रिय, इतनी आत्मीय एक दिन यकायक पुल के किनारे खड़ी थी, उसके किनारे टूटते ही जाने कहाँ वह बिला गयी।

पर मैं 'विनय-पत्रिका' नहीं लिखी थी, कुछ भी लिखने लायक नहीं लिखा था, बस लिखूँ, यह संकल्प ले रहा था। अभिमान ऐसा कि शंकराचार्य पर लिखना चाह रहा था। शंकर के 'तत्वमसि' अनुभव को छूना चाहता था, उनकी जन्मभूमि कालडि गया, उनको नित्य नहलाने वाली नदी पेरियार को हाथ से छुआ। हाथ में उस नदी को लिया, ओठों से उसका आचमन किया, आंखें शीतल कीं, सिर धोया। ओंकारेश्वर गया, शंकर ने यहां दीक्षा ली थी, नर्मदा ओंकार का आकार ग्रहण करती है और उसकी दो धाराओं के बीच में एक 'टीला है, उसी पर ओंकारेश्वर ज्योर्तिंग का मंदिर है, उसमें जाने कैसे नर्मदा का पानी बराबर आता रहता है। शिव को बारे रहता है। ओंकरेश्वर गया था तो कार्तिक की पूनो थी, सहालग के दिन शुरू हो गए थे। नाव से नर्मदा पार की, देखा, इधर का रिवाज है कि जिस कन्या का विवाह होने को होता है, उसे उसके परिवार की स्त्रियां सजा-बजाकर ओंकरेश्वर के स्थान पर ले जाती हैं, गाती-बजाती हुई। मंदिर की सीढ़ियों पर चढ़ रहा था तो कुछ टोलियाँ उतर रही थी, कुछ चढ़ रही थीं, गीत के बोल जैसे एक आवर्त्त बनकर घूम रहे थे। कतकी पूनो की उजास्, मालवा के कंठ की मिठास और सहज गांव की शोभा के शिवार्पित होने का हुलास, इन सबमें लगता था कि शंकर का तत्वमसि ही रुपायित और शब्दायित हो रहा हो। यह सब तुम हो और तुम हो तो मैं नहीं है। मैं सहज अनुभव की इतनी ऊंची सीढ़ियों पर चढ़ नहीं पाता, नीचे ही ठिठक जाता हूं, उसके पास, कहां ऐसा कंठ, कहां ऐसी शोभा और कहां ऐसी उजास्।

बहुत अंतराल के बाद बदरीनाथ गया। सुना था, शंकर ने नर-नारायण की मूर्ति का उद्धार किया था। उन्होंने वहां व्यास गुफा में बैठकर ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्य लिखा था। और तीन ही दिनों में लगा कि शंकर यहीं अद्वैत वेदांत को भाषा दे सकते थे, और केवल शंकर ही, काशी के चांडाल के रूपधारी विश्वनाथ से हारे हुए शंकर, इस भू-बैंकुंठ में नर और नारायण का जोड़ बैठा सकते थे। नर के भीतर से नारायण और नारायण की आंखों में से नर को झाँकते देख सकते थे।

शंकर ने सुदूर दक्षिण से सुदूर उत्तर तक एक महासत्ता का प्रवाह देखा था, हर एक व्यक्ति में वह गूँगा हो तो क्या, मुखर हो तो क्या, एक चैतन्य की पश्यन्ती भाषा की प्रतिध्वनि सुनी थी, मिट्टी के कण-कण को उन्होंने सूँघा था, श्रीपति के चरणकमलों के पराग की गंध उन्होंने पायी थी, उन्होंने प्राण के स्पन्दन में, पवन की हिलोर में, झंझा की झकोर में एक ही स्पर्श पाया था- न ठंडा, न गरम, न रुखा, न मुलायम, बस ऐसा कि रोम-रोम बज उठे। शंकर ने कितनी नदियों का, कितने घाटों का पानी पिया था, इतना पिया था कि वे स्वयं उत्तरगामिनी गंगा हो गए, पूर्वांगामिनी नर्मदा हो गए, पश्चिमगामिनी कावेरी हो गए, वे तीर्थों के तीर्थ हो गए, हिंदुस्तान के चार धाम शंकर की दी हुई प्रतिष्ठा के कारण इतने बड़े धाम हैं, उनकी परिक्रमा आदमी के लिए मुक्ति की परिक्रमा है- मुक्ति छोटे देश से, प्रदेश से, अधिष्ठान से। हर पानी में उन्होंने अमृत चखा, अमृत जो सबका है।

बदरीनारायण की यात्रा से लौटा, मैंने अभिमानवश परीक्षा लेनी चाही कि शंकर को मैं अब रच पाऊँगा या नहीं और लगा कि मैं जहाँ बड़े उल्लास के साथ, विश्वास के साथ खड़ा हूं, वह कगार ढह गया और औचक ही मेरी रचना का अभिमान उस गर्त में गिर पड़ा, उसके साथ ही चिपका हुआ शंकर के तीर्थों के यात्री के अनुभव का अभिमान भी गिर पड़ा। जाने कहां गया तत्वमसि, जाने कहां गया 'जामे द्वै न समाहि'। लगा यह सब झूठ है, संसार को प्रपंच कहना, एक ही सत्ता का अस्तित्व देखना, एक ही भाव के लिए सबको अभिमुख और आकुल देखना- सब भ्रमजाल है। मेरा तीर्थयात्री भाव या कोई भी भाव सब झूठ है, भाव कहीं है ही नहीं। सच है केवल टिकाव, सच है सुरक्षा के छोटे-छोटे दुर्ग, एक दुर्ग दूसरे दुर्ग से निरंतर भयभीत और सच है, हर दुर्ग के चारों ओर की परिखा और परिखा को घेरे हुए कँटीले झाड़ों की बाड़। आदमी भी उतना ही सच है, जितना इसने घिरा हुआ है।

फिर लौट के आता हूं मूल प्रश्न पर, जीना किसलिए? संशय के लिए, द्वैत के लिए, छोटे-छोटे वंचना के दुर्गों के लिए, चौड़ी खाईं के लिए, काँटेदार बाड़ों के लिए? महज जीने के लिए जीना बड़ा वैसा लगता है। भवभूति ने जनक के शोक को व्यक्त करते हुए कहा कि जो मेरी संतान का अपमान हुआ, उसके निर्वासित करने का भीषण अपराध हुआ, उससे ऐसा घाव हुआ है कि जो बराबर नया होता रहता है, जैसे कोई आरे से मर्मस्थल को धीरे-धीरे चीर रहा हो। मुझे भी कुछ वैसा ही लगता है, बल्कि लगता है कि हजार-हजार आरे लगे हुए हों, हजार जगह निरंतर चीरा जा रहा हूं।

समझ नहीं पा रहा हूं कि कौन-सा टुकड़ा है जहां मैं बचा हूं या जहां मेरी संभावना बची हुई है।

शंकर पर पुस्तक लिखने के लिए कितना कुछ कटना है, छँटना है, समझ में नहीं आता, क्योंकि पुस्तक प्रकाशक के तगादे के बावजूद चल नहीं रही है, अटकी हुई है।

ममता और अहंता के विनाश का प्रतिपादन करने वाले को माँ की ममता के वशीभूत क्यों होना पड़ा और मंडन को पत्नी भारती के प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्हें अमरुक क्यों होना पड़ा? क्या अद्वैत एक अधूरा सिद्धांत है? ममता ने होती तो माँ की अन्त्येष्टि वे क्यों करते और अहंता न होते तो परकायप्रदेश करके एक प्रेमिक राजा क्यों बनते? ऐसे शंकर को मेरे जैसा आदमी कैसे रचे, जिसकी ममता और अहंता के जर्रे-जर्रे हो गए हों तो भी वे सभी के अपने-अपने तार-तार को नचा रहे हों।

मैंने एक रचना और अधूरी रख छोड़ी है, 'विह्वल पल आखिरी', श्रीकृष्ण के जीवन की अंतिम संध्या का एक संश्लिष्ट चित्र। उस चित्र में इतने रंग भरने हैं कि समझ में नहीं आता कैसे उनका अनुपात रखूं। और श्रीकृष्ण उस समय विह्वल हैं भी कि नहीं, यह भी निर्णय नहीं ले पाया। शीर्षक ही दुविधा में है। पर मुझे यही लगता है, विह्वल न होते तो अपने प्रिय मित्र उद्धव को पहले ही विदा न दे देते, न अपने सारथी को जबरन द्वारका भेज देते, न वधिक जरा को ही तत्काल पुण्यलोक देकर अपने पास से दूर भेज देते। कहीं-न-कहीं ऐसी बेकली थी, जिसका कोई साक्षी नहीं रहने देना चाहते थे। कहीं-न-कहीं घोर आंगिरस की बात चुभ रही थी। 'प्राणसंशितमसि', ऐसा सोचो कि तुम्हारे प्राण चीरे जा रहे हैं, तब जीवन का रहस्य समझोगे, पूरे जीवन को यज्ञ समझो, अमावस्या में जैसे चन्द्रमा सूर्य में समा जाता है, चन्द्रमा मरकर अमृतकला को प्राप्त करता है, वैसे ही जीवन की खाली करो, खाली करके भरने की प्रक्रिया शुरू करो। एक जीवन को आनुष्ठानिक मृत्यु के रूप में साधो, जीवन के प्रत्येक खंड को सोम की पेराई के रूप में देखो। पहली पेराई होती है बड़े तड़के, तब पत्ती हरी होती है, रस एकदम ताजा- तब उसमें मादन होता भी है तो तत्काल उतर जाना है। दूसरी पेराई होती है मध्यान्ह में, पत्ती गरमा जाती है, रस कुछ कम हो जाता है, पर मादन भाव तीव्र हो जाता है। तीसरी पेराई होती है शाम को, पत्ती एकदम सूख जाती है, रस बूँद-बूँद रह जाता है, पर तलछट का नशा बड़ा गहरा होता है। जीवन को दूसरों के आस्वादन के लिए ऐसे ही पेरते रहो और मृत्यु आये तो मानो अनुष्ठान पूरा हुआ, अब यज्ञ-समाप्ति (अवभृथ) का स्थान करना है। एक-एक बूँद निचोड़ ली गयी है, पत्तियों को फिर से धोकर गारना बच रहा है।

श्रीकृष्ण निश्चय ही अपने गुरु के इस उपदेश और उसके अनुसार जिये गए जीवन की मीमांसा करते-करते विह्वल हुए होंगे। पूरी पेराई हुई कहां, पूरा रस निचुड़ा कहां, पत्तियां अब भी हरी

हैं, इन्हें क्यों धोयें? एक-एक गोपी ने श्रीकृष्ण-रस जितना लिया, जितना पिया, उससे हजार गुना श्रीकृष्ण को रस दिया, पिलाया, पेराई तो गोपी की हो गयी, श्रीकृष्ण की हुई कहाँ? और श्रीकृष्ण की पत्तियों में इतनी पत्तियाँ मिलीं कि कौन वाली सूखी, कौन वाली हरी रही, इसका निर्णय करना कठिन हो गया।

श्रीकृष्ण सोचते हैं, इतनी निर्ममता का अ□यास मैंने किया, इतने रिश्ते मैंने तोड़े पर क्या मैं निर्मम हो सका? और सोचते हैं, इसी को लीला कहा जाएगा। फिर अटक जाता हूँ, श्रीकृष्ण की बेधक हँसी अटका देती है। एक पेड़ की जड़ पर सिर टेके रक्तस्राव से एकदम पीले पीड़ते हुए श्रीकृष्ण क्यों हँस रहे हैं। मेरे सर्वशक्तिशाली शरीर में मेरे चरण सबसे अधिक शक्तिशाली कि उनसे गंगा की धार फूट जाती है, और वे इतने वेध्य कि मामूली-सा तीर लगता है, पाँव का तलवा चिर जाता है। यदुकुल के मद का जो लौहखंड चूर्ण नहीं बना, टुकड़े के रूप में छिटक गया, वहीं तो श्रीकृष्ण को बींधने वाला तीर बना और श्रीकृष्ण इसी बात पर हँस पड़ते हैं कि मैं अपने संकल्प का, कि मदमत्त यदुकुल का विनाश कर डालूँ नहीं तो पृथ्वी इस भार को संभाल नहीं सकेगी, खुद शिकार हो गया। श्रीकृष्ण की हँसी के कारण यह रचना भी अधूरी पड़ी है।

और जब लगता है कि मैं जितना ही इन्हें पूरा करना चाहूँगा उतना ही खंडित होता जाऊंगा। वाणभट्ट की भाँति हर यायावर रचनाकार कही यही नियति है। रचना पूरी नहीं होती, व्यक्ति पूरा नहीं होता, बस पूरे होने की खामखयाली में अधूरा और अधूरा होता जाता है। न पेराई ही पूरी होती है, न रस ही पूरा निचुड़ता है, न अवमृथ स्नान ही आशा की संभावना का संकेत देता है।

कैसा विधाता है कि जो पेराई की यंत्रणा भी पूरी नहीं होने देता। कितनी बार यह कोल्हू चक्कर काटेगा, कब तक चक्कर काटेगा, कुछ भी अंदाज नहीं लगता, और बत्तीसवें वर्ष में जीवनलीला-संवरण करने वाले, शंकर एक सौ पचीसवें वर्ष में महाप्रयाण करने वाले श्रीकृष्ण हँस रहे हैं, एक और हारा, एक और टूटा, संसार ने एक नया सावज मारा। उनकी हँसी की कल्पना मात्र से तिलमिला उठता हूं और जीवन की हारी-थकी धूलिधूसर देहरी पर लौट आता हूं।

निबंध शैली

आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, इतिहास, त्यौहार, रीति, आचार-विचार आदि विविध विषयों पर निबंध रचना की। उन्होंने विषयानुकूल भाषा, भावों एवं शैली का प्रयोग कर निबंध की रोचकता एवं उपयोगिता में वृद्धि की है। वे सर्वश्रेष्ठ ललित निबंधकार हैं। ललित

निबंधों में जो लालित्य, प्रवाह, स्निग्धता, रसमयता, अलंकारिता, भावप्रवणता काम्य है वह उनके निबंधों में भरपूर पाई जाती है। वे अनेक प्रकार की शैलियों का समावेश करते हैं-

1. विवेचनात्मक शैली
2. प्रसादात्मक शैली
3 आवेग शैली
4. भावात्मक शैली
5 व्याख्यात्मक शैली
6 चिंतन प्रधान गंभीर तत्सम शैली
7. आत्मकथन शैली
8 उदाहरण शैली
9. अलंकृत शैली आदि।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकार, निबंधकार हैं। वे सांस्कृतिक चेतना से संपन्न हैं। मानवता दृष्टि से ओतप्रोत तथा सौन्दर्य के उपासक हैं। वे यथार्थवादी हैं तथा वास्तविकता का स्पष्ट रूप से नि:संकोच स्वीकार करने की सामर्थ्य रखते हैं। उनके कथ्य के मूल में लोक कल्याण की भावना होती है। वे कभी-कभी आत्मकथन शैली द्वारा स्वयं को उदाहरण के रूप में रखकर अपने विचारों को संतुष्ट करने के बहाने उपदेश देते हैं जैसा कि उन्होंने जीवन अपनी देहरी पर निबंध में किया है। उनके गंभीर कथ्य के बीच में मधुर हास्य-व्यंग्य विनोद की छटा बिखरी होती है जैसे प्रस्तुत निबंध में वे अहंकार के प्रतीकार्थ हाथी और काली कुतिया का उदाहरण देते हैं। मिश्र जी की भाषा तत्सम प्रधान है। वे तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग कर भाषा को सहज बोधगम्य बनाते हैं। उनके निबंधों में तन्मयता, रसभाव, कल्पना का सुंदर समन्वय है। व्यावहारिक विषयों का प्रतिपादन करते हुए वे सतर्क, पुष्ट व्यवहार संयत भाषा का प्रयोग करते हैं। वे नीरस विषयों को भी अपनी सरल, अलंकारिक भाषा, मुहावरों लोकोक्तियों तथा उदाहरणार्थ के प्रयोग से सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं। उनके ललित निबंधों में स्वाभाविकता, तारल्य, सुघड़ता के दर्शन होते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पश्चात महत्वपूर्ण निबंधकारों में आचार्य मिश्र का नाम अग्रणी है। वे सूक्ष्म मानवीय दृष्टि के साथ सूक्ष्म सांस्कृतिक दृष्टि भी रखते हैं। उनके शोधकार्य उनकी गहन अध्ययनशील प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मिश्र जी के निबंधों में विचार गांभीर्य, सुसंबद्ध विचार-शृंखला, विषय की स्पष्टता, शैली की प्रसादात्मकता, निरीक्षण की नवीनता, विवेचन-विश्लेषण की सूक्ष्मता, व्यापक जीवन दृष्टि एवं प्रवाहमयी समर्थ, सशक्त भाषा एवं विषयानुकूल शैली विद्यमान रहती हैं। हिंदी,

अंग्रेजी और संस्कृत के प्रकांड पंडित होने के कारण उनका चिंतन, अध्ययन, लेखन का क्षेत्र व्यापक एवं मौलिक है। डॉ. शशिप्रभा पांडेय 'निबंध एवं विधाएं' में लिखती हैं- ''डॉ. विद्यानिवास मिश्र ललित निबंधों के इतिहास में विशिष्ट महत्व के अधिकारी हैं। इनकी निबंध शैली में आचार्य द्विवेदी की भांति पांडित्य, अंतर्कथाओं का सन्निवेश, कोमलकांत पदावली, लयात्मक किंतु गूढ़ शब्द गुंफित भाषा का प्रयोग मिलता है। छितवन की छांह 'तुम चंदन हम पानी', 'मैंने सिल पहुंचाई', 'आंगन का पंछी' और 'बनजारा मन' आदि इनके प्रसिद्ध संग्रह हैं।'' आचार्य विद्यानिवास मिश्र की आस्तिकता, ईश्वरवाद उनके निबंधों में दिखाई देता है। वे खुले विचारों वाले, नवीनता एवं प्राचीनता का समन्वय को महत्व देने वाले निबंधकार हैं। कर्तव्य भावना, देश प्रेम, प्रकृति प्रेम, आत्मावलोकन की प्रेरणा, मर्यादा और संयम के पाठ यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर दिखाई देता है। कलात्मकता और सुघड़ता उनकी भाषा की विशेषताएं हैं। संक्षिप्त, चुस्त वाक्य रचना के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। उनकी व्याख्याओं में काव्यात्मकता के साथ गंभीर चिंतन दृष्टिगोचर होता है। अत: कह सकते हैं कि आचार्य विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों में विविध शैलियों का लालित्य देखते ही बनता है। हिंदी साहित्य जगत को उनके निबंधों ने कृतार्थ किया है। वे महत्वपूर्ण शैलीकार, निबंधकार के रूप में स्मरणीय हैं और रहेंगे।

3.2.4 जीवन अपनी देहरी पर-प्रतिपाद्य

यह आत्मकथन शैली में लिखा गया ललित निबंध है। जिसमें आचार्य विद्यानिवास मिश्र रचनाकार के जीवन की विडंबना को अभिव्यक्त करते हैं। अपने साहित्य को जीवन का बनाने वाला रचनाकार इस संदेश को रचते हुए, रचने के पश्चात किस तरह भीतर ही भीतर टूटता है, विखरता है, बार-बार मरता है और उसकी रचनाएं जाने कितने ही टूटे हुए लोगों को साहस के साथ एक बार फिर खड़ा होने का संदेश देती है। आचार्य मिश्र इस निबंध के माध्यम से रचनाकार के जीवन और अनुभूतियों के यथार्थ को प्रतिपादित करना चाहते हैं। वे कहते हैं जीवन से प्रेम करने वाले व्यक्ति को मृत्यु अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है। जो जितना ज्यादा जीवन के प्रति आस्थावान और समर्पित होता है उसे उतना ही मृत्यु घेरने का प्रयत्न करती है। मिश्रजी ने अनेक उदाहरणों के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है जो दूसरों को साहस के साथ जीने की, जीवन से प्रेम करने की शिक्षा देता है। अंतत: वह स्वयं जीवन से हार मानकर मृत्यु को गले लगा लेता है।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे एक पाश्चात्य लेखक थे जिन्होंने युद्ध का विरोध किया। वे कहते थे युद्ध एक घनघोर विनाश है जिसमें मनुष्य हत्याएं करते हुए जीवन और उनके सौन्दर्य का अपमान करता है। इस लेखक ने आत्महत्या कर अपनी जीवन लीला समाप्त की। वे चित्रकार वैन गो का उदाहरण देते हैं। जिसने रंगों के माध्यम से जीवन की पहचान कराई। वह जीवन के रंगीन सौन्दर्य का पुजारी था।

इस चित्रकार ने किस परिस्थिति में किन मनोभावों के तहत अपनी गरदन पर छुरे से वार किया और मृत्यु का वरण किया। इतनी क्रूरता से जीवन का त्याग और मृत्यु का वरण किसलिए? दर्शन शास्त्र के व्याख्याता कुमारिल ने प्रयाग में नदी में डूबकर आत्महत्या की, जबकि जीवन भर सुख और दुख पर दार्शनिक व्याख्याएं प्रस्तुत करते हुए मनुष्य का निर्विकार भाव से इन्हें सह लेने का उद्‌बोधन देते रहे। आचार्य मिश्र इन उदाहरणों के द्वारा यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि मनुष्य जिस चीज को प्राणपण से चाहता है विधाता उसकी इस आसक्ति को मिटाने के लिए वियोग का, मृत्यु का मार्ग अपनाता है। जो जीवन में रस लेते हैं, और दूसरों को जीवन में रस लेने की शिक्षा देते हैं, मृत्यु उन्हें जीवन से दूर खींच ले जाती है। यही जीवन की परीक्षा है। मिश्र जी कहते हैं ऐसी परीक्षा से सामना होना रचनाकार के भाग्य में लिखा होता है क्योंकि वह रचना में जीवन के विविध रंगों, रसों, भावों का चित्रण करते हुए जीवन को बूंद-बूंद निचोड़ता जाता है। रचना जीवंत हो जाती है रचनाकार का सत्व लेकर और रचनाकार अपना सत्व देकर मरता जाता है। खाली होता जाता है, टूटता जाता है, रचना के रूप में मृत्यु का वरण कर रचना को जीवंत कर देता है। रचना जितनी बड़ी होगी, रचनाकार उतना ही अधिक टूटता है, उसका अंतर्मन ध्वस्त हो जाता है जैसे सब कुछ लुट गया हो।

तुलसीदास जी 'रामचरितमानस' की रचना के बाद टूटे तो बड़े प्रयत्नों से हिम्मत, साहस, जुटाकर उन्होंने टूटन की पीड़ा व्यक्त करते हुए 'विनयपत्रिका' लिखी। इस निवेदन के बाद उनके बाहुओं में असह्य पीड़ा होने लगी। तब उन्होंने 'हनुमान बाहुक' की रचना की। उनकी पंक्तियां- 'पांय पीर पेट पीर बांह पीर मुंह पीर, जरजर सकल सरीर पीर भई है।' पढ़े तो उनके सर्वांग की दुसह पीड़ा का भान होता है। वे तुलसीदास जी स्वयं के लिए प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु 'समुद्र पीने वाले अगस्त्य के सेवक को गाय की खुर की छाप से बने गड्‌ढे में डुबाकर मारो।' सात्विक जीवन का संदेश देने वाले, सुख और दुख को राम की कृपा से मिला प्रसाद समझकर निर्विकार भाव से भोगने का उपदेश देने वाले तुलसीदास अपने लिए ऐसी मृत्यु की कामना कर रहे हैं। यह कैसा मनोभाव है?

आचार्य विद्यानिवास मिश्र अत्यंत विनम्रतापूर्वक अपनी अवस्था का चित्रण करते हुए यह बताना चाहते हैं कि जो दशा, अनुभूति बड़े रचनाकारों की होती है, वही छोटे रचनाकारों की। वे तुलसी से अपनी तुलना करने के लिए उनका उदाहरण नहीं देते बल्कि यह बताने के लिए उन्हें उद्धृत करते हैं कि उनके जैसा बड़ा लेखक, कवि, सहनशील व्यक्ति और रचनाकार भी रचना के उपरांत ऐसे ढहता है जैसे भूकंप आने पर बड़ी-बड़ी अट्‌टालिकाएं ढह जाती है। वे तुलसीदास को बड़ी अटारी एवं स्वयं को झोपड़ी कहते हैं। भूडोल अटारी एवं झोपड़ी पर समान प्रभाव डालता है।

दोनों ही ध्वस्त होकर निरीह एवं दयनीय हो उठते हैं। विद्यानिवास मिश्र कहते हैं- ये और बात है कि अटारी का ढहना सबको दिखता है लेकिन झोपड़ी का ढहना कोई नहीं देख पाता। मिश्र जी रचना कर्म के पश्चात अपनी अंतर्दशा का चित्रण कर रहे हैं। थोड़ा मनोविनोद करते हुए वे व्यथा को हल्का करना चाहते हैं अत: कहते हैं कि तुलसी से अपनी तुलना नहीं कर रहा हूं लेकिन उनका उदाहरण देकर इतराना चाहता हूं, गौरवान्वित होना चाहता हूं कि अगर मैं अपने भीतर टूटन का अनुभव करता हूं तो ऐसा नहीं है कि यह मुझ जैसे छोटे लेखकों के साथ ही होता है यह अनुभव बड़े-बड़े लेखकों का है कि महान रचना की पूर्णता के बाद मृतप्राय पड़े रहते हैं। अहंकार की मृत्यु को पुष्ट करने के लिए वे एक उदाहरण देते हैं कि - ''राजा के शानदार हाथी के मरने पर उसके पड़ोस का गरीब आदमी शोक प्रकट करने गया और बोला- सरकार क्या कीजिएगा, काली वस्तु न आपको सहती है न मुझे। मेरी काली कुतिया थी, कल मर गयी।' उदाहरण गंभीर है। काला रंग अहंकार का होता है। अहंकार हर मनुष्य के भीतर होता है चाहे वह राजा हो या गरीब, सामान्य मनुष्य हो या रचनाकार। राजा को हाथी बराबर अहंकार था, गरीब को कुतिया के बराबर। दोनों का अंत ईश्वर ने लिखा-मृत्यु। मिश्र जी कहते हैं जीवन भर जो हमारे पास श्रेष्ठ होता है हम उसके लिए अहंकार को पालते हैं, उससे प्रेम करते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं, लेकिन एक दिन वह अहंकार खत्म होता है, मरता है। वह वस्तु छूट जाती है जिस पर अहंकार था तो व्यक्ति को पता चलता है कि वह इस अहंकार के बल पर ही जीवित था, अहंकार के मरते ही वह ध्वस्त हो जाता है।

आचार्य मिश्र अपने अहंकार को काली कुतिया के रूप में चित्रित करते हैं। कहते हैं मेरा अहंकार ढीढ की तरह मुझसे चिपका हुआ मेरा पथ प्रदर्शन करने लगा था। छाया की तरह लगा रहा, दिशा निर्देशक और सलाहकार बन बैठा। मिश्र जी कहते हैं- मैं सोचता था कि अभागा होने पर भी मेरे अंदर प्रबल स्वाभिमान है यही मेरे लिए सौभाग्य की बात है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसके स्वाभिमान से प्रकट होती है। मेरा स्वाभिमान मुझे ऐसे स्थान पर जाने से रोकता था जहां मेरा अपमान हो या मुझे नीचा देखना पड़े। इस स्वाभिमान में आत्मविश्वास था कि मेरा 'स्व' छोटा नहीं, बड़ा है। मैं जानता हूं कि मैं क्या हूं। परिचय ने 'स्व' को बड़ा कर दिया है तो स्वाभिमान का अहंकार और पुष्ट हो गया। यह अहंकार की कुतिया एक आत्मविश्वास और आत्माभिमान के पुल पर खड़ी थी। अचानक यह पुल टूट गया और अहंकार की कुतिया बिला गई अर्थात् अपने बहुत कुछ होने का अहंकार छूट गया, टूट गया। कारण अंतर्दृष्टि और चिंतन प्रक्रिया ने कुछ ऐसे सत्यों से साक्षात्कार कराया कि लगा मेरा अहंकार व्यर्थ है। कुछ है जो हमारी पकड़ और पहुंच से बाहर है। आचार्य मिश्र ने शंकराचार्य पर लिखने का संकल्प लिया और उन स्थानों के भ्रमण के लिए निकले जहां बैठकर, रचकर शंकराचार्य ने 'तत्वमसि' 'तुम ही वह ब्रह्म हो' का अनुभव किया था। वे शंकराचार्य की जन्मभूमि कालडि गए। पेरियार नदी में शंकराचार्य नित्य नहाते थे अत: उसके

पानी से आचमन किया। ओंकारेश्वर गए जहां शंकराचार्य ने दीक्षा ली थी। ऊँ की आकृति में नर्मदा की दो मुड़ी धाराओं के बीच टीले पर बना मंदिर जिसमें शिव पानी में डूब रहते हैं, देखकर शीतलता का अनुभव हुआ। कार्तिक पूर्णिमा का उज्ज्वल प्रकाश, ग्रामीण परिवेश, स्वच्छ शीतल वायु के झकोरे किसी ग्रामकीण कन्या के विवाह पर मंदिर में आशीर्वाद लेने आए ग्रामीणों का लोक गीत, मिठास से भरे इस वातावरण में मिश्र जी को 'तत्वमसि' का अनुभव हुआ। अहंकार मिट गया, उस ब्रह्मानंद को ही उन्होंने चहुंओर रूपायित, ध्वनित होते हुए देखा, अनुभव किया। कुछ काल के पश्चात व बदरीनाथ गए जहां शंकराचार्य ने नर-नारायण की मूर्ति का उद्धार किया था तथा व्यास गुफा में बैठकर ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्य लिखा था। यहां के पवित्र, स्निग्ध, मौन से भरे वातावरण में मिश्र जी ने अनुभव किया कि शंकराचार्य की कर्मभूमि यही हो सकती थी। नर में नारायण को और नारायण की आंखों से नर को देखने का कार्य इसी स्वर्ग रूपी धरती पर हो सकता था। काशी में चाण्डाल का रूप धारण किये हुए विश्वनाथ से हारकर शंकराचर्य ने इसी भूमि में, इसके अलौकिक, अनुपम सौंदर्य में, इस धरती के कण-कण में, वायु में उन्होंने पर ब्रह्म के चरणों की पराग को पाया होगा। उन्होंने 'तत्वमसि' का अकथनीय अनुभव पाया जो न ठंडा था न गरम, न रुखा, न मुलायम बस इतना ही कि रोमांचित हो उठे। शंकराचार्य के इस अनुभव ने उन्हें स्वयं को ही तीर्थ बना दिया। वे उत्तर दिशा में बहने वाली गंगा, पूर्व में बहने वाली नर्मदा तथा पश्चिम में बहने वाली कावेरी हो गए। शंकराचार्य द्वारा भारत में स्थापित चारों धाम की यात्रा मुक्ति की यात्रा है। बदरीनाथ की यात्रा से लौटकर, अनुभवों की समृद्धि अनुभव करते हुए उन्होंने शंकराचार्य पर लिखना आरंभ करना चाहा। किंतु मिश्र जी ऐसा नहीं कर सके। 'तत्वमसि' का अनुभव, ब्रह्मानंद की प्राप्ति, वो उल्लास, अहंकार, आत्मविश्वास सब ध्वस्त हो गए। क्यों ?

आचार्य विद्यानिवास मिश्र के भीतर आध्यंतरिक प्रलय का सा धमाका हुा। एक परिवर्तन जिसमें सब कुछ उलट-पुलट गया। अक्सर तीर्थ-यात्रायों से लौटने के बाद रचनाकारों, सद्गृहस्थों के साथ भी ऐसा ही होता है। वे वर्तमान के सत्य से मुख नहीं मोड़ सकते। इसके सुख को 'तत्वमसि' के अनुभव के कारण झुठला नहीं सकते। मिश्र जी सोचते हैं कि संसार को प्रपंच कहना, एक ही सत्ता को कण-कण में देखना, एक ही ब्रह्मानंद के भाव को व्यापक, शाश्वत मानना सब झूठ है। सच केवल वर्तमान की स्थिरता है। हर व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए हर क्षण बातों के, प्रयत्नों के दुर्ग बनाता है, हर दुर्ग अपनी सुरक्षा के लिए हर क्षण जो प्रयत्न करता है वह सच है। अर्थात व्यक्ति का वर्तमान और वर्तमान के सुख को बचाने का संघर्ष सच है। वे गंभीर चिंतन में डूबते हुए पुन: अपने विचारों को पलटते हैं कि नहीं- वर्तमान और वर्तमान की सुरक्षा के संघर्ष ही सच नहीं है इससे क्या प्राप्त होता है ? जीवन की सार्थकता क्या ऐसे जीने से सिद्ध होगी ? जीवन के

प्रति संशय, द्वैत के भाव को मिटाने का प्रयत्न, ईर्ष्या के कांटे, द्वेष की झाड़ी, रिश्तों के बीच दूरियां इन सब विचारों के लिए जीना, क्या यही जीवन है? मरने की प्रतीक्षा में अपनी निराशा और यंत्रणा का अंत करने के लिए मृत्यु की प्रतीक्षा में जीना, क्या यह जीवन श्रेष्ठ होगा? उन्हें भारी यंत्रणा का अनुभव होता है। जैसे भवभूति के 'उत्तररामचरित' में जनक शोक व्यक्त करते हुए कहते हैं- ''मेरी संतान का अपमान हुआ, उसको निर्वासित करने का भीषण अपराध हुआ, उससे ऐसा भाव हुआ है जो बराबर नया होता रहता है, जैसे कोई आरे से मर्मस्थल को धीरे-धीरे चीर रहा हो।'' शंकराचार्य पर पुस्तक लिखते हुए मिश्र जी ऐसी ही यंत्रणा का मार्मिक अनुभव करते हैं।

'अद्वैत' अर्थात् जहां दो नहीं एक हैं। अगर 'तत्वमसि' का अनुभव हो गया, शंकर अद्वैतवादी हो गए, उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया तो फिर वे मां की ममता के अधीन होकर कर्तव्यपालन को आवश्यक समझ कर मां की अंत्येष्टि करने क्यों गए? उनमें 'अहंता' का भाव समाप्त हो गया था, ब्रह्म से अद्वैत भाव स्थापित हो गया था तो मंडन की पत्नी भारती के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अमरूक की देह में परकाया प्रवेश कर राजा क्यों बने? शंकर ममता और अहंता का ध्वस्त कर चुके थे किंतु फिर भी ध्वस्त ममता और अहंता लिए लीला रची ताकि पृथ्वी का भार हल्का हो सके, लेकिन स्वयं शिकार हो गए। कृष्ण की हंसी रचनाकार की विवशता की हंसी है, वह रचना को पूरी नहीं होने देती। फ्ख्वें वर्ष में शंकराचार्य एवं क्ख्व्वें वर्ष में कृष्ण ने महाप्रयाण किया और वो भी हंसते-हंसते। शायद विधाता के विधान पर हंस रहे हैं कृष्ण।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र इस निबंध के द्वारा यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि कोई रचना अपने आप में पूरी नहीं होती। बाणभट्ट ने भी रचना के अधूरेपन के अनुभव को भोगा। हर रचनाकार के भाग्य में यह पीड़ा सहना लिखा है। जब वह रचना पूरी करता है तभी उसे अनुभव होता है कि वह रचना के रूप में पूरा होकर स्वयं खाली हो गया है किंतु धीरे-धीरे उसके भीतर नया जीवन नया कथ्य आकार लेने लगता है और वह पुनः अपने आपको निचोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है। कृष्ण की हंसी से तिलमिलाते हुए पुनः जीवन की देहरी लौटते हुए मिश्र जी यही अनुभव करते हैं कि अभी पेराई पूरी नहीं हुई है। अभी और देखना, लिखना, सहना बाकी है। रचनाकार रचना के माध्यम से उस कथ्य को जीता है। पात्रों के साथ सुख, दुख हंसी और आंसू का सहभागी बनता है अतः वह बार-बार टूटता है और बार-बार जुड़कर, शक्ति समेटकर एक नये रचनाकर्म में प्रवृत्त होता है। ईश्वर ने उसे यह सामर्थ्य देकर उसकी लंबी परीक्षा की व्यवस्था की है। उसे लोक कल्याण का दायित्व सौंपा है, अतः दायित्व की पूर्ति के लिए उसे अपनी बार-बार की मृत्यु को स्वीकार करना पड़ता है। यह तथ्य वास्तव में सत्वपूर्ण रचना और रचनाकारों की प्रतिष्ठा के लिए है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने सतोगुणी रचनाकार की पीड़ा और उसके निर्वहन पर प्रकाश डाला है। बाजार में बिकने वाले हल्के साहित्य और उनके मानसिक, आत्मिक, बौद्धिक

उत्थान के लिए यह निबंध आवश्यक है, उपयोगी है। उन्हें अपने भीतर सतोगुण का विकास कर लोक कल्याणकारी रचना में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विद्यानिवास मिश्र का यह निबंध भावपूर्ण एवं प्रासंगिक है।

3.2.5 जीवन अपनी देहरी पर – समीक्षात्मक अध्ययन

आचार्य विद्यानिवास मिश्र का यह निबंध उत्तम कोटि का ललित निबंध है। समीक्षात्मक अध्ययन की कसौटी पर यह शास्त्रीय सिद्धांतों का पालन करता हुआ अत्यंत व्यावहारिक शैली में लिखा गया निबंध है। इसमें आदि से अंत तक करुण रस की प्रधानता दिखाई देती है तथा अनुभूति हृदय को भावपूर्ण बनाती है। भाषा अलंकारिक होने पर भी सहज सौंदर्य उत्पन्न करती है। उदाहरण प्रभावित तथा ज्ञानवर्धन करते हैं। देशी-विदेशी रचनाकारों के, चिंतकों के उदाहरण तथा अंतर्कथाएं मिश्र जी के बहुपठ होने तथा सांस्कृतिक ज्ञान की समृद्धि से भरपूर होने का संकेत देते हैं। जैसे उन्होंने राजा और गरीब आदमी के अहंकार को हाथी एवं काली कुतिया के संकेतार्थों से रोचक बनाया है। यह निबंध ललित निबंधों की श्रेणी में स्मरणीय एवं रेखांकित करने योग्य है।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र 'जीवन अपनी देहरी पर' शीर्षक के माध्यम से जीवन के आदि से अंत तक के द्वंद्व तथा यथार्थ का चित्रण करते हैं। वे कहते हैं- जीवन देहरी पर ही स्थिर रहता है इसके अंदर और बाहर भ्रमण करता हुआ रचनाकार निरंतर जीवन के सत्य को खोजने में लगा रहता है। कभी उसे प्रतिदिन प्राप्त होने वाला सुख, सौभाग्य सत्य लगता है और कभी वह निर्विकार होकर संसार को देखता है, उसे संपूर्ण सुख-दुख से परे एक अभूतपूर्व, अलौकिक आनंद विभोर करता है, उसे लगता है कि यही वह ब्रह्म है जिसकी खोज में मनुष्य जीवन से मृत्यु तक की यात्रा तय करता है। साधु-संन्यासी वन-वन की खाक छानते फिरते हैं और अंततः अंतिम क्षण में जाने किस सार्थकता, निरर्थकता या व्यर्थता का बोध लिए हुए अंतिम विदा लेते हैं। विद्यानिवास मिश्र भीतर की विह्वलता का कारण और समाधान खोजते हुए सामानांतर ब्रह्म रचनाकार तक आते हैं। जो अपने ही नहीं दूसरों के भी हृदय के भावों को उसी शिद्दत से अनुभव और अभिव्यक्त करता है।

मिश्र जी आरंभिक पंक्तियों में ही यह सिद्ध करते हैं कि जो जीवन से जितना अधिक प्रेम करता है मृत्यु का आकर्षण उसे उतना ही अधिक अपनी ओर खींचता है। उन्होंने जीवन की नयी व्याख्या करने वाले, दूसरों में जीवंतता का प्रसार करने वाले, जीवन का पाठ पढ़ाने वाले रचनाकारों अर्नेस्ट हेमिंग्वे, चित्रकार वैन गो, कुमारिल आदि की आत्महत्याओं का उदाहरण देते हुए यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि जीवन का दर्शन, जिसमें सुख-दुख विधाता के द्वारा निर्धारित समय और सीमा में प्राप्त और लुप्त होते हैं, रचनाकार को बचा नहीं पाता। एक ऐसा क्षण

भी आता है जब वह निराशा से, दुख से, संत्रास से और अधिक जूझने की शक्ति खो देता है और मृत्यु का वरण करता है। रचना के माध्यम से दूसरों को सशक्त बनाने वाला रचनाकार हर रचना की पूर्णता के बाद थोड़ा-थोड़ा मरता जाता है, ध्वस्त होता है, खाली होता है, टूटता है। तब उसकी रचनाएं उसे सहारा नहीं देतीं। वह अपने भीतर से ही शक्ति जुटाकर नयी रचना में जीवन ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। तुलसीदास 'रामचरितमानस' लिखकर टूटे तो 'विनय पत्रिका' का आश्रय लिया। लेकिन तब तक उनकी भुजाओं की पीड़ा ने उन्हें त्रस्त कर दिया और उन्होंने 'हनुमान बाहुक' की रचना की। लेकिन तब तक उनकी भुजाओं की पीड़ा ने उन्हें त्रस्त कर दिया है और उन्होंने 'हनुमान बाहुक' की रचना की। मिश्र जी शंकराचार्य पर लिखना चाहते हैं, लेकिन भटक कर, थक कर उन्होंने जो 'तत्वमसि' का अनुभव पाया था वह अंततः साथ छोड़ देता है, वे सामान्य जीवन के सुख-दुख की क्षणिक उपलब्धि की सत्यता से मुंह नहीं मोड़ पाते। यहां अद्वैत एवं द्वैत के बीच के भेद और अनुभव को उन्होंने कथात्मक रूप दिया है। वे ईश्वर के साथ अद्वैत की स्थिति को शंकराचार्य एवं कृष्ण के संदर्भ में सत्य मानते हुए भी इस बात को भूल नहीं पाते कि शंकराचार्य ने व्यावहारिक जगत की रीत किस भावना के वशीभूत होकर निभाई, क्यों वे मां का अंतिम संस्कार करने आए। क्यों अंतिम क्षणों में कृष्ण ने सब को भेजकर एकांत चुना, क्यों उनकी मधुर हंसी अब तक टिकी हुई है? क्या वे संसार की निरंतर चलने वाली जन्म-मृत्यु की प्रक्रिया और उससे प्रभावित होकर जीवन के सौन्दर्य, सुख-दुख का निर्धारण करने वालों पर हंस रहे हैं? या स्वयं पर कि यदुकुल का विनाश करते-करते स्वयं ही मृत्यु का आलिंगन करना पड़ रहा है। विद्यानिवास मिश्र की दृष्टि यहां धर्म और दर्शन से ओत-प्रोत है। वे कुशल शैलीकार होने के नाते दार्शनिकता की आड़ में व्यावहारिक जगत के सत्य को खोलना जानते हैं। इसलिए अत्यंत कुशलता से उन्होंने उस महा सत्य को स्वीकार किया है कि सामान्य मनुष्य ही, रचनाकार हो या देवता, अंतिम समय में यह जानते हुए कि मृत्यु अंतिम सत्य है उसका वरण करते हुए विह्वल हो उठता है। संसार की माया का कौन-सा आकर्षण है जो अदृश्य रूप से उस पर जाल फेंकता है। कौन सा सुख है जिसका स्मरण दुखी जीवन से छुटकारा पाते हुए भी उसे मोह में डालता है और वह विह्वल हो उठता है। अंततः वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सृष्टि में सब कुछ अधूरा है। हर मनुष्य अपूर्ण है, हर रचना अपूर्ण है, विधाता का कोल्हू चक्कर काटता रहेगा, कब तक चक्कर काटेगा मालूम नहीं। हर बार पूर्णता करने के भ्रम में सामान्य मनुष्य हो या रचनाकार और खाली होता जाता है। इस सत्य के निकट पहुंचते-पहुंचते रचनाकार का टूटना, खाली होना निरंतर रहता है।

विद्यानिवास मिश्र परंपरा से मोह रखते हैं साथ ही नवीनता के प्रति उनमें आग्रह भी है। वे बड़ी-बड़ी बातें संक्षिप्त पदावलियों में कह जाने की कला जानते हैं। डॉ. नगेंद्र 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में मिश्र जी पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि 'विद्यानिवास मिश्र ने ललित निबंधों को गंभीरता पूर्वक लिया है। 'छितवन की छांह, 'तुम चंदन हम पानी', 'आंगन का पंछी' और 'बनजारा मन', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' आदि संगृहीत निबंधों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोक जीवन के साथ जोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। जीवन के छोटे-छोटे अनुभव भी उनकी व्या□याओं को भावनाओं की समृद्धि प्रदान करते हैं। तत्सम भाषा के बीच सहज बोधग□य उदाहरण, लोकोक्तियां और उदाहरण विषय को समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के तौर पर वे लिखते हैं कि जब भूडोल आता है तो केवल अटारियां ही नहीं ढहती, छोटी झोपड़ी भी ध्वस्त हो जाती हैं। तो वे प्रकृति के समभाव को रेखांकित करते हैं। पांच तत्वों से बना मनुष्य संसार में भेदभाव की दीवारें खड़ी करता है किंतु ये पांचों तत्व स्वतंत्र रूप से अमीर-गरीब, जाति-पांति का भेद-भाव नहीं रखते। वायु, अग्नि, जल, धरती और आकाश की दृष्टि में सभी समान पाने के योग्य हैं। विद्यानिवास मिश्र की यह शैली उन्हें गंभीर चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। यह निबंध चिंतन प्रधान हैं, विचारात्मक शैली, उदाहरण शैली, आत्मकथन शैली एवं भावनापूर्ण शैली को धारण करता है। आकार में छोटा होने पर भी यह जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसमें एक उदासी का भाव निहित है जो स्वयं के प्रति तथा मानव के प्रति उसकी विवशता को अनुभव करके करुणा से भर जाता है। इसमें रसात्मकता, लयात्मकता, प्रबल आकर्षण है जो पाठक को बांधे रखता है। 'जीवन की देहरी पर' शीर्षक अपने आप में जिज्ञासा उत्पन्न करने वाला है। योगदान अमूल्य है। वे स्मरणीय रचनाकार हैं तथा निबंधकार के रूप में उनका स्थान उच्च एवं कीर्ति अक्षुण्ण है।

गतिविधि

इस इकाई में उल्लिखित चारों निबंधकारों की लेखन शैली की विशेषताओं एक चार्ट तैयार कीजिए।

क्या आप जानते हैं ?

बालकृष्ण भट्ट और रामचंद्र शुक्ल पत्रकारिता से जुड़े थे। भट्ट जी ने हिंदी प्रदीप का प्रकाशन-संपादन किया और शुक्ल जी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका का संपादन किया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी को क-भ्त्र में तथा विद्यानिवास मिश्र को क--- में साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा पद्म भूषण से स□मानित किया गया।

4.6 सारांश

पं. बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में पर्याप्त विषय वैविध्य, व्यापकता, उदाहरता एवं व्यंग्यात्मकता के दर्शन होते हैं। इन्होंने विषय प्रधान तथा व्यक्त प्रधान दोनों प्रकार के निबंधों की रचना की। विवरणात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक एवं विचारात्मक सभी प्रकार की शैलियों में लिखे गए निबंध अपना विशेष महत्व रखते हैं। समाज का विकास एवं जाग्रत, विकसित राष्ट्र का निर्माण इनका उद्देश्य था जिसे इन्होंने कसौटी बनाया तथा समाज, साहित्य, मनोविज्ञान, धर्म दर्शन और उन निबंधों को अपनी कसौटी पर परखा। गहन चिंतक होने के कारण भट्ट जी की विवेचन शैली विचार गांभीर्य से परिपूर्ण होती है। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर भट्ट जी भारतेंदु युग के अग्रगण्य निबंधकार ठहरते हैं। श्रेष्ठ निबंधकार होने के साथ वे श्रेष्ठ समीक्षक भी थे। उन्होंने तुलनात्मक समालोचना की नींव रखी, जब भट्ट जी ने लेखन आरंभ किया था तब हिंदी का विकास नहीं हुआ था। वह हिंदी के विकास एवं हिंदी गद्य के विकास का संघर्ष काल था। अत: उनके चिंतन में हिंदी की चिंता भी थी। वे हिंदी में उत्कृष्ट रचनाओं के अभाव को अनुभव कर रहे थे। भट्ट जी भारतेंदु जी की तरह भाषा को सरल, सहज, सरस बनाकर जनता की भाषा के रूप में प्रस्तुत करना पसंद करते थे। बाद में पं. पद्म सिंह शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना का भव्य महल खड़ा कर समालोचना का मार्ग प्रशस्त किया।

'हृदय' ऐसा ही ललित निबंध है जिसमें बौद्धिकता एवं भावनाओं का अद्भुत संगम है। हृदय की विशेषताएं बताते हुए उसकी श्रेष्ठता और सार्थकता को बेहद रोचक भाषा एवं शैली में अभिव्यक्त प्राप्त हुई है। उनके अनेक ललित निबंध विविधता एवं रोचकता से परिपूर्ण अनेक शैलियों में लिखे गए हैं जिनमें व्यंग्य की फुहारें, मुक्त हास्य, चुटकी लेने वाला भाव, अनौपचारिकता यानी बेतकल्लुफी के दर्शन होते हैं। हृदय की विशेषताएं बताते हुए इसे परमात्मा की चर-अचर, जड़-चेतन से युक्त सृष्टि का सर्वाधिक, सर्वोच्च ही नहीं, बल्कि एक अकेला ऐसा अद्भुत पदार्थ प्रतिपादित करते हैं, जो है तो केवल तीन अक्षरों का, लेकिन इस छोटे धड़कते मांस-पिंड में तीनों लोकों और चौदहों भुवन समा जाते हैं। इस निबंध में भट्ट जी हृदय का महत्व बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य का जीवन कर्म से बंधा है किंतु कर्मरत शरीर का हर प्रयत्न हृदय के अभाव में निष्प्राण एवं नीरस होता है। अणु से लेकर पर्वत तक यानी छोटे से छोटा काम हो या बड़े से बड़ा, उसे हृदय अर्थात दिल लगाए बगैर करने से वह सफलतापूर्वक संपन्न हो सकेगा, इसमें संदेह रहता है। ऐसा कार्य या तो बिगड़ जाता है या पूर्णत: ठीक न होकर कुछ और हो जाता है। पं. भट्ट कहते हैं, हृदय लगाए बिना कार्य की सफल पूर्णता की आशा करना वैसा ही है जैसे युगल श्वेतदंत यानी दो सफेद चमकते लंबे सुंदर दांतों वाले मदमस्त हाथी को जिसका काला मस्तक है पकड़ने के लिए या बांधे रखने के लिए कच्चे सूती धागे का उपयोग करना, जो कि असंभव होगा। 'हृदय' निबंध की रचना का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि यह सामान्य ज्ञान को

भी 'हृदय' को सतोगुण, रजोगुण से संपन्न कर उदार एवं कर्मशील बनाने के लिए प्रेरित करता है। राम का उदाहरण स्मरण कराता है कि रावण रूपी अंग्रेज से लोहा लेना है।

पराधीनता में जब अपनों से भी स्पष्ट बात करने का अवसर न हो तब संकेतों में समझाना ही एक मात्र उपाय होता है। यह निबंध इस उद्देश्य को सफलतापूर्वक संपन्न करता है। इसकी प्रासंगिकता इस इक्कीसवीं सदी में भी उतनी ही है जितनी इसके रचनाकाल में थी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल निबंधकार, इतिहासकार, कवि, कोषकार एवं अनुवादक भी थे। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में आचार्यवत योगदान किया। इनकी रचनाओं में पांडित्य, गंभीरता और मननशीलता के दर्शन होते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल युग निर्माता निबंधकार, साहित्यकार, इतिहासकार, समाजशास्त्री, मनोविज्ञानी हैं। निबंधों में उनके समीक्षा सिद्धांत आज भी कसौटी बने हुए हैं। शुक्ल जी ने शैली के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। वे मुख्यत: विचारात्मक चिंतन प्रधान शैली को अपनाते हैं तथा उन विचारों के बीच भावात्मक को भी अवकाश देते हैं। यह बुद्धि एवं हृदय का समन्वय ही उनकी शैली को विशिष्ट बनाता है। उनके गहन, गंभीर निबंधों में हास्य, व्यंग्य के छींटे भी दृष्टिगोचर होते हैं। शुक्ल जी के मनोविकार संबंधी निबंधों में उत्साह, श्रद्धा भक्ति, करुणा, लज्जा, गृणा, लोभ और प्रीति, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि भावों या मनोविकारों को स्थान मिला है। इन निबंधों में उन्होंने विश्लेषण करते हुए भावात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। समीक्षात्मक एवं सैद्धांतिक निबंधों में विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है। वे वर्णनात्मक शैली का उपयोग भी प्रचुरता से करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में विषयों की प्रधानता के साथ व्यक्ति प्रधानता भी है। वे लोक को साथ लेकर चलते हैं, लेकिन कहीं भी उनकी शैली में प्रौढ़ता और प्राजलता शिथिल नहीं होती। शैली रचनाकार के व्यक्तित्व का आईना होती है। हर रचनाकार की अपनी शैली होती है, जिसे पढ़ते ही पाठक के मनोमस्तिष्क में रचनाकार का नाम उभर आता है। शुक्ल जी की शैली विषय को विस्तार और गहनता से विश्लेषित करने के साथ ही उसमें भावात्मकता बनाए रखने की अद्भुत कला से परिपूर्ण है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में आगमन शैली एवं निगमन शैली दोनों का ही प्रयोग दिखाई देता है। आगमन शैली में विषय की व्याख्या एवं विवेचना करने के पश्चात निष्कर्ष के रूप में सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, जबकि निगमन शैली में पहले सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, तत्पश्चात उसकी व्याख्या एवं विवेचना की जाती है।

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था में वे गहन चिंतन के साथ तुलनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों की विचारधारा में तुलना करते हुए भारतीय चिंतन के

महत्व को प्रतिपादित करते हैं। इसमें सूत्रात्मक एवं विवेचनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस निबंध में काव्य को भाव योग मानकर उसे ज्ञान योग के समकक्ष प्रतिष्ठित कर उसे जनसमूह के लिए मंगलकारी एवं कल्याणकारी सिद्ध कर रहे हैं। उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था पर बल दिया है। वे लोक की उपेक्षा करने वाले ज्ञान मार्ग की पक्षधरता नहीं करते बल्कि उस भक्ति मार्ग की पक्षधरता करते हैं जो अपनी उदारता, व्यापकता एवं सहजता से लोक का कल्याण करता है। आचार्य शुक्ल सत्व गुण की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए महत्वपूर्ण चिंतन उपस्थित करते हैं। कहते हैं- सतो गुण, रजो गुण और तमो गुण, इन त्रिगुणों में सत्व (सती गुण) गुण प्रधान है। मानव हृदय हो या काव्य दोनों में सत्व गुण की प्रधानता ही लोकमंगल में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है तथा ब्रह्म के 'आनंद' स्वरूप को प्राप्त करने के लिए साधनावस्था यानी प्रयत्न पक्ष पर वे बल देते हैं। शुक्ल जी काव्य में लोकमंगल कामना की साधनावस्था निबंध के द्वारा न केवल काव्य के सद्गुणों पर प्रकाश डालते हैं बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को सहृदय बनने की शिक्षा भी दे देते हैं। वे ब्रह्म के तीन रूपों सत् चित् और आनंद तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण की व्याख्या करके पाठक को दर्शन के निकट ले जाते हैं जहां वह 'आनंद' स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपने भीतर के सत्व गुण को परिष्कृत एवं विकसित करने का प्रयास आरंभ करता है। वह आनन्द की साधनावस्था से परिचित होकर अपने संघर्ष, प्रयत्न, दुख, पीड़ा अभाव और अन्याय को नये रूप में देखता है तथा प्रयत्न करता है कि इस साधना के पथ पर बिना विचलित हुए चल सकें। शुक्ल जी के निबंध चिंतन प्रक्रिया को गति एवं गहराई देते हैं, ज्ञान का दायरा बढ़ाते हैं। वर्तमान विज्ञान एवं तकनीकी के युग में जब कि संवेदनाओं की धार खत्म होती जा रही है, मनुष्य यांत्रिक जीवन जी रहा है, वह स्वार्थी, आत्मकेंद्रित होता जा रहा है। शुक्ल जी के निबंधों के निबंधों की प्रासंगिकता एवं महत्व बढ़ गया है। जब आदमी स्वयं के मंगल पर ही ध्यान केंद्रित किये हो, उसे लोकमंगल का महत्व समझाना आवश्यक है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर युग के अग्रणी निबंधकार हैं। वे सर्वाधिक सशक्त एवं सफल निबंधकार हैं। ललित निबंधों की समस्त विशेषताओं की कसौटी पर द्विवेदी जी के निबंध खरे उतरते हैं। स्वाभाविकता, तारल्य, सुघड़ता, रोचकता अपने समकालीन निबंधकारों की तुलना में द्विवेदी जी के निबंधों में अधिक दृष्टिगोचर होती है। आचार्य शुक्ल की ही तरह गंभीर विषयों को प्रतिपादित करते हुए वे उनमें हास्य-व्यंग्य-विनोद की संयत पदावली का प्रयोग कर मधुरता, रमणीयता, प्रभावशाली एवं आकर्षक होने का गुण उत्पन्न कर देते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अधिकांश विचारात्मक निबंध ललित निबंधों की कोटि में आते हैं। इन ललित

निबंधों में तन्मयता है, रस है तथा भाव और कल्पना का सुंदर समन्वय है। हास्य-विनोद की झलकियां जीवंतता को और बढ़ा देती हैं। भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक होने के कारण द्विवेदी जी के सांस्कृतिक निबंधों में तथा ललित निबंधों में भी महत्वपूर्ण संदर्भों में विश्व मानव संस्कृति की विराट जीवन और जययात्रा की आभा बिखरी दिखाई देती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की शैली एक कुशल शिल्पी की शैली है। वे मानवता की महिमा का उद्घोष करने वाले निबंधकार हैं।

'साहित्यकारों का दायित्व' एक चिंतन प्रधान ललित निबंध है। इस निबंध में द्विवेदी जी का देश प्रेम तथा हिंदी भाषा एवं साहित्य के प्रति प्रेम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। द्विवेदी जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि विषय चाहे जो हो, साहित्यकार की प्रतिभा का संबल पाकर वह गंभीर एवं पठनीय बन जाता है। उदाहरण के लिए हम प्रस्तुत निबंध 'साहित्यकारों का दायित्व' को ही लें। इसमें लेखक ने भारतीय प्राचीन साहित्य, इतिहास, धर्म ग्रंथों की महत्ता को सिद्ध करते हुए समकालीन परिस्थितियों के अनुसार नया साहित्य रचने की प्रेरणा दी है। उन्होंने अत्यंत सहज शब्दावली में साहित्यकारों को उनके दायित्व की गंभीरता से परिचय कराया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि स्वतंत्र भारत के नव निर्माण में साहित्यकार अपने दायित्व को गंभीरता से समझें। वे साहित्य की सभी विधाओं में लेखन करें। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, कविता आदि। इन सभी विधाओं में हिंदी भाषा में लिखें। आचार्य द्विवेदी की दो अपेक्षाएं थीं। प्रथम यह कि साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य लिखें और दूसरा यह कि हिंदी भाषा में लिखें। वे संसार की अन्य प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह हिंदी को भी उच्चासन पर देखना चाहते हैं। वे हिंदी को अंग्रेजी की तरह और संस्कृत की तरह दुर्बोध नहीं बनाना चाहते थे। वे कहते हैं हमारी राजनीति, अर्थनीति, नव निर्माण की योजनाएं लोक कल्याणकारी तभी सिद्ध होंगी जब हम हृदय से उदार और संवेदनशील हों, हमारी बुद्धि सारतत्व को ग्रहण करने में सक्षम हो, हमारे संकल्प शुभ और महान हों। हम भारतीयों को इतनी संवेदनशीलता बौद्धिकता और व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करने में श्रेष्ठ साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। चाहे व साहित्य उपन्यास, कविता, नाटक आदि किसी भी विधा में लिखा गया हो। साहित्य केवल वाग्विलास के लिए न लिखा जाए। लोकमंगल के पवित्र भाव से लिखा गया साहित्य ही हमें सहृदय और संवेदनशील बना सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, हिंदी साहित्य की रचना अत्यंत सावधानी से करनी चाहिए। यह रसात्मकता किसी एक सत्य के लिए न हो बल्कि इससे समूची मनुष्यता लाभान्वित हो। आचार्य द्विवेदी नवीन एवं प्राचीन का समन्वय करना चाहते थे। उन्होंने साहित्यकारों से प्राचीन भारतीय इतिहास, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, कला संस्कृति के ग्रंथों, विविधा भाषाओं के तथा विभिन्न राष्ट्रों के ग्रंथों का अध्ययन करने का आग्रह किया ताकि वे उन महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद हिंदी भाषा में कर सकें। इससे भारतीय उन महत्वपूर्ण ग्रंथों का लाभ उठा सकेंगे, हिंदी भाषा की उन्नति होगी तथा साहित्यकार उन ग्रंथों के

अनुकूल आवश्यक तथ्यों को समन्वित कर कल्याणकारी साहित्य की रचना कर सकें। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह निबंध सदैव प्रासंगिक रहेगा, क्योंकि समय परिवर्तित हुआ है। स्वतंत्रता प्राप्त किये हुए अनेक वर्ष हो गए किंतु हिंदी भाषा ने उन्नति करने पर भी वह स्थान अब तक प्राप्त नहीं किया जैसा आचार्य द्विवेदी चाहते थे।

विद्यानिवास मिश्र ने धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, इतिहास, त्योहार, रीति, आचार-विचार आदि विविध विषयों पर निबंध रचना की है। उन्होंने विषयानुकूल भाषा, भावों एव ंशैली का प्रयोग कर निबंध की रोचकता एवं उपयोगिता में वृद्धि की है। वे सर्वश्रेष्ठ ललित निबंधकार हैं। वे सांस्कृतिक चेतना से संपन्न हैं। मानवता दृष्टि से ओतप्रोत तथा सौंदर्य के उपासक हैं। वे यथार्थवादी हैं। इनकी निबंध शैली में आचार्य द्विवेदी की भांति पांडित्य, अंतर्कथाओं का सन्निवेश, कोमलकांत पदावली, लयात्मक किंतु गूढ़ शब्द गुंफित भाषा का प्रयोग मिलता है। 'जीवन अपनी देहरी पर' व्यावहारिक और आत्मकथन शैली में लिखा गया ललित निबंध है। इसमें आदि से अंत तक करुण रस की प्रधानता दिखाई देती है तथा अनुभूति हृदय को भावपूर्ण बनाती है। जिसमें आचार्य विद्यानिवास मिश्र रचनाकार के जीवन की विडंबना को अभिव्यक्त करते हैं। आचार्य विद्यानिवास मिश्र 'जीवन अपनी देहरी पर' शीर्षक के माध्यम से जीवन के आदि से अंत तक के द्वंद्व तथा यथार्थ का चित्रण करते हैं। वे कहते हैं- जीवन देहरी पर ही स्थिर रहता है इसके अंदर और बाहर भ्रमण करता हुआ रचनाकार निरंतर जीवन के सत्य की खोजने में लगा रहता है। यह निबंध चिंतन प्रधान है, विचारात्मक शैली, उदाहरण शैली, आत्मकथन शैली एवं भावनापूर्ण शैली को धारण करता है। आकार में छोटा होने पर भी यह जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसमें एक उदासी का भाव निहित है जो स्वयं के प्रति तथा मानव के प्रति उसकी विवशता को अनुभव करके करुणा से भर जाता है। इसमें रसात्मकता, लयात्मकता, प्रबल आकर्षण है जो पाठक को बांधे रखता है।

आचार्य मिश्र इस निबंध के माध्यम से रचनाकार के जीवन और अनुभूतियों के यथार्थ को प्रतिपादित करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जीवन से प्रेम करने वाले व्यक्ति को मृत्यु अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है। जो जितना ज्यादा जीवन के प्रति आस्थावान और समर्पित होता है उतना ही उसे मृत्यु घेरने का प्रयत्न करती है। मिश्रजी ने अनेक उदाहरणों के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है। जो दूसरों को साहस के साथ जीने की, जीवन से प्रेम करने की शिक्षा देता है। अंतत: वह स्वयं जीवन से हार मानकर मृत्यु को गले लगा लेता है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र इस निबंध के द्वारा यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि कोई रचना अपने आप में पूरी नहीं होती। बाणभट्ट ने भी रचना के अधूरेपन के अनुभव को भोगा। हर रचनाकार के भाग्य में यह पीड़ा सहना लिखा है। जब वह रचना पूरी करता है तभी उसे अनुभव होता है कि वह रचना के रूप में

पूरा होकर स्वयं खाली हो गया है किंतु धीरे-धीरे उसके भीतर नया जीवन, नया कथ्य आकार लेने लगता है और वह पुन: अपने आपको निचोड़ देने के लिए तैयार हो जाता है। वह बार-बार टूटता है और बार-बार जुड़कर, शक्ति समेटकर एक नये रचनाकर्म में प्रवृत्त होता है। ईश्वर ने उसे यह सामर्थ्य देकर उसकी लंबी परीक्षा की व्यवस्था की है। उसे लाके कल्याण का दायित्व सौंपा है, अत: दायित्व की पूर्ति के लिए उसे अपनी बार-बार की मृत्यु को स्वीका करना पड़ता है। यह तथ्य वास्तव में सत्वपूर्ण रचना और रचनाकारों की प्रतिष्ठा के लिए है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने सतोगुणी रचनाकार की पीड़ा और उसके दायित्व निर्वहन पर प्रकाश डाला है। उन्हें अपने भीतर सतोगुण का विकास कर लोक कल्याणकारी रचना में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विद्यानिवास मिश्र का यह निबंध भावपूर्ण एवं प्रासंगिक है।

3.7 मुख्य शब्दावली

अथ - प्रारंभ।

मुंह - मुकुर।

फोटू - चित्र।

कुरंग - खराब रंग का, हिरन।

तितिक्षा- सर्दी-गर्मी आदि द्वंद्वों को सहने की क्रिया या शक्ति।

तिहर्फी- अक्षर।

भुनगा- उड़नेवाला छोटा कीड़ा, नगण्य प्राणी।

आर्ष- वैदिक।

साहाव्य- सहायता।

पाषंड- छलयुक्त धार्मिक कृत्य, ढोंग।

प्रवृत्ति- प्रवाह, मन का किसी विषय की ओर झुकाव।

निवृत्ति- प्रवृत्ति का अभाव, विरत होना, मुक्ति।

l दक्षिण- दाहिना।

वाम- बायां।

असूया- ईर्ष्या का भाव।

सत्- वास्तविक एवं शुभ।

अनाविल- निर्मल, शुद्ध।

अनासक्त- निर्लिप्त।

प्रणोदित- प्रेरित, प्रेषित करना।

मदगर्वित- अभिमान से पूर्ण।

सारग्रहिणी- सार तत्व को ग्रहण करने वाली।

आम्र मंजरी- आम की कोपल।

अलक्तक- महावर।

साहालग- शुभ वर्ण, शादी-विवाह के दिन।

परिखा- दुर्ग, नगर आदि के चारों तरफ बनी हुई गहरी खाई।

सोम- यज्ञ में तर्पण के काम आने वाली लता, इस लता का रस सोमरस कहलाता है।

पेराई- कोल्हू आदि में दबाकर किसी वस्तु के रस निकालने की क्रिया।

गारना- अभिमान- चूर करना, निचोड़ना।

अवभृत स्नान- यज्ञ के अंत में शुद्धि के लिए किया जाने वाला स्नान।

सावज- वे जानवर जिनका शिकार किया जाये।

3.8 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1 पं. बालकृष्ण भट्ट को

2 साहित्य सरोज (1 2`)

3 फ. बालकृष्ण भट्ट

4 ललित निबंध

5 सतो गुण युक्त

6 रामचंद्र की तरह

7 स्वामी दयानंद सरस्वती

8 सत्, चित् और आनंद

9 -. आनंद की

.10 निगमन शैली

11 . चिंतामणि

12 करुणा और प्रेम

.13 रस दशा

14 संकुचित एवं सीमित

15 . मानवतावादी सार

. 16 हिंदी भाषा को

17 . ज्ञान

18 समाज-निर्माण की

-19 . बालकों के योग्य पुस्तकों

20 समन्वित रूप में

21 . साहित्यकारों को

22 . मृत्यु

23 . जीवन की परीक्षा

24 काली कुतिया

25 . शंकराचार्य ने

26 . करुण रस

27. व्यावहारिक जगत के रस का

28 प्रकृति के समभाव को

3.9 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1 हृदय निबंध की मूल संवेदना को अपने शब्दों में व्यक्त कीजिए।

2 आनंद की साधनावस्था क्या है ? परिभाषित कीजिए।

3 काव्य में लोकमंगल से क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट कीजिए।

4 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।

5 विद्यानिवास मिश्र के अनुसार साहित्यकार किस प्रकार हिंदी भाषा और साहित्य को प्रतिष्ठा दिला सकता है ? समझाइए।

6 'जीवन अपनी देहरी पर' में व्यक्त जीवन के आदि से लेकर अंत तक के द्वंद्व एवं यथार्थ के चित्रण को परिभाषित कीजिए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1 बालकृष्ण भट्ट की निबंध शैली की विशेषताओं का विस्तार से विवेचन कीजिए।

2 हृदय निबंध का प्रतिपाद्य बताते हुए इसका समीक्षात्मक अध्ययन कीजिए।

3 निबंध शैली की दृष्टि से आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

4 काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था निबंध का प्रतिपाद्य क्या सिद्ध करता है ?

5 समीक्षा तत्वों की कसौटी पर काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था निबंध की समीक्षा कीजिए।

6 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा बताये गये साहित्यकारों के मुख्य दायित्वों का विस्तार से विवेचन कीजिए।

7 साहित्यकारों का दायित्व निबंध का प्रतिपाद्य लिखिए।

8 'जीवन अपनी देहरी पर की मूल संवेदना एवं प्रतिपाद्य की व्याख्या कीजिए।

-. 9 विद्यानिवास मिश्र की निबंध शैली की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

3.10 आप ये भी पढ़ सकते हैं

सत्य प्रकाश मिश्र, बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।

राम स्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी गद्य साहित्य का विन्यास एवं विकास, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद।

डॉ. राम विलास शर्मा, भारतीय साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

इकाई 4 कहानी –II

4.1 मलबे का मालिक – मोहन राकेश

मलबे का मालिक कहानी के लेखक मोहन राकेश जी का जीवन परिचय इस प्रकार है–

4.1.1 लेखक परिचय

मोहन राकेश का जन्म दिनांक 8 जनवरी, सन् 1925 को हुआ था। सबसे पहले उन्होंने कहानी लिखी और फिर उपन्यास भी लिखे। उसके बाद उन्होंने नाटक लिखने भी शुरू कर दिए। वैसे वे सशक्त निबंधकार और अनुवादक भी थे। उनके लेखन की क्षमता, विविधता और समग्रता अपने समय, समाज, परिवेश और इनकी मानसिकता को बड़ी प्रामाणिकता से रेखांकित करती रही है। इनके नाटक कम ही हैं, किंतु उनमें 'आधे–अधूरे' नाटक ने उन्हें अखिल भारतीय स्तर पर स्थान दिया।

4.1.2 मलबे का मालिक : मूल पाठ

साढ़े सात साल के बाद वे लोग लाहौर से अमृतसर आये ते। हॉकी का मैच देखने का तो बहाना हीथा। उन्हें ज्यादा चाव उन घरों और बाजारों को फिर से देखने का था जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराये हो गये थे। हर सड़क पर मुसलमानों की कोई–न–कोई टोली घूमती नजर आ जाती थी। उनकी आंखें इस आग्रह के साथ वहां की हर चीज को देख रही थीं जैसे वह शहर साधारण शहर न होकक एक अच्छा–खासा आकर्षण–केन्द्र हो।

तंग बाजारों में से गुजरते हुए वे एक–दूसरे को पुरानी चीजों की याद दिला रहे थे... देख–फतहदीना, मिसरी बाजारमें अब मिसरी की दुकानें पहले से कितनी कम रह गयी हैं। उस नुक्कड़ पर सुक्खी भठियारिन की भट्ठी थी, जहां अब वह पानवाला बैठा है।... यह नमक मंडी देख लो, खान साहब! यहां की एक–एक लालाइन वह नमकीन होती है कि बस...!

बहुत दिनों बाद बाजारों में तुर्रेदार पगड़ियां और लाल तुरकी टोपियां नजर आ रही थीं। लाहौर से आए मुसलमानों में काफी सं□या ऐसे लोगों की थी जिन्हें विभाजन के समय मजबूर होकर अमृतसर से जाना पड़ा था। साढ़े सात साल में आये अनिवार्य परिवर्तनों के दखकर कहीं उनकी आंखों में हैरानी भर जाती और कहीं अफसोस घिर आता– वल्लाह कट्रा जयमल सिंह इतना चौड़ा कैसे हो गया? क्या इस तरफ के सबके–सब मकान जल गये थे?... यहां हकीम आसिफअली की दुकान थी न? अब यहां एक मोची ने कब्जा कर रखा है?

और कहीं–कहीं ऐसे भी वाक्य सुनाई दे जाते– वली, यह मस्जिद ज्यों की त्यों खड़ी है? इन लोगों ने इसका गुरुद्वार नहीं बना दिया!

जिस रास्ते से भी पाकिस्तानियों की टोली गुजरती, शहर के लोग उत्सुकतापूर्वक उस तरफ देखते रहते। कुछ लोग अब भी मुसलमानों को आते देखकर आशंकित से रास्ते से हट जाते, जबकि दूसरे आगे बढ़कर उनसे बगलगीर होने लगते। ज्यदातर वे आगंतुकों से ऐसे-ऐसे सवाल पूछते कि आजकल लाहौर का क्या हाल है? अनारकली में अब पहले जितनी रौनक होती है या नहीं? सुना है, शाहालमीगेट का बाजार पूरा नया बना है? कृष्णनगर में तो कई खास तब्दीली नहीं आयी? वहां का रिश्वतपुरा क्या वाकई रिश्वत के पैसे से बना है?...कहते हैं, पाकिस्तान में अब बुर्का बिल्कुल उड़ गया है,यह ठीक है?... इन सवालों में इतनी आत्मीयता झलकती थी कि लगता था, लाहौर एक शहर नहीं, हजारों लोगों का सगा-संबंधी है, जिसके हाल जानने के लिए वे उत्सुक हैं। लाहौर से आये लोग उस दिन शहर-भर के मेहमान थे जिनसे मिलकर और बातें करके लोगों को बहुत खुशी हो रही थी।

बाजार बांसां अमृतसर का एक उजड़ा-सा बाजार हैं, जहां विभाजन से पहले ज्यदातर निचले तबके के मुसलमान रहते थे। वहां ज्यादातर बांसों और शहतीरों की ही दुकानें थीं जो सबकी सब एक ही आग में जल गयी थीं। बाजार बांसां की वहआग अमृतसर की सबसे भयानक आग थी जिससे कुछ देर के लिए तो सारे शहर के जल जाने का अंदेशा पैदा हौ गया था। बाजार बांसां के आसपास के कई मुहल्लों को तो उस आग ने अपनी लपेट में ले ही लिया था। खैर, किसी तरह वह आग काबू में आ गयी थी, पर उसमें मुसलमानों के एक-एक घर के साथ हिंदुओं के भी चार-चार, छः-छः घर जलकर राख हो गए थे। अब साढ़े सात साल में उनमें से कई इमारतें फिर से खड़ी हो गयी थीं, मगर जगह-जगह मलबे के ढेर अब भी मौजूद थे। नई इमारतों के बीच-बीच में मलबे के ढेर एक अजीब वातावरण प्रस्तुत करते थे।

बाजार बांसां में उस दिन भी चहल-पहल नहीं थी क्योंकि उस बाजार के रहने वाले ज्यादातर लोग तो अपने मकानों के साथ ही शहीद हो गए थे, और जो बचकर चले गए थे, उनमें से शायद किसी में भी लौटकर आने की हिम्मत नहीं रही थी। सिर्फ एक दुबला-पतला बुड्ढा मुसलमान ही उस दिन उस वीराान बाजार में आया और वहां की नयी और जली हुई इमारतों को देखकर जैसे भूलभुलैयां में पड़ गया। बायीं तरफ जानेवाली गली के पास पहुंचकर उसके पैर अंदर मुड़ने को हुए, मगर फिर वह हिचकिचाकर वहां बाहर ही खड़ा रह गया, जैसे उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह वही गली है जिसमें वह जाना चाहता है। गली में एक तरफ कुछ बच्चे कीड़ी-कीड़ा खेल रहे थे और कुछ फासले पर दो स्त्रियां ऊंची आवाज में चीखती हुई एक-दूसरी को गालियां दे रही थीं।

'सब कुछ बदल गया, मगर बोलियां नहीं बदलीं!' बुड्ढे मुसलमान ने धीमे स्वर में अपने से कहा और छड़ी का सहारा लिए खड़ा रहा। उसके घुटने पाजमे से बाहर को निकल रहे थे।

घुटनों से थोड़ा ऊपर शेरवानी में तीन-चार पैबंद लगे थे। गली से एक बच्चा रोता हुआ आ रहा था। उसने उसे पुचकारा, 'इधर आ, बेटे! आ, तुझे चिज्जी देंगे, आ!' और वह अपनी जेब में हाथ डालकर उसे देने के लिए कोई चीज ढूंढने लगा। बच्चा एक क्षण के लिए चुप कर गया, लेकिन फिर उसी तरह होंठ बिसूकर रोने लगा। एक सोलह-सत्रह साल की लड़की गली के अंदर से दौड़ती हुई यी और बच्चे को बांह से पकड़कर गली में लेचली। बच्चा रोने के साथ-साथ अब अपनी बांह छुड़ाने के लिए मचलने लगा। लड़की ने उसे अपनी बाहों में उठाकर सटा लिया और उसका मुंह चुमती हुई बोली, 'चुप कर, खसम-खाने, रोएगा तो वह मुसलमान तुझे पकड़कर ले जाएगा! कह रही हूं, चुप कर!'

बुड्ढे मुसलमान ने बच्चे को देने के लिए जो पैसा निकाला था, वह उसने वापस जेब में रख लिया। सिर से टोपी उतारकर वहां थोड़ा खुजलाया और टोपी अपनी बगल में दबा ली। उसका गला खुशक हो रहा था और घुटने थोड़ा कांप रहे थे। उसने गली के बाहर की एक बंद दुकान के त□ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सिर पर लगा ली। गली के सामने जहां पहले ऊंचे-ऊंचे शहतीर रखे रहते थे, वहां अब एक तिमंजिला मकान खड़ा था। सामने बिजली की तारपर दो मोटी-मोटी चीलें बिल्कुल जड़-सी बैठी थीं। बिजली के खम्भे के पास थोड़ी धूल थी। वह कई पल धूप में उड़ते जर्रों को देखता रहा। फिर उसके मुंह से निकला, 'या मालिक!'

एक नवयुवक चाबियों का गुच्छा घुमाता गली की तरफ आया। बुड्ढे को वहां खड़े देखकर उसने परूछा, 'कहिए, मियांजी, यहां किसलिए खड़े हैं?'

बुड्ढे मुसलमान को छाती और बांहों में हल्की-सी कंपकंपी महसूस हुई। उसने होंठो पर जबान फेरी और नवयुवक को ध्यान से देखते हुए कहा, 'बेटे, तेरा नाम मनोरी है न?'

नवयुवक ने चाबियों के गुच्छे को हिलाना बंद करके अपनी मुट्ठी मे ले लिया और कुछ आश्चर्य के साथ पूछा, 'आपको मेरा नाम कैसे मालूम है?'

'साढ़े सात साल पहले तू इतना-सा था।' कहकर बुड्ढे ने मुस्कराने की कोशिश की।

'आप आज पाकिस्तान से आये हैं?'

'हां! पहले हम इसी गली में रहते थे,' बुड्ढे ने कहा, 'मेरा लड़का चिरागदीन तुम लोगों का दर्जी था। तकसीम से छः महीने पहले हम लोगों ने यहां अपना नया मकान बनवाया था।'

'ओ, गनी मियां!' मनोरी ने पहचानकर कहा।

'हां, बेटे मै तुम लोगों का गनी मियां हूं! चिराग और उसके बीवी-बच्चे तो अब मुझे मिल नहीं सकते, मगर मैंने सोचा कि एक बार मकान की ही सूरत देख लूं!' बुड्ढे ने टोपी उतारकर सिर पर हाथ फेरा और अपने आंसुओं को बहने से रोक लिया।

'तुम तो शायद काफी पहले यहां से चले गए थे,' मनोरी के स्वर में संवेदना भर आयी।

'हां, बेटे यह मेरी बदब□ती थी कि मैं अकेला पहले निकलकर चला गया था। यहां रहता, तो उसके साथ मैं भी...' कहते हुए उसे एहसास हो आया कि यह बात उसे नहीं कहनी चाहिए। उसने बात को मुंह में रोक लिया पर आंखों में आये आंसुओं को नीचे बह जाने दिया।

'छोड़ो गनी मियां, अब उन बातों को सोचने में क्या रखा है?' मनोरी ने गनी की बांह अपने हथ में ले ली। 'चलो, तुम्हे तुम्हारा घर दिखा दूं!'

गलीमें खबर इस तरह फैली कि गली के बाहर एक मुसलमान खड़ा है जो रामदासी के लड़के को उठाने जा रहा था... उसकी बहन व□त पर उसे पकड़ लायी, नहीं तो वह मुसलमान उसे ले गया होता। यह खबर मिलते ही जो स्त्रियां गली में पीढ़े बिछाकर बैठी थीं, वे पीढ़े उठाकर घरों के अंदर चली गई। गली में खेलते बच्चों को भी उन्होंने पुकार-पुकार कर घरों के अंदर बुला लिया। मनोरी गनी को लेकर गली में दाखिल हु, तो गली में सिर्फ एक फेरीवाला रहा गया था, या रक्खा पहलवान जो कुएं पर उगे पीपल के नीचे बिखरकर सोया था। हां, घरों की खिड़कियों में से और किवाड़ों के पीछे से कई चेहरे गली में झांक रहे थे। मनोरी के साथ गनी को ते देखकर उनमें हल्की चेहमेगोइयां शुरु हो गई। दाढ़ी के सब बाल सफेद हो जाने के बावजूद चिराागदीन के बाप अब्दुल गनी को पहचानने में लोगों को दिक्कत नहीं हुई।

'वह था तम्हारा मकान,' मनोरी ने दूर से एक मलबे की तरफ इशारा किया। गमी पल-भर ठिठककर फटी-फठी आंखों से उस तरफ देखता रहा। चिराग और उसके बीवी-बच्चों की मौत को वह काफी पहले स्वीकार कर चुका था। मगर अपने नये मकान को इस शक्ल में देखकर उसे जो झुरझुरी हुई, उसके के लिए वह तैयार नहीं था। उसकी जबान पहले से और खुशक हो गयी और घुटने भी ज्यादा कांपने लगे।

'यह मलबा?' उसने अविश्वास के साथ पूछ लिया।

मनोरी ने उसके चेहरे के बदले हुए रंग को देखा। उसकी बांह को थोड़ा और सहारा देकर जड़-से स्वर में उत्तर दिया, 'तुम्हारा मकान उन्हीन दिनों जल गया था।'

गनी छड़ी के सहारे चलता हुआ किसी तरह मलबे के पास पहुंच गया। मलबे में अब मिट्टी ही मिट्टी थी जिसमें से जहां-तहां टूटी और जली हुई ईंटें बाहर झांक रही थीं। लोहे और लकड़ी का सामान उसमें से कब का निकाला जा चुका था। केवल एक जले हुए दरवाजे का चौखट न जाने कैसे बचा रह गया था। पीछे की तरफ दो जली हुई अलमारियं थीं जिनकी कालिख पर अब सफेदी की हल्की-हल्की तह उभर आयी थी। उस मलबे को पास से देखकर गनी ने कहा, 'यह बाकी रह गया है, यह?' और उसके घुटने जैसे जवाब दे गए और वह वहीं जले हुए चौखट को पकड़कर बैठ गया। क्षण-भर बाद उसका सिर भी सौखट से ज सटा और उसके मुंह से बिलखने की-सी आवाज निकली, 'हाय, ओए रिचरागदीना!'

जले हुए किवाड़ का वह चौषट मलबे में से सिर निकाले साढ़े सात साल खड़ा तो रहा था, पर उसकी लकड़ी बुरी तरह भुरभुरा गयी थी। गनी के सिर के छूने से उसके कई रेशे झड़कर आसपास बिखर गए। कुछ रेशे गनी की टोपी और बालों पर आ रहे थे। उन रोशों के साथ एक केंचुआ भी नीचे गिरा जो गनी के पैरसे छः-आठ इंच दूर नाली के साथ-साथ बनी ईंटों की पटरी पर इधर-उधर सरसराने लगा। वह छिपने के लिए सूाख ढूंढता हुआ जरा-सा सिर उठाता, पर कोई जगह न पाकर दो-एक बार सिर पटकने के बाद दूसरी तरफ मुड़ जाता।

खिड़कियों से झांकनेवाले चेहरों की सं□या अब पहले से कहीं ज्यादा हो गयी थी। उनमें चेहमेगोइयां चल रही थी कि आज कुछ-न-कुछ जरूर होगा... चिरागदीन का बाप गनी आ गया है, इसलिए साढ़े सात साल पहले की वह सारी घटना आज अपने-आप खुल जाएगी। लोगों को लग रहा था जैसे वह मलबा ही गनी को सारी कहानी सुना देगा कि शाम के व**क्त** चिराग ऊपर के कमरे में खाना खा रहा था जब र**क्खे** पहलवान ने उसे नीचे बुलाया- कहा कि वह एक मिनट आकर उसकी बात सुन ले। पहलवान उन दिनों गलीका बादशाहथा। वहां के हिंदुओं पर ही उसका काफी दबदबा था- चिराग तो खैर मुसलमान था। चिराग हाथ का कौर बीच में ही छोड़कर नीचे उतर आया। उसकी बीवी जुबैदा और दोनों लड़कियां, किश्वर और सुलताना, खिड़कियों से नीचे झांकने लगीं। चिराग ने ड्योढ़ी से बाहर कदम रखा ही था कि पहलवान ने उसे कमीज के कॉलर से पकड़कर अपनीतरफ खींच लिया और गली में गिराकर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। चिराग उसका छुरेवाला हाथ पकड़कर चिल्लाया, 'र**क्खे** पहलवान, मुझे मत मार! हाय, कोई मुझे बचाओ!' ऊपर से जुबैदा, किश्वर औरसुलताना भी हताश स्वरमें चिल्लाई और चीखती हुई नीचे ड्योढ़ी की तरफ दौड़ी। र**क्खे** के एक शागिर्द ने चिराग की जद्योजहद करती बांहें पकड़ लीं और र**क्खा**। उसकी जांघों को अपने घुटनों में दबाए हुए बोला, 'चीखता **क्यों** है, भैण के... तुझे में पाकिस्तान दे रहा हूं, ले पाकिस्तान!' और जब तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना नीचे पहुंचीं, चिराग को पाकिस्तान मिल चुका था।

आसपास के घरों की खिड़कियां तब बंद हो गयी थीं। जो लोग इस दृश्य के साक्षी थे, उन्होंने दरवाजे बंद करके अपनो को इस घटना के उत्तरदायित्व से मु**क्त** कर लिया था। बंद किवाड़ों में भी उन्हें देर तक जुबैदा, किश्वर और सुलताना के सीखने की आवाजें सुनाई देती रही। र**क्खे** पहलवान और उसके साथियों ने उन्हें भी उसी रात पाकिस्तान दे दिया, मगर दूसरे तबील रास्ते से। उनरी लाशें चिराग के घर में न मिलकर बाद में नहर के पानी में पायी गई।

दो दिन चिराग के घर की छीनबीन होती रही थी। जब उसका सारा सामान लूटा जा चुका, तो न जाने किसने उस घर को आग लगा दी थी। र**क्खे** पहलवान ने तब कसम खायी थी कि वह आग

लगाने वाले को जिन्दा जमीन में गा़ देगा क्योंकि उस मकान पर नजर रखकर ही उसने चिराग को मारने का निश्चय किया था। उसने उस मकान को शुद्ध करने के लिए हवन-सामग्री भी ला रखी थी। मगर आग लगानेवाले का तबसे आज तक पता नहीं चल सका था। अब साढ़े सात सालसे रक्खा उस मलबे को अपनी जायदाद समझता आ रहा था, जहां न वह किसी को गाय-भैंस बांधने देता था और न ही खुमचा लगाने देता था। उस मलबे से बिना उसकी इजाजत के कोई एक ईंट भी नहीं निकाल सकता था।

लोग आशा कर रहे थे कि यह सारी कहानी जरूर किसी न किसी तरह गनी तक पहुंच जाएगी... जैसे मलबे को देखकर ही उसे सारी घटना का पता चल जाएगा। और गनी मलबे की मिट्टी को नाखूनों से खोद-खोदकर अपने ऊपर डाल रहा था और दरवाजे के चौखट को बांह में लिये हुए रो रहा था, 'बोल, चिरागदीना, बोल! तू कहां चला गया, ओए? ओ किश्वर, ओ सुलताना! हाय, मेरे बच्चे ओएऽऽ! गनी को पीछे क्यों छोड़ दिया, ओएऽऽ! '

और भुरभुरे किवाड़ से लकड़ी के रेशे झड़ते जा रहे थे।

पीपल के नीचे सोए रक्खे पहलवान को जाने किसी ने जगा दिया, य वह खुद ही जाग गया। यह जनकर कि पाकिस्तान से अब्दुल गनी आया है और अपने मकान के मलबे पर बैठा है, उसके गले में थोड़ा झाग उठ आया जिससे उसे खांसी आ गयी और उसने कुएं के फर्श पर थूक दिया। मलबे की तरफ देखकर उसकी छाती से धौंकनी की-सी आवाज निकली और उसका निचला होंठ थोड़ा बाहर को फैल आया।

'गनी अपने मलबे पर बैठा है,' उसके शागिर्द लच्छे पहलवान ने उसके पास आकर बैठते हुए कहा।

'मलबा उसका कैसे है, मलबा हमारा है।' पहलवान ने झाग से घरघराई आवाज में कहा।

'मगर वह वहां बैठा है,' लच्छे ने आंखों में एक रहस्यमय संकेत लाकर कहा।

'बैठा है, बैठा रहे। तू चिलम ला!' रक्खे की टंगें थोड़ी फैल गई और उसने अपनी नंगी जांघों पर हाथ फेर लिया।

'मनोरी नेअगर उसे कुछ बता-वता दिया तो... ?' लच्छे ने चिलक भरने के लिए उठते हुए उसी रहस्यपूर्ण ढंग से कहा।

'मनोरी की क्या शामत आयी है ?'

लच्छा चला गया।

कुएं पर पीपल की कई पुरानी पत्तियां बिखरी थी। रक्खा उन पत्तियों को उठा-उठाकर अपने हाथों में मसलता रहा। जब लच्छे ने चिलम के नीचे कपड़ा लगाकर चिलम उसके हाथ में दी, तो उसने कश खींचते हुए पूछा, 'और तो किसी से गनी की बात नहीं हुई?'

'नहीं।'

'ले,' और उसने खांसते हुए चिलम लच्छे के हाथ में दे दी। मनोरी गनी की बांह पकड़े मलबे की तरफ से आआ रहा था। लच्छा उकडूं होकर चिलम के लंबे-लंबे कश खींचने लगा। उसकी आंखे आधा क्षण रक्खे के चेहरे पर टिकती और आधा क्षण गनी की तरफ लगी रहती।

मनोरी गनी की बांह थामे उससे एक कदम आगे चल रहाथा- जैसे उसकी कोशिश हो कि गनी कुएं के पास से बिना रक्खे को देखे ही निकल जाए। मगर रक्खा जिस तरह बिखरकर बैठा था, उससे गनी ने उसे दूरसे ही देख लिया। कुएं के पास पहुंचते न पहुंचते उसकी दोनों बाहें फैल गई और उसने कहा, 'रक्खे पहलवान!'

रक्ख ने गरदन उठाकर और आंखें जरा छोटी करके उसे देखा। उसके गले में अस्पष्ट-सी घरघराहट हुई, पर वह बोला नहीं।

'रक्खे पहलवान, मुझे पहचाना नहीं?' गनी ने बाहें नीची करके कहा, 'मैं गनी हूं, अब्दुल गनी, चिरागदीन का बाप!'

पहलवान ने ऊपरसे नीचे तक उसका जायजा लिया। अब्दुल गनी की आंखों में उसे देखकर एक चमक-सी आ गयी थी। सफेद दाढ़ी के नीचे उसके चेहरे की झुर्रियां भी कुछ फैल गयी थी। रक्ख का निचला होठ फड़का। फिर उसकी छाती से भारी-सा स्वर निकलाा, 'सुना, गनिया!'

गनी की बाहें फिर फैलने को हुई, पर पहलवान पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर उसी तरह रह गई। वह पीपलका सहारा लेकर कुएं की सिल पर बैठ गया।

ऊपर खिड़कियों में चेहमेगोइयां तेज हो गई कि अब दोनों आमने-सामने आ गए हैं, तो बात जरूर खुलेगी... फिर हो सकता है दोनों में गाली-गलौज भी हो...। अब रक्खा गनी को हाथ नहीं लगा सकता। अब वे दिन नहीं रहे।... बड़ मलबे का मालिक बनता था!... असल में मलबा न इसका है, न गनी का। मलबा तो सरकार की मलकियत है। मरदूद किसी को वहां गाय का खूटा तक नहीं लगाने देता!... मनोरी भी डरपोक है। इसने गनी को बता क्यों नहीं दिया कि रक्खे ने ही चिराग और उसके बीवी-बच्चों को मरा है!... रक्खा आदमी नहीं सांड है! दिन-भर सांड की

तरह गली में घूमता है!... गनी बेचारा कितना दुबला हो गया है! दाढ़ी के सारे बाल सफेद हो गए हैं।

गनी ने कुएं की सिल पर बैठकर कहा, 'देख रक्खे पहलवान, क्या से क्या हो गया है! भरा-पूरा घर छोड़कर गया था और आज यहां यह मिट्टी देखने आया हूं! बसे घर की आज यही निशनी रह गयी है! तू सच पूछे तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने को मन नहीं करता!' और उसकी आखें छलछला आयी।

पहलवान ने अपनी टांगे समेट ली और अंगोछा कुएं की मुंडेर से उठाकर कंधे पर डाल लिया। लच्छे ने चिलम उसकी तरफ बढ़ा दी। वह कश खींचने लगा।

'तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?' गनी किसी तरह अपने आंसु रोककर बोला, 'तुम लोग उसके पास थे। सब में भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता तो तुममें किसी के घर में नहीं छिप सकता था? उसमें इतनी भी समझदारी नहीं थी।'

'ऐसे ही है,' रक्खे को स्वयं लगा कि उसकी आवाज में एक अस्वाभाविक-सी गूंज है। उसके होंठ गाढ़े लार से चिपक गए थे। मूछों के नीचे से पसीना उसके होंठ पर आ रहा था। उसे माथें पर किसी चीज का दबाव महसूर हो रहा था और उसकी रीढ़ की हड्डी सहारा चाह रही थी।

'पाकिस्तान में तुम लोगों के क्या हाल हैं?' उसने पूछा। उसके गले की नसों में ए क तनाव आ गया था। उसने अंगोछे से बगलों का पसीना पोछा और गले का झाग मुंह में खींचकर गली में थूक दिया।

क्या हाल बहाऊं, रक्खे,' गनी दोनो हाथों से छड़ी पर बोझ डालकर झुकता हुआ बोला, 'मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है। चिराग वहां साथ होता, तो और बात थी।... मैंने उसे कितना समझाया था कि मेरे साथ चला चल। पर वह जिद पपर अड़ा रहा कि नया मकान छोड़कर नहीं जाऊंगा- यह अपनी गली है, यहं कोई खतरा नहीं है। भोले कबूतर ने यह नहीं सोचा कि गली में खतरा न हो, पर बाहर से तो खतरा आ सकता है। मकान की रखवाली के लिए चारों ने अपनी जान दे दी!.. रक्खे उसे तेरा बहुत भरोसा था। कहता था कि रक्खे के रहते मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मगर जब जान पर बन आयी, तो रक्ख के रोके भी न रुकी।'

रक्खे ने सीध होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी। अपनी कमरऔर जांघ के जोड़ पर उसे स□त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अंतड़ियों के पास से जैसे कोई चीज उसकी सांस को रोक रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने से भीग गया था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच-बीच में नीली फुलझड़िया-सी ऊपर से उतरती और तैरती हुई उसकी आकों के सामने से निकल जाती। उसे अपने जबान और होठों के बीच एक

फासला-सा महसूस हो रहा ता। उसने अंगोछे से होठों के कोनों को साफ किया। साथ ही उसके मुंहसे निकला, 'हे प्रभु, तू ही हे, तू ही है, तू ही है।'

गनी ने देखा की पहलवान के होठ सूख रहे हैं और उसकी आखों के गिर्द दायरे गहरे हो गए हैं। वह उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला, 'जो होना था हो गया र**क्ख**आ! उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है! खुदा नेक की नेकी बनाये रखे और बद की बदी माफ करे। मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूंगा कि चिराग को देख लिया। अल्लाह तु**म्हें** सेहतमंद रखे!' और वह छड़ी के सहरे उठ खड़ा हुआ। चलते हुए उसने कहा, 'अच्छा र**क्खें**, पहलवान!'

र**क्खें** के गलेसे मद्धिम-सी आवाज निकली। अंगोछा लिए हुए उसके दोनों हाथ जुड़ गये। गनी हसरत-भरी नजर से आसपास देखता हुआ धीरे-धीरे गली से बाहर चला गया।

ऊपर खिड़कियों में थोड़ी देर चेहमेगोइयां चलती रही- कि मनोरी ने गली से बाहर निकलकर जरूर गनी को सब कुछ बता दिया होगा किगनीके सामने र**क्खें** का तालू कैसे खुश्क हो गया था। र**क्ख**ा अब किस मुंह से लोगों को... मलबे पर गाय बांधने से रोकेगा? बेचारी जुबैदा! कितनी अच्छी थी वह! र**क्खें** मरदूद का घर... न घाट, सि किसी की मां-बहन का लिहाज था।

थोड़ी देर में स्त्रियां घरों से गली में उतर आयी। बच्चे गली में गुल्ली-डंडा खेलने लगे। दो बारह-तेरह सालकी लड़कियां किसी बात पर एक-दूसरी से गुत्थम-गुत्था हो गई।

र**क्ख**ा गहरी शाम तक कुएं पर बैठ खंखारता और चिलम फूंकता रहा। कई लोगों ने वहा गुजरते हुए उसरे पूछा, 'र**क्ख** शाह, सुना है आज गनी पाकिस्तान से आया था?'

'हां, आया था,' स**क्खें** ने हार बार एक ही उत्तर दिया।

'फिर?'

'फिर कुछ नहीं। चला गया।'

रात होने पर र**क्ख**ा रोज की तरह गली के बाहर बायी तरफ की दुकान के त□ते पर आ बैठा। रोज वह रास्ते से गुजरने वाले परिचित लोगों कों को आवाज दे-देकर पास बुलाता था और उन्हें सट्टे के गुर और सेहत के नुस्खे बताता रहता था। मगर उस दिन वह वहां बैठा लच्चे को अपनी वैष्नो देवी की उस यात्रा का वर्णन सुनाता रहा जो उसने पंद्रह साल पहले की थी। लच्छे को भेजकर वह गली में आया, तो मलबे के पास लोकू पंडित की भैंस को देखकर वह आदत के मुताबिक उसे ध**क्के** दे-देकर हटाने लगा 'तत-तत-तत... तत... तत!!'

भैंस को हटाकर सुस्ताने के लिए मलबे के चौखट पर बैठ गया। गली उस समय सुनसान थी। कमेटी की बत्ती न होने से वहां शाम से ही अंधेरा हो जाता था। मलबे के नीचे नाली का पानी

हल्की आआवाज करता बह रहा था। रात की खामोशी को काटती हुइ कई तरहकी हल्की-हल्की आवाजें मलबे की मिट्टी में से सुनाई दे रही थी- च्यु-च्यु-च्यु... टिक्-चिक्-चिक्.. किर्र्र्र्रीरीरीरी-चिर्र्र्र्र्। एक भटका हुआ कौआ न जाने कहां से उड़कर उस चौखट पर आ बैठा। इससे लकड़ी के कई रेशे इधर-उधर छितरा गए। कौए के वहा बैठते न बैठते मलबे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्त गुर्राकर उठा और जोर-जोर से भौंकने लगा-वउ-वउ-वउ-वउ! कोआ कुछ देर सहमा-सा सौखट पर बैठा रहा फिर पंख फड़फड़ाता कुएं के पीपल पर चला गया। कौए के उड़ जाने पर कुत्ता और नीचे उतर आया और पहलवान की तरफ मुंह करके भौंकने लगा। पहलवान उसे हटाने के लिए भारी आवाजड में बोला, 'दूर-दुर-दुर' मगर कुत्ता और पास आकर भौंकने लगा-वउ-वउ-वउ-वउ-वउ!

पहलवान ने एक ढेला उठाकर कुत्ते की तरफ फंका। कुत्ता थोड़ा पीछे हट गया, पर उसका भौंकना बंद नही हुआ। पहलवान कुत्ते को मां की गाली देकर वहां से उठ खड़ हुआ और धीरे-धीरे जाकर कुएं की सिल पर लेट गया। उसके वहां से हटते ही कुत्ता गली में उतराया और कुएं की तरफ मुंह करके भौंकने लगा। काफी देर भौंकने के बाद जब उसे गली में कोई प्राणी चलता-फिरता नजर नही आया, तो वह एक बार कान झटककर मलबे पर लौट गया और वह कोने में बैठकर गुर्राने लगा।

4.1.3 मोहन राकेश की कहानी कला की विशेषताएं

मोहन राकेश की यह कहानी, कहानी कला की सभी विशेषताओं को अपने-आप में समाहित किए हुए है। यह प्रवाहमयी और सशक्त कहानी बन पड़ी है। कहानी कला की विवेचना करने से यह बात और भी सुस्पष्ट हो जाती है।

कथानक

मोहन राकेश की यह कहानी एक सशक्त कथानक अपने-आप में समेटे हुए है तथा व्यापकता लिए हुए है। इस कहनी में देशीय, समाज की परिस्थिति की प्रस्तुति बड़ी ही सहजता से की गई है। वैसे भी मोहन राकेश समाज का चित्रण करने में अपने समकालीनों में अग्रणी रहे हैं। इस कहानी का पूरा कथानक आस और दृढ़ विश्वास पर टिका है।

चरित्र-चित्रण

मोहन राकेश की कहानियों में चरित्र-चित्रण एक विशेष विशेषता रखता है। वे छोटे-छोटे चरित्र को भी अपनी लेखनी से जीवंतता प्रदान करते दिखते हैं। मोहन राकेश की यह कहानी भी चरित्र प्रधान बन पड़ी है। इस कहानी का मु□य पात्र गनी मियां अपना सब कुछ खोकर भी दूसरों को दुआएं देता हुआ लाहौर लौट जाता है। वह मलगुब्बें में है। उसे मलगुब्बें में रखा जाता है। उसके साथ उसका विश्वास पात्र बना मनोरी वैसे तो नवयुवक है लेकिन वह भी गनी मियां से दुराव-छिपाव करता है। तभी तो वह रक्खा पहलवान से उसे छिपाना चाहता है, लेकिन फिर भी गनी

मियां की निगाह उस पर पड़ ही जाती है। गनी मियां, मनोरी और रक्ख पहलवान के चरित्रकाफी कुछ कहते-सुनते हैं। ये तीनों ही चरित्र बोलते चरित्र हैं। इनक चित्रण बड़ी ही चतुराई से गढ़ा गया है, इसलिए कहा जा सकता है कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह कहानी पूर्णत: सफल है।

कथोपकथन

इस कहानी का कथोपकथन वास्तविकता के बहुत समीप है। इसमें यथार्थ उऊर ही रहता है। कथोपकथन में तारतम्यता और जिज्ञासा बनी ही रहती है।

देशकाल, वातावरण योजना

मोहन राकेश ने अपनी कहानियों में देशकाल और वातावरण का चित्रण बड़ी ही कौशलता से किया है। उनके सभी वर्णन सजीव और कथानक के विकास में सहायक होते हैं। घटनाओं के वर्णन में, घटनाओं की पृष्ठभूमि के चित्रण में, तथा पात्रों के चरित्र को प्रस्तुत करने में मोहनराकेश को महारथ हासिल है। उनका वर्णन पूर्णरूपेण सजीव होता है। कथा का रूप बिल्कुल जीते-जागते चित्र के समान खिंच जाता है। उनकी कहानियां चलचित्र के समान लगती हैं।

भाषा-शैली

मोहन राकेश के चरित्रों की भाषा शैली सहज, सरल तथा चरित्रों के अनुरूप ही होती है, इसलिए कहा जा सकता है कि कहानी कला की उत्कृष्टता का अधिकांश श्रेय उनकी भाषा को ही जाता है। उनकी भाषा हिंदुस्तानी भाषा अधिक होती है अर्थात हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी मिश्रित अर्थात आम बोलचाल की भाषा है। उनकी भाषा कृत्रिमता से कोसों दूर रहती है।

मोहन राकेश की कहानियों के लेखन की शैली भी अनेक रूपों में मिलती है, यथा- वर्णनात्मक, चित्रात्मक, नाटकीय और हास्य-व्यंग्य प्रधान भी। शिल्प-विधान की दृष्टि से भी ऐतिहासिक, नाटकीय और आत्म चरित्रात्मक शिल्प उनकी कहानियों में रहता है।

उद्देश्य

मोहन राकेश का लेखन उद्देश्यपूर्ण होता है। मनोरंजन और हास्य-व्यंग्य का पुटभी उसमें विद्यमान रहता है। उनकी कहानियों का मूलाधार परिस्थितियों के बीच मानव चरित्र की कहानियों को भी जस-का-तस दिखाना रहता है। उनकी कहानियां बनावट से काफी दूर रहती हैं। इस दृष्टि से वे यथार्थवादी लेखक कहे जा सकते हैं।

हिंदी कथा-साहित्य में स्थान

हिंदी कथा-साहित्य में मोहन राकेश ने अपना अलग और विशिष्ट स्थान बनाया है। उनकी रचनाएं वैसे तो कम हैं, लेकिन जितनी भी हैं वे सब अपने-आप में मील का पत्थर ही सिद्ध होती हैं।

4.1.4 कहानी का सार

'मलबे का मालिक' मोहन राकेश की बोलती हुई कहानी है। इसमें पाकिस्तान और हिंदुस्तान के बटवारे के बाद को कथानक बनाया गया है। यह एक मर्मस्पर्शी और हृदयस्पर्शी कहानी है। कहानी शुरु से आखिर तक पूरे दम-खम के साथ अपना अस्तित्व बनाए रखती है।

कहानी क सार कुछ इस प्रकार है- देश के बटवारे के साढ़े सात साल के बाद कुछ लोग लाहौर से अमृतसर अपनी पुरानी यादें ताजा करने आए हैं। वैसे वे लाहौर से अमृतसर हॉकी का मैच देखने का बहाना करके आए हैं। अमृतसर के उन बाजार,घर और गली-मुहल्ले को देखने का उन्हें ज्यादा चाव था, जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए हराए हो गए थे। अमृतसर में मुसलमानों की कोई न कोई टोली अकसर ऐसे आती ही रहती थी। अब उसे यह शहर साधारण शहर न होकर एक अच्छा-खासा आकर्षण का केंद्र लगता था।

तंग बाजारों से गुजरते हुए वे एक-दूसरे को पुरानी चीजों की यादें दिला रहे थे... देख, फतहदीना! मिसरी बाजार में अब मिसरी की दुकानें कितनी कम रह गई हैं। उस नुक्कड़ पर सुक्खी भटियारिन की भट्ठी थी जहां अब वह पान वाला बैठा है। यह नमक मंडी देख लो खान साहब! यहां की एक-एक ललाइन वह नमकीन होती थी कि बस....!

आज बहुत दिनों के बाद बाजारों में तुर्रेदार पगड़ियां और लाल तुर्की टोपियां दिखलायी दे रही थी। लाहौर से आए मुसलमानों में काफी सं□या ऐसे लोगों की थी जिन्हें बटवारे के समय मजबूरन अमृतसर से जाना पड़ा था। साढ़े सात साल में आए इन परिवर्तनों को देखकर कहीं उनकी आखों में हैरानी भर जाती और कही अफसोस घिर आता। वल्लाह! कटरा जयमलसिंह इतना चौड़ा कैसे हो गया? क्या इस तरफ के सब के सब मकान जल गए थे? यहा... हकीम आसिफ अली की दुकान थी न...? अब यहा एक मोची ने कब्जा कर रखा है और कही-कही ऐसे भी वाक्य सुनने में आते-वली, यह मस्जिद ज्यों-की-त्यों खड़ी है! इन लोगों ने इसका गुरुद्वार नही बनाया।

जिस तरह से भी मुसलमानों की टोली गुजरती वही शहर के लोग देखने लगते। कुछ लोग तो न टोलियों को देख भय के मारे रास्ते ही बदल देते थे। कुछ दूर ही से बचकर निकलने लगते थे। कुछ लोग लाहौर के हालचाल इन लोगों से बड़ी ही उत्सुकता से पूछते थे और भी सवाल पूछते। मसलन, अनारकली में अब पहले जितनी रौनक होती है या नही? सुना है, शाहनमी गेट का बाजार पूरी तरह नया बना दिया गया है। कृष्ण नगर में कोई बदलाव नही आया। वहा का रिश्वतपुरा क्या वाकई रिश्वत की रकम से बना है। कहते हैं पाकिस्तान में अब बुर्का उड़ गया है। ये सब सवाल आत्मीयता भरे होते थे। ऐसे मे लगता था कि लाहौर एक शहर नही बल्कि इन सबका कोई खास सगा-संबंधी है। जिसके हालचाल जानने के लिए ये ब इतने उत्सुक हैं। लाहौर से आये लोग

उस दिन शहर भर के मेहमान थे जिनसे बातचीत करके और मिलकर लोगों की पुरानी यादें ताजा हो रही थी।

अमृतसर का बाजार बंसा उजड़ा हुआ-सा बाजार रह गया है। यहा विभाजन से पहले ज्यादातर निचले तबके के मुसलमान रहते थे। यहा ज्यादातर दुकानें बासों और शहतीरों की ही थी जो सब एक अग्निकांड में भस्म हो गई थी। तब इन दुकानों के साथ-साथ जान-माल की भी खूब हानि हुई थी जिसके अवशेष अब भी यहा दिखलाई दे रहे थे। एक बार तो इस सलेट में पूरे अमृतसर को ही निगल जाने का खतरा बन गया था। उस वक्त हिंदुओं और मुसलमानों के घर भी इस आग की लपेट में आ गए थे। अब साढ़े सात साल के बाद कुछ घरों के स्थानो पर नई इमारते खड़ी हो गई हैं। इन इमारतों के बीच कुछ मलबो के ढेर अजीव-सा वातावरण पैदा करते थे। अब यह बाजार बासा उजाड़ सा हो गया था। उस दिन भी उसमें चहल-पहल नही थी। उस बाजार के रहने वाले ज्यादातर लोग तो अपने मकानो के साथ ही शहीद हो गए थे और जो बचकर चले गए थे उनमें से शायद किसी में भी फिर से लौटकर आने की हिम्मत नही रह गई थी। परंतु उस दिन एक बुड्ढा दुबल-पतला सा मुसलमान ही उस बाजार में अपनी पुरानी यादें ताजा करने आया था। बायी तरफ जाने वाली गली के पास पहुंचकर उसके पैर अंदर जाने को मुड़े परंतु फिर हिचकिचाकर वह वही रुक गया। वह कुछ भ्रम की सी स्थिति में पड़ गया था। वास्तव में उसे यह यकीन नही हो पा रहा था कि भयावह वही गली है जिसमे उसे जाना है। गली में एक तरफ कुछ बच्चे खेल रहे थे। एक तरफ दो औरतों आपस मे एक-दूसरे को गालियां दे रही थी।

बुड्ढे मुसलमान ने अपने-आप सेकहा- 'सब कुछ बदल गया मगर बोलिया नही बदली।' उसने एक बच्चे को रोता देखा तो प्यार से उसे बुलाया लेकिन तभी उसकी बहन उसे जबरन खींचती हुई वहा से ले गई। कहने लगे- 'रो मत। वह मुसलमान तुझे पकड़कर ले जाएगा।'

तभी उसने एक नवयुवक को देखा। उसने उसे नाम लेकर पुकारा। वह नवयुवक रुका। उसने भी बड़े मियां को गौर से देका तो पहचान लिया। बोला- 'आप आज पाकिस्तान से आए हैं?'

'हा, पहले हम इसी गली में रहते थे। मेरा लड़का चिरागदीन तुम लोगों के कपड़े सिला करता था। तकसीम से छः महीने पहले ही हमने अपना नया मकान बनवाया था।'

'ओ, गनी मियां!' मनोरी ने पहचान कर कहा।

तब वह बोला- 'मुझे मेरा बेचा चिराग और उसके बीवी-बच्चे तो अब मिल नही सकते। सोचा मकान की सूरत ही देख लूं।' फिर उसने बतलाया- 'मैं पहले यहा से निकलकर चला गया था। यहा रहता तो उनके साथ मैं भी...।' कहते हुए गनी मिया भावूक हो गए।

मनोरी उन्हें उनका घर दिखाने चल दिया। गनी मिया ने घरके मलबे का ढेर देखा तो वे उदास हो गए। उस मलबे के ढेर पर भी रक्खा पहलवान की गिद्ध दृष्टि जमी थी। वह उसे अपना

ही समझ बैठ था क्योंकि उसका दबदबा जो था। सब उससे डरते थे। फिर सब यह भी जानते थे कि रक्खा पहलवान ने हीगनी मिया के बेटे चिराग, उसकी बीवी और दोनों लड़कियों को मौत के घाट उतारा था। यह बात मोरी को भी पता थी। लेकिन वह यह बात गनी मिया को नही बतलाना चाहता था।

अपने मकान को मलबे के ढेर में तब्दील हुए देखकर जब गनी मिया मनोरी के साथ लौट रहा था तो रक्खा पहलवान से वह उसको मिलवाना नही चाहता था, चूंकि बवाल होने का अंदेशा था। परंतु गनी मिया की निगाह कुएं पर, पीपल के नीचे बैठे रक्खा पहलवान पर पड़ी तो उसने उनकी कुशल क्षेम पूछी, लेकिन पहलवान के मन में तो चोर था। इसलिए वह उससे कतराता रहा। फिर भी उसने गनी मिया का हाल पूछा तो गनी मिया बोले- 'क्या बताऊं रक्खे! मेरा हाल तो मेरा खुदा ही जानता है। चिराग वहा साथ होता तो और बात थी। मैंने उसे कितना समझाया था कि मेरे साथ चला चल, पर वह जिद पर अड़ा रहा किनया मकान छोड़कर नही जाऊंगा। यह अपनी गली है। यहा कोई खतरा नही है। भोले कबूतर ने यह नही सोचा कि गली के बाहर तो खतरा हो सकता है। मकान की रखवाली के लिए चारों ने अपनी जान दे दी।' फिर गनी आगे बोला- 'रक्खे! उसे तेरा बहुत भरोस था। कहता था कि रक्खे के रहते मेरा कोई कुछ नही बिगाड़ सकता। मगर जब जान पर बन आयी तो रक्खे के रोके भी न रुकी।'

गनी मिया ने देखा कि रक्खे पहलवान का शरीर बेकाबू हुआ जा रहा था। उसे अपनी जुबान और होठों के बीच एक फासला-सा महसूस हो रहा था। उसने होठों के कोनों को अगोछे से साफ किया। साथ ही उसके मुंह से निकला, 'हे प्रभु! दू ही है, तू ही है, तू ही है!'

गनी मिया चलते हुए रक्खे के कंधे पर हाथ रखकर बोले- 'जो होना था,हो गया रक्खे। उसे अब कोई लौटा थोड़े ही सकता है। खुदा की नेकी बनाए रखे और बद की बदी माफ करे। मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया। अल्लाह! तुम्हे सेहतमंद रखे।' फिर चलते हुए बोले- 'अच्छा! रक्खे पहलवान।'

उन दोनों की बातों को देखकर चेहमेगोइयां चलती रही कि मनोरी ने गली से निकलकर गनी को सब कुछ हकीकत बतला दी होगी। फिर वे बोली- रक्खा अब किस मुह से लोगों को... मलबे पर गाय बांधने से रोकेगा? बेचारी जुबैदा! कितनी अच्छी थी वह। रक्खे मरदूद का घर... न घाट, इसे किसी की मां-बहन का लिहाज था?

थोड़ी देर में गली का माहौल सामान्य होने लगा। कहानी के अंत में रक्खे और कुत्ते की तुलना भी बहुत कुछ कहती प्रतीत होती है।

मोहन राकेश की यह कहानी बोलने से भी ज्यादा वह सब कुछ बोलती है जो इस कहानी में उससे नही बोला गया। कहानी प्रत्येक दृष्टि से उत्तम है।

4.1.5 कहानी की समीक्ष

मोहन राकेश ने आधुनिकता की प्रक्रिया और उसके प्रश्न चिह्नों को समष्टि-चिंतन के धरातल पर उठाकर युग-सत्य के प्रति अपनि सतर्कता को उजागर किया है। उनके लेखन में सच्चाई और गहराई स्पष्ट दिखलई देती है। उनके कथानक विश्वसनीय और जमीनी होते हैं। अपने कहानी-लेखन से भी मोहन राकेश ने कहानी कला को समृद्ध और विकसित किया है। लेखक ने तथा उनके समकालीन दूसरे लेखकों ने जिस कहनी को रचा, उसका स्वरूप अपनी पूर्ववर्ती कहानियों से काफी अलग-थलग था। सामाजिक चेतना, सामाजिक समस्यां के चित्रण, देश प्रेम की भावना एवं आदर्शप्रियता के स्थान पर इनकी कहानियों का मूल स्वर हुआ- व्यक्तिगत समस्याएं, कुंठाएं, स्त्री-पुरुष संबंधों के विभिन्न स्वरूप तथा स्तर, उनमें पड़ी दरारें, चलती आ रहीं सामाजिक मान्यताओं का खंडन एवं उनके स्थान पर व्यक्ति-स्वातंत्रय की प्रतिष्ठा, यौन संबंधों में दुराव-छिपाव के स्थान पर खुलेपन का आग्रह आदि-आदि। इन्हें नयी कहानी का नाम भी दिया जा सकता है।

कालांतर में इस प्रकार की नई कहानीके सर्वाधिक चर्चित कहानीकार हुए-राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर। इस समय के अधिकांश लेखक साहित्य जगत की विभिन्न विधाओं में नयापन लाने की कोशिश में लगे दिखाई दिए। मोहन राकेश ने सन् 1944 से सन् 1972 के बीच कुल 66 कहानियां लिखी, जिनमें से 12 उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो पाई थी। उन्होंने अपनी कहानियों में मध्यवर्गीय समाज को, उसकी विभिन्न स्थितियों को ही अधिक प्रस्तुत किया है। कारण, वे स्वयं भी मध्यवर्ग से ही थे। यह बात 'मलबे का मालिक' कहानी में देखी जा सकती है।

कहानी का मूल संवेदना

मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' यथार्थ और वास्तविकता के अत्यंत समीप की कहानी है। इसके सभी पात्र हमारे ही समाज के जीवंत पात्र हैं।

4.1.6 कहानी कला के तत्व और 'मलबे का मालिक'

इस कहानी में कहानी के अधिकांश सभी तत्व मौजूद हैं। जैसे- कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, संवद, देशकाल और वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य।

4.1.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं

(1) 'बुड्ढे मुसलमान ने बच्चे को देने के लिए जो पैसा निकाला था वह उसने वापिस जेब में रखा लिया। सिर से टोपी उतारकर वहा थोड़ा खुजलाया और टोपी अपनी बगल में दबा ली। उसका गला खुश्क हो रहा था और घुटने थोड़ा कांप रहे थे। उसने गली के बाहर की एक बंद दुकान के त□ते का सहारा ले लिया और टोपी फिर से सिर पर लगा ली। गली के सामने जहां पहले ऊंचे-ऊंचे शहतीर रखे रहते थे, वहां अब तिमंजिला मकान खड़ा था। सामने बिजली के तार पर दो मोटी-मोटी चीले बिल्कुल जड़-सी बैठी थी। बिजली के खंभे के पास थोड़ी धूप थी। वह थोड़ी देर तक धूपमें उड़ते जर्रो को देखता रहा, फिर उसके मुंह से निकाला, 'या मालिक!'

संदर्भ

यह गद्यांश मोहन राकें की कहानी 'मलबे का माालिक' से लिया गया है।

प्रसंग

बूढ़े मुसलमान ने रोते हुए बच्चे को देखकर चुप कराने के लिए उसे अपनो पास बुलाकर जब पैसा देना चाहा तभी एक सोलह-सत्रह साल की लड़की गली के अंदर से दौड़ती हुई आई। उसने बच्चे को झट से अपनी बांहों में भरा और गली के अंदर ले जाती हुई बोली- 'चुपकर खसम-खानेद्व! रोएगा, तो वह मुसलमान तुझे पकड़कर ले जाएगा। कह रही हूं। चुपकर!'

व्याख्या

बूढ़े मुसलमान ने जो पैसा जेब से निकाला था, वह उसने फिर जेब के हवालेकर दिया और फिर वहां के बदले हुए वातावरण का जायजा लेने लगा। साढ़े सात साल पहले जब उसे बंटवारे की भनक पड़ी तब वह लाहौर चला गया था। अब इतने मुद्दत बाद वह अपने नये मकान और वहां के वातावरण को देखने की हसरत लिए अमृतसर आया था लेकिन यहां तो अब सब कुछ उसे बदला-बदला-सा लग मगर बोलियां अभी भी वही थी। ये बदलाव देखकर उसने अपने माालिक (खुदा) को याद किया।

विशेष

कहानी में प्रवाह तारतम्यता और उत्सुकता अंत तक बनाए रखना लेखक की लेखन कला का कमाल है। कहानी आदर्शवाद पर न टिककर यथार्थवाद पर टिकी हुई है। संवाद अति सुंदर और चरित्रों के अनुरूप बन पड़े हैं।

(2) 'पीपल के नीचे सोए रक्खे पहलवान को जाने किसी ने जगा दिया था, या वह खुद ही जाग गया। यह जानकर कि पाकिस्तान से अब्दुल गनी आया है और अपने मकान के मलबे पर बैठा है। उसके गले में थोड़ा झाग उठ आया जिससे उसे खांसी आ गई और उसने कुएं के फर्श पर थूक

दिया। मलबे की तरफ देखकर उसकी छाती से धौंकनी की सी आवाज निकली और उसका निचला होंठ बाहर को फैल आया।'

संदर्भ

यह गद्यांश मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' से उद्धृत है।

प्रसंग

इस गद्यांश में अब्दुल गनी के मकान की 'राम कहानी' कहीं उसे न मालूम हो जाए, इस बात का अंदेशा पूरी बस्ती के लोगों को सता रहा है। यहां तक कि रक्खा पहलवान को भी अब्दुल गनी के पाकिस्तान से आनेकी भनक पड़ती है।

व्याख्या

रक्खा पहलवान की हालत पतली होने लगती है। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत उस पर सौ फीसदी लागू होने लगती है। गले में झाग उठ जाने के कारण उसे खांसी भी आ गई थी। उसने कुएं के फर्श पर थूक दिया था। अब्दुल गनी के नये मकान को मलबे में परिवर्तित करने-कराने में और उसे बर्बाद करने में रक्खा पहलवान काही पूरा हाथ था। अब्दुल गनी के आने की खबरसे ही उसके पैर की जमीन उसे खिसकती सी महसूस होने लगी थी और उसका निचला होंठ थोड़ा बाहर को भी फैल आया था।

विशेष

आदमी कितना भी बड़ा हो चोरी करते अथवा गलत काम करते ही वह आधा रह जाता है। यही बात इस गद्यांश से निकलकर आती है।

(3) 'तंग बाजारों में से गुजरते हुए वे एक-दूसरे को पुरानी चीजों की यादें दिला रहे थे... देख-फतहदीना, मिसरी बाजार में अब मिससी की दुकाने पहले से कितनी कम रह गईज्ञ हैं। उस नुक्कड़ पर सक्खी भठियारिन की भठ्ठी थी, जहं अब वह पानवाला बैठा है।... यह नमक मंडी देख लो, खान साहब! यहांकी एक-एक ललाइन वह नमकीन होती है कि बस...।'

संदर्भ

यह गद्यांश कहानी लेखक मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' से लिया गया है।

प्रसंग

देश-विभाजन के साढ़े सात साल बाद मुसलमानों की एक टोली अमृतसर के एक तंग बाजार में जब आयी, तब उन लोगों की पुरानी यादें ताजा होने लगी। वे वहां आए परिवर्तन को देखकर पिछली और वर्तमान की स्थिति का जायजा लेने लगे।

व्याख्या

यह टोली साढ़े सात साल के बाद अमृतसर तंग बाजार में अपने मकान-दुकान, गली और कूचों को देखने आई है। यहां के परिवर्तन को देखकर कभी उन्हें आश्चर्य होता है, कभी दु:ख होता है। वे वापस में बोल-बतिया रहे हैं। उन्हें देखकर वहां के लोग भी आपस में कानाफूसी कर रहे हैं। वे उनको आश्चर्य मिश्रित निगाहों से देख रहे हैं। उधर वह टोली भी अपने शहर को, जो साढ़े सात साल पहले उनका अपना हुआ करता था, लेकिन आज बेगाना होकर रह गया है, उसे ही आज वे अच्छा-खासा आकर्षण का केंद्र मान और समझकर देख रही है। इनमें एक-दो लोग हंसी-मजाक और रंगीन मिजाज की तबीयत के भी हैं। तभी तो उस समय की नमक की मंडी की नमकीन बातें करने से भी स्वयं को पीछे नहीं कर पा रहे हैं।

विशेश

मोहन राकेश ने इस गद्यांश में मन:स्थिति का, पूरानी-नयी बातों का हल्के-फुल्के अंदाज में वर्णन हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में किया है। भाषा भी चुटीली है।

4.2 यही सच है - मन्नु भंडारी

यही सच है कहानी की लेखक मन्नू भंडारी का जीवन परिचय इस प्रकार है-

4.2.1 लेखिका परिचय

मन्नू भंडारी का जन्म भानपुरा (मध्य प्रदेश) में दिनांक 3 अप्रेल, सन् 1931 को हुआ था। इन्होंने एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। लेखन के संस्कार पिता श्री सुख संपतराय भंडारी से मिले। दिल्ली विश्वविद्यलय से संबद्ध मिरांडा हाउस में हिंदी प्राध्यापिका के रूप में सालों कार्यरत रही। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में प्रेमचंद सृजन पीठ की अध्यक्ष भी रही। प्रकाशित सामग्री 5 उपन्यास, *कहानी-* एक प्लेट सौलाब, मैं हार गयी, तीन निगाहों की एक तस्वीर, यही सच है, त्रिशंकु। *सर्वश्रेष्ठ कहानियां,* आंखों देखा झूठ, नाटक- बिना दीवारों के घर।

4.2.2 यही सच है : मूल पाठ

कानपुर

(1)

सामने आंगन में फैली धूप सिमट कर दीवारों पर चढ़ गई और कंधे पर बस्ता लटकाए नन्हे-नन्हे बच्चों के झुंड-के-झुंड दिखाई दिए, तो एकाएक ही मुझे समय का आभास हुआ। घंटा भर हो गया यहां खड़े-खड़े और संजय का अभी तक पता नहीं। झुंढलाती-सी मैं कमरे में आती हूं। कोने में रखी मेज पर किताबें बिखरी पड़ी हैं, कुछ खुली, कुछ बंद। एक क्षण मैं उन्हें देखती रहती हूं, फिर निरुद्देश्य-सी कपड़ों की अलमारी खोलकर सरसरी-सी नजर से कपड़े देखती हूं। सब बिखरे पड़े हैं। इतनी देर यों ही व्यर्थ खड़ी रही, इन्हें ही ठीक कर लेती। पर मन नहीं करता और फिर बंद कर देती हूं।

नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया? फिर यह कोई आज ही की बात है! हमेशा संजय अपने बताए हुए समय से घंटे-दो-घंटे देरी करते ाता है, और मैं हूं कि उसी क्षण से प्रतीक्षा करने लगती हूं। उसके बाद लाख कोशिश करके भी तो किसी कम में अपना मन नहीं लगा पाती। वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है; थीसिस पूरी करने के लिए अब मुझे अपना सारा समय पढ़ाई में ही लगाना चाहिए। पर यह बात उसे कैसे समझाभं।

(2)

मेज पर बैठकर मैं फिर पढ़ने का उपक्रम करने लगती हूं, पर मन है कि लगता ही नहीं। पर्दे के जरा-से हिलने से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और बार-बार नजर घड़ी के सरकते हुए कांटों पर दौड़ जाती है। हर समय यही लगता है, वह आया! वह आया!

तभी मेहता साहब की पांच साल की छोटी बच्ची झिझकती-सी कमरे में आजी है।

'आंटी, हमें कहानी सुनाओगी?'

'नहीं, अभी नहीं, पीछे आना!' मैं रुखाई से जवाब देती हूं। वह भाग जाती है। ये मिसेज मेहता भी एक ही हैं! यों तो महीनों शायद मेरी सूरत नहीं देखती, पर बच्ची को जब-तब मेरा सिर खाने को भेज देती हैं। मेहता साहब चो फिक भी कभी-कभी आठ-दस दिन में खैरियत पूछ ही लेते हैं, पर वे जो बेहद अकड़ू मालूम होती हैं। अच्छा ही है, ज्यादा दिलचस्पी दिखाती तो क्या मैं इतनी आजादी से घूम-फिर सकती थी?

खट-खट-खट वही परिचित पद-ध्वनि! तो आ गया संजय। मैं बरबस ही अपना सारा ध्यान पुस्तक में केंद्रित करलेती हूं। रजनीगंधा के ढेर सारे फूल लिए संजय मुस्कुरता-सा दरवाजे पर खड़ा है। मैं देखती हूं, पर मुस्कुराकर स्वागत नहीं करती। हंसता हुआ वह आगे बढ़ता है और फूलों को मेज पर पटककर, पीछे से मेरे दोनों कंधे दबाता हुआ पूछता है, 'बहुत नाराज हो?'

रजनीगंधा कीमहक से जैसे सारा करा महकने लगता है।

'मुझे क्या करना है नाराज होकर?' रुखाई से मैं कहती हूं। वह कुर्सी सहित मुझे घुमाकर अपने सामने कर लेता है, और बड़े दुलार के साथ ठोड़ी उठाकर कहता, 'तुम्ही बताओ क्या करता? क्वालिटी में दोस्तों के बीच फंसा था। बहुत कोशिश करके भी उठ नहीं पाया। सबको नाराज करके आना अच्छा भी नही लगता।'

इच्छा होती है, कह दूं- 'तुम्हें दोस्तों का खयाल है, उनके बुरा मानने की चिंता है, बस मेरी ही नही!' पर कुछ कह नहीं पाती। एकटक उसके चेहरे की ओर देखती रहती हूं उसके सांवले चेहरे पर पसीने की बूंदे चमक रही हैं। कोई और समय होता तो मैंने अपने आंचल से इन्हें पोंछ दिया होता, पर आज नहीं। वह मंद-मंद मुस्कुरा रहा, उसकी आंखें क्षमा-याचना कर रही हैं,

पर मैं **क्य**ा करू तभी वह अपनी आदत के अनुसार कुर्सी के हत्थे पर बैठकर मेरे गाल सहलाने लगता है। मुझे उसकी इसी बात पर गुस्सा आता है। हमेशा इसी तरह करेगा और फिर दुनिया भर का लाड़-दुलार दिखलाएगा। वह जानता जो है कि इसके आगे मेरा क्रोध टिक नहीं पाता। फिर उठकर वह फूलदान के पुराने फूल फेंक देया है, और नये फूल लगाता है। फूल सजाने में वह कितना कुशल है! एक बार मैंने यों ही कह दिया था कि मुझे रजनीगंधा के फूल बड़े पसंद हैं, तो उसने नियम ही बना लिया कि हर चौथे दिन ढेर सारे फूल लकर मेरे कमरे में लगा देता है। और अब तो मुझे भी ऐसी आदत हो गई है कि एक दिन भी कमरे में फूल न रहें तो न पढ़ने में मन लगता है, न सोने में। ये फूल जैसे संजय की उपस्थिति का आभास देते रहते हैं।

थोड़ी देर बाद हम घूमने निकल जाते हैं। एकाएक ही मुझे हरा के पत्र की बात याह आती है। जो बात सुनने के लिए मैं सवेरे से आतुर थी, इस गुस्सेबाजी में जाने कैसे उसे ही भूल गई!

'सुनो, हरा ने लिखा है कि किसी दिन भी मेरे पास इंटरव्यू का बुलावा आ सकता है, मुझे तैयार रहना चाहिए।'

'कहां, कलकत्ता से?' कुछ याद करते हुए संजय पूछता है, और फिर एकाएक ही उछल पड़ता है, 'यदि त**म्हें** वह जॉब मिल दाये तो मजा आ जाए, दीपा, मजा आए!'

हम सड़क पर हैं, नहीं तो अवश्य ही उसने आवेश में आकर कोई हरकत कर डाली होती। जाने **क्यों**, मुझे उसका इस प्रकार प्रसन्न होना अच्छा नहीं लगता। **क्य**ा वह चाहता है कि मैं कलकत्ता चली जाऊं, ुससे दूर?

तभी सुनाई देता है, 'तु**म्हें** यह जॉब मिलजाए तो मैं भी अपना तबादला कलकत्ता ही करवा लूं, हेड ऑफिस में। यहां की रोज की किच-किच से तो मेरा मन ऊब गया है। कितनी ही बार सोचा कि तबादले की कोशिश करूं, पर तु**म्ह**ारे खयालने हमेशा मुझे बांध लिया। ऑफिस में शांति हो जाएगी, पर मेरी शामें कितनी वीरान हो जाएगी।'

उसके स्वर की आद्रता ने मुझे छू लिया। एकाएक ही मुझे लगने लगा कि रात बड़ी सुहावनी हो चली है।

हम दूर निकलकर अपनी प्रिय टेकरी पर जाकर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक हल्की-सी चांदनी फैली हुई है और शहर की तरह यहां का वातावरण धुएं से भरा हुआ नहीं है। वह दोनों पैर फैलाकर बैठ जाता है और घंटों मुझे अपने ऑफिस के झगड़े की बात सुनाता है और फिर कलकत्ता जाकर साथ जीवन बिताने की योजनाएं बनाता है। मैं कुछ नहीं बोलती, बस एकटक उसे देखती हूं, देखती रहती हूं।

जब वह चुप हो जाता है तो बोलती हूं, 'मुझे तो इंटरव्यू में जाते हुए बड़ा डर लगता है। पता नहीं, कैसे-**क्य**ा पूछते होंगे! मेरे लिए तो यह पहला ही मौका है।'

वह खिलखिलाकर हंस पड़ता है।

'तुम भी एक ही मूर्ख हौ! घर से दूर, यहां कमरा लेकर अकेली रहती हो, रिसर्च कर रही हो, दुनिया-भर में घूमती-फिरती हो और इंटरव्यू आदि तो सब दिखावा-मात्र हैं। वहां किसी जान-पहचान वालेसे इन्फ्लुएस डलवाना जाकर!'

'पर कलकत्ता तो मेरे लिए एकदम नई जगह है। वहां हरा को छोड़कर मैं किसी को जानती भी नहीं। अब उन लोगों की कोई जान-पहचान हो तो बाद दूसरी है।' असहाय-सी मैं कहती हूं।

'और किसी को नहीं जानती?' फिर मेरे चेहरे पर नजरे गड़ाकर पूछता है, 'निशीथ भी तो वही है?'

'होगा, मुझे क्या कहना है उससे?' मैं एकदम ही भन्नाकर जवाब देती हूं। पता नहीं क्यों मुझे लग ही रहा था कि अब वह यही बात कहेगा।

'कुछ नहीं करना?' वह छेड़ने के लहजे में कहता है।

और मैं भभक पड़ती हूं, 'देखो संजय, मैं हजार बार तुमसे कह चुकी हूं कि उसे लेकर मुझसे मजाक मत किया करो! मुझे इस तरह का मजाक जरा भी पसंद नहीं है!'

वह खिलखिलाकर हंस पड़ता है, पर मेरा तो मूड ही खराब हो जाता है।

हम लौट पड़ते हैं। वह मुझे खुश करने के इरादे से मेरे कंधे पर हाथ रख देता है। मैं झपटकर हाथ हटा देती हू, 'क्या कर रहे हो? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा?'

'कौन है यहं जो देख लेग? और देख लेगा तो देख ले, आप ही कुढ़ेगा।'

'नहीं, हमें पसंद नहीं हैं यह बैशर्मी!' और सच ही मुझे रास्ते में ऐसी हरकतें पसंद नहीं हैं चाहे रास्ता निर्जन ही क्यों न हो, पर है तो रास्ता ही, फिर कानपुर जैसी जगह।

कमरे में लौटकर मैं उसे बैठने को कहती हूं, पर वह बैठता नहीं, बस, बाहों में भरकर एक बार चूम लेता है। यह भी जैसे उसका रोज का नियम है।

वह चला जाता है। मैं बाहर बालकनी में निकलकर उसे देखती रहती हूं। उसका आकार छोटा होते-होते सड़क के मोड़ पर जाकर लुप्त हो जाता है। मैं उधर ही देखती रहती हूं-निरुद्देश्य-सी खोई-खोई-सी। फिर आकर पढ़ने बैठने जाती हूं।

रात में सोती हूं तो देर तक मेरी आंखे मेज पर लगे रजनीगंधा के फूलों को ही निहारती रहती हूं। जाने क्यों, अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है कि ये फूल नहीं हैं, मानों संजय की अनेकानेक आंखें हैं, जो मुझे देख रही हैं, सहला रही हैं, दुलरा रही हैं, और अपने को यों असं□य आंखों से निरंतर देखे जाने की कल्पनी से ही मैं लजा जाती हूं।

मैंने संजय को भी एक बारयहबात बताई थी, तो वह खूब हंसा था और फिर मेरे गालों को सहलाते हुए उसने कहा था कि मैं पागल हूं, निरी मूर्खा हूं!

कौन जाने, शायद उसका कहना ही ठीक हो, शायद मैं पागल ही होऊं!

कानपुर

मैं जानती हूं संजय का मन निशीथ को लेकर जब-तब सशंकित हो उठता है, पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊं कि मैं निशीथ से नफरत करती हूं, उसकी याद-मात्र से मेरा मन घृणा से भर उठता है। फिर उठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्राय होता है भला! निरा बचपन होता है, महज पागलपन! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं, गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेद से वह आरंभ होता है, जरा-सा झटका लगने पर उसी नेद से टूट भी जाता है। और उसके बाद आहों, आंसुओं और सिसकियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के अनेकानेक संकल्प और फिर एक तीखी घृण। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मि जाता है, उन सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिफर तो वह सब ऐसी बेवकूफी लगती है, जिस पर बैठकर घंटो हंसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस बात क अहसास होता है कि ये सारे आंसू, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थी, वरन जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थी जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।

तभी तो संजय को पाते ही मैं निशीथ को भूल गई। मेरे आंसू हंसी में बदल गए और आहों की जगह किलकारियां गूंजने लगीं। पर संजय है कि जब-तब निशीथ की बात कोलेकर व्यर्थ ही खिन्न-सा हो उठता है। मेरे कुछ कहने पर वह खिलखिला अवश्य पड़ता है, पर मैं जानती हूं, वह पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हैं।

उसे कैसे बताऊं कि मेरे प्रार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केंद्र संजय ही है। यह बाद दूसरी है कि चांदनी रात में किसी निर्जन स्थान में, पेड़-तले बैठकर भी मैं अपनी थीसिस की बात करती हूं या वह अपने ऑफिस की, मित्र की बातें करत है, या हम किसी और विषय पर बात करने लगते हैं, पर इस सबका यह मतलब तो नहीं कि हम प्रेम नहीं करते! वह क्यों नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गई है, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गई है, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।

पर संजय को कैसे समझाऊं यह सब? कैसे उसे समझाऊं कि निशीथ ने मेरा अपमान किया है, ऐसा अपमान, जिसकी कचोट से मैं आज भी तिलमिला जाती हूं। संबंध तोड़ने से पहले एक बार तो उसने मुझे बताया होता कि आखिर मैंने ऐसा कौन-सा अपराध कर डाला था, जिसके कारण उसने मुझे इतना कठोरदंड दे डाला? सारी दुनिया की भर्त्सना, तिरस्कार, परिहास और दया का विष मुझे पीना पड़ा। विश्वासघाती! नीच कही का! और संजय सोचता है कि आज भी मेरे मन में उसके लिए कोई कोमल स्थान है! छिः! मैं उससे नफरत करती हूं! और सच पूछो त अपने को

भाग्यशालिनी समझती हूं कि मैं एक ऐसे व्यक्त के चंगुल में फंसने से बच गई, जिसके लिए प्रेम महज का खिलवाड़ है।

संजय, यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई भी बात होती, तो क्या मैं तुम्हारें आगे, तुम्हारी हर उचित-अनुचित चेष्टा के आगे,यों आत्मसमर्पण करती? तुम्हारें चुंबनो और आलिंगनों में अपने को यों बिखरने देती? जानते हो? विवाह से पहले कोई भी लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती। पर मैंने दिया। क्या केवल इसीलिए नहीं कि मैं तुम्हें प्यार करती हूं, बहुत-बहुत प्राय करती हूं? विश्वास करो संजय, तुम्हारा मेरा प्यार ही सच है। निशीथ का प्राय तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठ था।

कानपुर

परसों मुझे कलकत्ता जाना है। बड़ा डर लग रहा है। कैसे क्या होगा? मान लों, इंटरव्यू में बहुत नर्वस हो गई तो? संजय को कह रही हूं कि वह भी साथ चले, पर उसे ऑफिस से छुट्टी नहीं मिल सकती। एक तो नया शहर, फिर इंटरव्यू! अपना कोई साथ होता तो बड़ा सहारा मिल जाता है। मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूं, यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूं तो संजय सोता है, मुझमें बड़ी हिम्मत है, पर सच, बड़ा डर लग रहा है।

बार-बार मैं यह मान लेती हूं कि मुझे नौकरी मिल गई है और मैं संजय के साथ वहां रहने लगी हूं। कितनी सुंदर कल्पना है, कितनी मादक! पर इंटरव्यू का भय मादकता से भरे इस स्वप्नजाल को छिन्न-भिन्न कर देता है।

काश, संजय भी किसी तरह मेरे साथ चल पाता!

कलकत्ता

गाड़ी जब हावड़ा स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर प्रवेश करती है तो जाने कैसी विचित्र आशंका, विचित्र-से बय से मेरा मन भर जाता है। प्लेटफॉर्म पर खड़े असं□य नर-नारियों में मैं इराको ढूंढती हूं। वह कहीं दिखाई नहीं देती। नीचे उतरने के बजाय खिड़की में से ही दूर-दूर तक नजरे दौड़ाती हूं। आखिर एक कुली को बुलाकर अपना छोटा-सा सूटकेस और बिस्तर उतारने का आदेश दे,मैं नीचे उतर पड़ती हूं। उस भीड़ को देखकर मेरी दहशत जैसे और बढ़ जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श में मैं बुरी तरह चौंक जाती हूं। पीछे देखती हुंतो इरा खड़ी है।

रूमाल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूं, 'ओफ! तुझे न देखकर मैं घबरा रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुंचूंगी!'

बाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पाई हूं। जैसे ही हावड़ा पुल पर गाड़ी पहुंचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठंडी हवाएं तन-मन को एक ताजगी

से भर देती हैं। इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं विस्मित-सी उस पुल को देखती हूं। दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्ताार को देखती हूं, उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नौकाओं को देखती हूं, बड़े-बड़े जहाजों को देखती हूं।

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर टैक्सी रुकती-रुकती चलती है। ऊंची-ऊंची इमारतं और चारों ओर के वातावरण से कुछ विचित्र-सी विराटता का आभाष होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने को बड़ा खोया-खोया-सा महसूस करती हूं। कहां पटना और कानपुर और कहां यह कलकत्ता! मैंनेतो आज तक कभी बहुत बड़े शहर देखे हीनहीं!

सारी भीड़ को चीरकर हम रैड रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शांत सड़क। मेरे दोनों ओर लंबे-चौड़े खुले मैदान।

'क्यों इर, कौन-कौन लोग होंगे इंटरव्यू में? मुझो तो बड़ा डर लग रहा है।'

'अरे, सब ठीक हो जाएगा! तूऔर डर? हम जैसे डरें तो कोई बात भी है। जिसने अपना सार कैरियर अपने आप बनाय, वह भला इंटरव्यू में डरे! फिर कुछ देर ठहरकर कहती है, 'अच्छा, भैया-भाभी तो पटना ही होंगे? जाती है कभी उनके पास भी या नहीं?'

'कानपुर आने के बाद एक बार गई थी। कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूं।'

'भई कमाल के लोग हैं! बहन को भी नहीं निभा सके!'

मुझे यह प्रसंग कतई पसंद नहीं। मैं नहीं चाहती कि कोई इस विषय पर बात करे। मैं मौन ही रहती हूं।

इरा का छोटा-सा घर है, सुंदर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर जनेकी बात सुनकर पहले तो मुझे आफसोस हुआ था, वे होतो तो कुछ मदद ही करते! पर फिर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं शायद अधिक स्वतंत्रता का अनुभव कर सकूं, उनका बच्चा भक्षी बड़ा प्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफी हाऊस से जाती है। अचानक मुझे वहां निशीथ दिखाई देती है। मैं सकपकाकर नजर घुमा लेती हूं। पर वह हमरी मेज पर ही आ पहुंचता है। विवश होकर मुझे उधर देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है, इरा का परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमंत्रण दे देती है। मुझे लगता है, मेरी सांस रुक जाएगी।

'कब आई?'

'आज सवेरे ही।'

'भी ठहरोगी, ठहरी कहां हो?'

जवाब इरा देती है। मैं देख रही हूं, निशीथ बहुत बदल गया है। उसने कवियों की तरह बाल बढ़ा लिए हैं। यह क्या शौक चर्राया? उसका रंग स्याह पड़ गया है। वह दुबला भी हो गया है।

विशेष बातचीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं। इरा को मुन्नू की चिंता सता रही थी, और मैं स्वयं भी घर पहुंचने को उतावली हो रही थी। कॉफी हाऊस से धर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है। इरा उससे बात कर रही है, मानो वह इरा का ही मित्र हो! इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नौ बजे आने का वायदा करके चला जाता है।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यों मिलना! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आंखों के सामने खुल जाता है। बहुत दुबला हो गया है निशीथ! लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाए बैठा है।

मुझसे अलग होने का दु:ष तो नहीं साल रहा है इसे?

कल्पना चाहे कितनी भी मधुर **क्यों** न हो, एक तृप्ति-यु**क्त** आनन्द देनेवाली **क्यों** न हो, पर मैं जानती हूं, यह झूठ है। यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस संबंध को तोड़ दो? उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है। यही तो है वह व्य**क्ति** जिसने मुझे अपानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था, महज उपहस का पात्र बनाकर! ओह, **क्यों** नहीं मैंने उसे पहचानने से इनकार कर दिया? जब वह मेज के पास आकर खड़ा हुआ तो **क्यों** नहीं मैंने कह दिया कि माफ कीजिए, मैं आपको पहचानतीनहीं? जरा उसका खिसियाना तो देखती! वल कल भी आएगा। मुझे उसे साफ-साफ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती, मैं उससे नफरत करती हूं।

अच्छा है, आए कल! मैं उसे बता दूंगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करनेवाली हूं। यह भी बता दूंगी कि मैं पिछला सब कुछ भूल चुकी हूं। यह भी बता दूंगी कि मैं उससे घृणा करती हूं औरउसे जिन्दगी में कभी माफ नहीं कर सकती।

यह सब सोचने के साथ-साथ जाने **क्यों**, मेरे मन में यह बात भी उठ रही थी कि तीन साल हो गए, अभी तक निशीथ ने विवाह **क्यों** नहीन किया। करे न करे, मुझे **क्या**?

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उ**म्मी**द रखता है? हूं। मूर्ख कहीं का!

संजय! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो, पर तुम नहीं आए। इस समय जबकि मुझे तु**म्हा**री इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओ, मैं**क्या** करूं।

कलकत्ता

नौकरी पाना इतना मुश्किल है, इसका मुझे गुमान तक नहीं था। इरा कहती है कि डेढ़ सौ की नौकरी के लिए खुद मिनिष्टर तक सिफारिश करने पहुंच जाते हैं, फिर यह तो तीन सौ का जॉब है। निशीथ सवेरे से शाम तक इसी च**क्क**र में भटका है, यहां तक कि उसने अपने ऑफिस से भी

छूट्टी ले ली है। वह **क्यों** मेरे काम में इतनी दिलचस्पी ले रहा है? उसका परिचय बड़े-बड़े लोगों से है और वह कहता हैकि जैसे भी होगा, वह काम मुझे दिलाकर ही मानेगा। पर आखिर **क्यों**?

कल मैंने सोचा ता कि अपने व्यवहार की रुखाई से मैं स्पष्ट कर दूंगी कि अब वह मेरे पासन आए। पौने नौ बजे के करीब, जब मैं अपने टूटे हुए बाल फेंकनेखिड़की पर गई, तो देखा घर से थोड़ी दूर पर निशीथ टहल रहा है। वही लंबे बाल, कुरता-पाजामा। तो वह समय से पहले ही आ गया! संजय होता तो ग्यारह के पहले नहीं पहुंचता, समयपर पहुंचना तो वह जानता ही नहीं।

उसे यों च**क्क**र काटते देख मेरा मन जाने कैसा हो आया। और जब वह आया तो मैं चाहकर भी कटु नहीं हो सकी। मैंने उसे कलकत्ता आने का मकसद बताया, तो लगा कि वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वहीं बैठे-बैठे फोन करके उसने इस नौकरी के संबंधमें सारी जानकारी प्राप्त कर ली, कैसे **क्या** करना होगा, उसकी योजना भी बना डाली, बैठे-बैठे फोन से ऑफिस को सूचना भी दे दी कि आज वह ऑफिस नहीं आएगा।

विचित्र स्थिति मेरी होरही थी। उसके इस अपनत्व-भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं कर पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी। सारा दिन मैं उसके साथ घूमती रही, पर काम की बात के अतिरि**क्त** उसने एक भी बात नहीं की। मैंने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूं पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं वह सुनकर यह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसेक आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफी उ**म्मी**द हो चली थी। यह नौकरी मेरे लिए कितनी आवश्यक है, मिल जाए तो संजय कितना प्रसन्न होगा, हमारे विवाहित जीवन के आरंभिक दिन कितने सुख में बीतेंगे।

शाम को हम घर लौटते हैं। मैं उसे बैठने को कहती हूं,पर वह बैठता नहीं, बस खड़ा ही रहता है। उसके चौड़े ललाट पर पनीने की बूंदे चमक रही हैं। एकाएक ही मुझे लगता है, इस समय संजय होता,तो मैं अपने आंचल से उसका पसीना पोंछ देती, और वह **क्या** बिना बाहों में भरे, बिना प्राय किए यों ही चला जाता?

'अच्छा, तो मैं चलता हूं।'

यंत्रचालित-से मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, वह लौट पड़ता है और मैं ठगी-सी देखती रहती हूं।

सोते समय मेरी आदत है कि संजय के लाए हुए फूलों को निहारती रहती हूं। यहां वे फूलनहीं है तो बड़ा सूना-सूना सा लग रहा है। पता नहीं संजय, तुम इस समय **क्या** कर रहे हो! तीन दिन हो गए, किसी ने बाहों में भरकर प्यार तक नहीं किया।

कलकत्ता

आज सवेरे मेरा इंटरव्यू है। मैं शायद बहुत नर्वस हो गई थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिए, वैसे नहीं दे पाई। पर निशीथ ने आकर बताया कि मेरा चुना जाना करीब-करीब तय हो गया है। मैं जानती हूं, यह सब निशीथ की वजह से ही हुआ।

ढलते सूरज की धूप निशीथ के बाएं गाल पर पड़ रही थी और सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा।

मैंने देखा, मुझसे ज्यादा वह प्रसन्न है। वह कभी किसी का अहसान नहीं लेता, पर मेरी खातिर उसने न जाने कितने लोगों का अहसान लिया। आखिर **क्यों**? **क्या** वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूं उसके साथ, उसके पास? एक अजीब-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है। वह ऐसा **क्यों** चाहता है? उसका ऐसा चाहना बहुत गलत है, बहुत अनुचित है! मैं अपने मन को समझाती हूं, ऐसी कोई बात नहीं है, शायद वह केवल मेरे प्रति किए गए अन्याय का प्रतिकार करने के लिए यह सब कर रहा है! पर **क्या** वह समझता है कि उसकी मदद से नौकरी पाकर मैं उसे क्षमा कर दूंगी, या जो कुछ उसने किया है, उसे भूल जाऊंगी? असंभव! मैं कल ही उसे संजय की बात बता दूंगी।

'आज तो इस खुशी में पार्टी हो जाए।'

काम की बात के अलावा यह पहला वा**क्य** मैं उसके मुंह से सुनती हूं, मैं इरा की ओर देखती हूं। वह प्रस्ताव का समर्थन करके भी मुन्नू की तबीयत का बहाना लेकर अपने को काट लेती है। अकेले जाना मुझे कुछ अटपटा-सा लगता है। अभी तक तो काम का बहाना लेकर घूम रही थी, पर अब? फिर भी मैं मना नहीं कर पाती। अंदर जाकर तैयार होती हूं। मुझे याद आता है, निशीथ को नीला रंग बहुत पसंद था, मैं नीली साड़ी ही पहनती हूं। बड़े चाव और सतर्कता से अपना प्रसाधन करती हूं, और बार-बार अपने को टोकती जाती हूं- किसको रिझाने के लिए यह सब हो रहा है? **क्या** यह निरा पागलपन नहीं है?

सीढ़ियों पर निशीथ हल्की-सी मुस्कुराहट के साथ कहता है, 'इस साड़ी में तुम बहुत सुंदर लग रही हो।'

मेरा चेहरा तमतमा जाता है, कनपटियां सुर्ख हो जाती हैं। मैं चुपचाप ही इस वा**क्य** के लिए तैयार नहीं थी। यह सदा चुप रहनेवाला निशीथ बोला भी तो ऐसी बात।

मुझे ऐसी बातें सुनने की जरा भी आदत नहीं है। संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता हैं, न ऐसी बातें करता है, जबकि उसे पूरा अधिकार है। और यह बिना अधिकार ऐसी बातें करे?

पर जाने क्या है कि मैं उस पर नाराज नहीं हो पाती हूं, बल्कि एक पुलकमय सिहरन महसूस करती हूं। सच, संजय के मुंह से ऐसा वाक्य सुनने को मेरा मन तरसता रहता है, पर उसने कभी ऐसी बात नहीं की। पिछले ढाई साल से मैं संजय के साथ रह रही हूं। रोज ही शाम को हम घूमने जाते हैं। कितनी ही बार मैंने श्रृंगार किया, अच्छे कपड़े पहने, पर प्रशंसा का एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं सुना। इन बातों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता, यह देखकर भी जैसे यह सब नहीं देखपाता। इस वाक्य को सुनने के लिए तरसता हुआ मेरा मन जैसे रस से नहा जाता है। पर निशीथ ने यह बात क्यों कही? उसे क्या अधिकार है?

क्या सचमुच ही उसे अधिकार नहीं है? नहीं है?

जाने कैसी मजबूरी है, कैसी विवशता है कि मैं इस बात का जवाब नहीं दे पाती हूं। निश्चयात्मक दृढ़ता से नहीं कह पाती कि साथ चलते इस व्यक्ति को सचमुच ही मेरे विषय में ऐसी अवांछित बात करने का कोई अधिकार नहीं है।

हम दोनों टैक्सी में बैठते हैं। मैं सोचती हूं, आज मैं इसे संजय की बात बता दूंगी।

'स्काई-रूम!' निशीथ टैक्सीवाले को आदेश देता है।

'टुन' की घंटी के साथ मीटर डाउन होता है और टैक्सी हवा से बाते करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा है, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी टैक्सी रुके, तो हमारा स्पर्श न हो। हवा के झोंके से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोदी में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं है। मुझे लगता है, यह रेशमी, सुवासित पल्लू उसके तन-मन को रस से भिगो रहाहै,यह स्पर्श उसे पुलकित कर रहा है, मैं विजय के अकथनीय आह्लाद से भर जाती हूं।

आज भी मैं संजय की बात नहीं कह पाती। चाहकर भी नहीं कह पाती। अपनी इस विवशता पर मुझे खीज भी आती है, पर मेरा मुंह है कि खुलता ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं जैसे कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही होऊं,पर फिर भी मैं कुछ नहीं कह सकी।

यह निशीथ कुछ बोलता क्यों नहीं? उसका यों कोने में दुबककर निर्विकार भाव से बैठे रहना मुझे कतई अच्छा नहीं लगता। एकाएक ही मुझे संजय की याद आने लगती है। इस समय वह यहा होता तो उसका हाथ मेरी कमर में लिपटा होता। यों सड़क पर ऐसी हरकतें मुझे स्वयं पसंद नहीं, पर जाने क्यों, किसी की बाहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूं कि जब निशीथ बगल में बैठा हो, उस समय ऐसी इच्छा करना, या ऐसी बात सोचना भी कितना

अनुचित है। पर मैं **क्य**ा करूं? जितनी द्रुतगति से टै**क्स**ी चली जा रही है, मुझे लगता है, उतनी ही द्रुतगति से मैं भी बही जा रही हूं, अनुचित अवांछित दिशाओं की ओर।

टै**क्स**ी झटका खाकर रुकती है तो मेरी चेतना लौटती है। मैं जल्दी से दाहिनी ओर का फाटक खोलकर कुछ इस हड़बड़ी से नीचे उतर पड़ती हूं, मानों अंदर निशीथ मेरे साथ कोई बदतमीजी कर रहा हो।

'अजी, इधर से उतरना चाहिए कभी?' टै**क्स**ीवाला कहता है। मुझे अपनी गलती की भान होता है। उधर निशीथ खड़ा है, इधर में, बीच में टै**क्स**ी!

पैसे लेकर टे**क्स**ी चली जाती है तो हम दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने हो जाते हैं। एकाएक ही मुझे खयाल आता है कि टे**क्स**ी के पैसे तो मुझे ही देने चाहिए थे। पर अब **क्य**ा हो सकता था! चुपचाप हम दोनों अंदर जाते हैं। आस-पास बहुत कुछ है, चहल-पहल, रौशनी, रौनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व ही मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नजरों से ऐसे बचाकर चलती हूं, मानो मैंने कोई अपराध कर डाला हो, और कोई मुझे पकड़ न ले।

क्या सचमुच ही मुझसे कोई अपराध हो गया है?

आमने-सामने हम दोनों बैठ जाते हैं। मैं होस्ट हूं, फिर भी उसका पार्ट वही अदाकर रहा है। वही ऑर्डर देता है। बाहर की हलचल और उससे अधिक मन की हलचल में मैं अपनो को खोया-खोया-सा महसूस करती हूं।

हम दोनों के सामने बैरा कोल्ड-कॉफी के गिलास और खाने का कुछ सामान रख जाता है। मुझे बार-बार लगता है कि निशीथ कुछ कहना चाह रहा है। मैं उसके होंठों की धड़कन तक महसूस करती हूं। वह जल्दी से कॉफी का स्ट्रॉ मुंह से लगा लेता है।

मूर्ख कहीं का! वह सोचता है, मैं बैवकूफ हूं। मैं अच्छी तरह जानती हूं कि इस समय वह **क्य**ा सोच रहा है।

तीन दिन साथ रहकर भी हमने उस प्रसंग को नहीं छोड़ा। शायद नौकरी की बात ही हमारे दिमागों पर छाई हुई थी। पर आज, आज अवश्य ही वह वात आएगी! न आए, यह कितना अस्वाभाविक है! पर नहीं, स्वाभाविक शायद यही है। तीन साल पहले जो अध्याय सदा के लिए बंद हो गया, उसे उलट कर देखने का साहस शायद हम दोनों में से किसी में नही है। जो संबंध टूट गए, टूट गए। अब उनपर कौन बात करे? मैं तो कभी नहीं करूंगी। पर उसे तो करना चाहिए। तोड़ उसने था, बात भी वही आरंभ करे। मैं **क्यों** करूं और मुझे **क्य**ा पड़ी है? मैं तो जल्दी संजय से विवाह करनेवाली हूं। **क्यों** नहीं मैं इसे अभी संजय की बात बता देती? पर जाने कैसी

विवशता है, जाने कैसा मोह है कि मैं मुंह नहीं खोल पाती। एकाएक मुझे लगता है जैसे उसने कुछ कहा–

'आपने कुछ कहा?'

'नहीं तो!'

मैं खिसिया जाती हूं।

फिर वही मौन! खाने में मेरा जरा भी मन नहीं लग रहा है, पर यंत्रचालित-सी मैं खा रही हूं। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रॉ पकड़े हुए उंगलियां कांप रही हैं। मैं जानती हूं, वह पूछना चाहता है, 'दीपा, तुमने मुझे माफ तो कर दिया न?'

वह पूछ ही क्यों नहीं लेत? मान लो, यदि पूछ ही ले, तो क्या मैं कह सकूंगी कि मैं तुम्हें जिंदगी-भर माफ नहीं कर सकती, मैं तुमसे नफरत करती हूं, मैं तुम्हारे साथ घूम-फिर ली, या कॉफी पी ली, तो यह मत समझो कि मैं तुम्हारे विश्वासघात की बातको भूल गई हूं?

और एकोक ही पिछला सब कुछ मेरी आंखों के आगे तैरने लगता है। पर यह क्या? असह्य अपमानजनित पीड़ा, क्रोध और कटुता क्यों नहीं याद आती? मेरे सामने तो पटना में गुजारी सुहानी संध्याओं और चांदनी रातों के वे चित्र उभरकर आते हैं, जब घंटों समीप बैठ, मौन भाव से हम एक-दूसरे को निहारा करते थे। बिना स्पर्श किए भी जाने कैसी मादकता तन-मन को विभोर रहती थी, जाने कैसी तन्मयता में हम डूबे रहते थे। एक विचित्र-सी, स्वप्निल दुनिया में! मैं कुछ बोलना भी चाहती तो वह मेरे मुंह पर उंगली रखकर कहता, 'आत्मीयता के ये क्षण अनकहे ही रहने दो, दीपा!'

आज भी तो हम मौन ही हैं, एक-दूसरे के निकट ही हैं। क्या आज भी हम आत्मीयता के उन्हीं क्षणों में गुजर रहे है? मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर चीख पड़ना चाहती हूं नहीं! नहीं! नहीं! पर कॉफी सिप करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर पाती। मेरा यह विरोध हृदय की न जाने कौन-सी अतल गहराइयों में डूब जाता है।

निशीथ मुझे बिल नहीं देने देता। एक विचित्र-सी भावना मेरे मन में उठती है कि छीना-झपटी में किसी तरह मेरा हाथ इसके हाथ से छू जाए! मैं अपने स्पर्श से उसके मन के तारों को झनझना देना चाहती हूं। पर वैसा अवसर नहीं आता। बिल वही देता है, मुझसे तो विरोध भी नहीं किया जाता।

मन में प्रचंड तूफान! पर फिर भी निर्विकार भाव से मैं टैक्सी में आकर बैठती हूं फिर वही मौन, वही दूरी। पर जाने क्या है कि मुझे लगता है कि निशीथ मेरे बहुत निकट आ गया है, बहुत

ही निकट! बार-बार मेरा मन करता है कि **क्यों** नहीं निशीथ मेरा हाथ पकड़ लेता, **क्यों** नहीं मेरे कंधे पर हाथ रख देता? मैं जरा भी बुरा नहीं मानूंगी, जरा भी नहीं! पर वह कुछ भी नहीं करता।

सोते समय रोज की तरह मैं आज भी संजय का ध्यान करते हुए सोना चाहती हूं पर निशीथ हैकि बार-बार संजय की आकृति को हटाकर स्वयं आ खड़ा होता है।

कलकत्ता

अपनी मजबूरी पर खीज-खीज जाती हूं। आज कितना अच्छा मौका था सारी बात बता देने का! पर मैं जाने कहां भटकी थी कि कुछ भी नहीं बता पाई?

शाम को मुझे निशीथ अपने साथ 'लेक' ले गया। पानी के किनारे हम घास पर बैठ गए। कुछ दूर पर काफी भीड़-भाड़ औरचहल-पहल थी, पर यह स्थान अपेक्षाकृत शांत था। सामने लेक के पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ रही थी। चारों ओर के वातावरण का कुछ बिचित्र-सा भाव मन पर पड़ रहा था।

'अब तो तुम यहां आ जाओगी!' मेरी ओर देखकर उसने कहा।

'हां!'

'नौकरी के बाद **क्य**ा इरादा है?'

मैने देखा, उसकी आंखो में कुछ जानने की आतुरता फैलती जा रही है, शायद कुछ कहने की भी। मुझसे कुछ जानकर वह अपनी बात कहेगा।

'कुछ नहीं!' जाने **क्यों** मैं यह कह गई। कोई है जो मुझे कचोटे डाल रहा है। **क्यों** नहीं मैं बता देती कि नौकरी के बाद मैं संजय से विवाह करूंगी, मैं संजय से प्रेम करती हूं, वह मुझसे प्रेम करता है? वह बहुत अच्छा है, बहुत ही! वह मुझे तु**म्हा**री तरह धोखा नहीं देगा, पर मैं कुछ भी तो नहीं कह पाती। अपनी इस बेबसी पर मेरी आंखें छलछला आती हैं। मैं दूसरी ओर मुंह फेर लेती हूं।

'तु**म्ह**ारे यहां आने से मैं बहुत खुश हूं!'

मेरी सांस जहं-की-तहां रुक जाती है आगे के श**ब्द** सुनने के लिए, पर श**ब्द** नहीं आते। बड़ी कातर, करुणाा और यचना-भरी दृष्टि से मैं उसे देखती हूं, मानो कह रही होऊं कि तुम कह **क्यों** नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो,तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है,उसे भुलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो? कह दो, निशीथ, कह दो! यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है! मैं बुरा नहींम मानूंगी, जरा भी बुरा नहीं मानूंगी। मान ही कैसे सकती हूं निशीथ! इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तु**म्हें** प्यार करती हूं- शायद नहीं, सचमुच ही मैं तु**म्हें** प्यार करती हूं।

मैं जानती हूं- तुम कुछ नहीं कहोगे, सदा से ही मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिए मैं तुम्हारी तरफ देखती रहती हूं। पर तम्हारी नजर तो लेक के पानी पर जमी हुई है शांत, मौन!

आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जाएं पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहों, पर मैं जानती हूं, तुम आज भी मुझे प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे संबंध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है! और मैं?

लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देने क सहस मुझमें नहीं है। मुझे डर है कि जिस आधार पर मैं तुमसे नफरत करती थी, उसी आधार पर कहीं मुझे अपने से नफरत न करनी पड़े।

लगता है, रात आधी से अधिक ढल गई है।

कानपुर

मन में उत्कट अभिलाषा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना। इरा आई थी, पर गाड़ी पर बिठाकर ही चली गई, या कहूं कि मैंने जबर्दस्ती ही उसे भेज दिया। मैं जानती थी कि लाख मना करने पर भी निशीथ आएगा और विदा के अंतिम क्षणों में मैं उसके साथ अकेली ही रहना चाहती थी। मन में एक दबी-सी आशा थी कि चलते समय ही शायद वह कुछ कह दे। गाड़ी चलने में जब दर मिनट रह गए तो देखा, बड़ी व्यग्रता से डिब्बों में झांकता-झांकता निशीथ आ रहा था। पागल! उसे इतना तो समझना चाहिए कि उसी प्रतीक्षा में मैं यहां बाहर खड़ी हूं!

मैं दौड़करुसके पास जाती हूं, 'आप क्यों आए?' पर मुझे उसका आना बड़ा अच्छा लगता है! वह बहुत थका हुआ लग रहा है। शायद सारा दिन बहुत व्यस्त रहा और दौड़ता-दौड़ता मुझे सी-ऑफ करने यहां आ पहूंचा। मन करता है कुछ ऐसाकरूं, जिससे इसकी सारी थकान दूर हो जाए। पर क्या करूं? हम डिब्बे के पास आ जाते हैं।

'जगह अच्छी मिल गई?' वह अंदर झांकते हुए पूछता है।

'हां।'

'पानी-वानी तो है?'

'है।'

'बिस्तर फैला लिया?'

मैं खीज पड़ती हूं। वह शायद समझ जाता है, सो चुप ह जाता है। हम दोनों एक क्षण को एक-दूसरे की ओर देखते हैं। मैं उसकी आंखों में विचित्र-सी छायाएं देखती हूं, मानो कुछ है, जो

उसके मन में घुट रहा है, उसे मथ रहा है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वह क्यों नहीं कह देता? क्यों नहीं अपने मन की इस घुटन को हल्का कर लेता?

'आज भीड़ विशेष नहीं है,' चारों ओर नजर डालकर वह कहता है।

मैं भी एक बार चारों ओर देख लेती हूं, पर नजर मेरी बार-बार घड़ी पर ही जा रही है। जैसे-जैसे समय सरक रहा है, मेरा मन किसी गहरे अवसाद में डूब रहा है। मुझे कभी उस पर या आती है तो कभी खीज। गाड़ी चलने में केवल तीन मिनट बाकी रह गए हैं। एक बार फिर हमारी नजरें मिलती हैं।

'ऊपर चढ़ जाओ, अब गाड़ी चलनेवाली है।'

बड़ी असहाय-सी नजर से मैं उसे देखती हूं मानो कह रही होऊं, तुम्हीं चढ़ा दो। और फिर धीरे-धीरे चढ़ जाती हूं। दरवाजे पर मैं खड़ी हूं और वह नीचे प्लेटफॉर्म पर।

'जाकर पहुंचने की खबर देना। जैसे ही मुझे इधर कुछ निश्चित रूप से मालूम होगा, तुम्हें सूचना दूंगा।'

मैं कुछ बोलती नहीं, बस उसे देखती रहती हूं।

सीटी, हरी झंडी, फिर सीटी। मेरी आंखें छलछला आती हैं।

गाड़ी एक हल्के-से झटके के साथ सरकने लगती हैं। वह गाड़ी के साथ कदम आगे बढ़ाता है और मेरे हाथ पर धीरे-से अपना हाथ रख देता है। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है। मन करता है चिल्ला पड़ूं- मैं सब समझ गई, निशीथ, सब समझ गई! जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाए, वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया। विश्वास करो, यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूं, केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी! पर मैं कुछ कह नहीं पाती। बस, साथ चलते निथीथ को देखती-भर रहती हूं। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को जरा-सा दबाकर छोड़ देता है। मेरी छलछलाई आंखें मुंद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब कुछ झूठ है, अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है।

आंसू-भरी आंखों से मैं प्लेटफॉर्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूं। सारी आकृतियां धुंधली-सी दिखाई देती हैं। असंख्य हिलते हुए हाथों के बीच निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, ढूंढने का असफल-सा प्रयास करती हूं। गाड़ी प्लेटफॉर्म को पार कर जाती है, और दूर-दूर तक कलकत्ता की जगमगाती बत्तियां दिखाई देती हैं। धीरे-धीरे वे सब दूर हो जाती हैं, पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है, यह दैत्याकार ट्रेन मुझे मेरे घर से कहीं दूर ले जा रही है-अनदेखी, अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए।

बोझिल मन से मैं अपने फैलाए हुए बिस्तर पर लेट जाती हूं। आंखें बंद करते ही सबसे पहले मेरे सामने संजय का चित्र उभरता है कानपुर जाकर मैं उसे €या कहूंगी? इतने दिनों तक उसे छलती आई, अपने को छलती आई, पर अब नहीं। मैं उसे सारी बात समझा दूंगी। कहूंगी, संजय जिस संबंध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुई थी, इसका अहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव संदिग्ध रहते थे, पर तब मैं तुम्हें ईर्ष्यालू समझती थी, आज स्वीकार करती हूं कि तुम जीते, मैं हारी! सच मानना संजय, ढाई साल मैं स्वयं भ्रम में थी और तुम्हें भी भ्रम में डाल रखा था, पर आज भ्रम के, छलना के सारे ही जाल छिन्न-भिन्न हो गए हैं। मैं आज भी निशीथ को प्यार करती हूं, और यह जानने के बदा, एद दिन भी तम्हारे साथ और छल करने का दुस्साहस कैसे करूं? आज पहली बार मैंने अपने संबंधों का विश्लेषण किया, तो जैसे सब कुछ ही स्पष्ट हो गया और जब मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट हो गया, तो तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊंगी, तुम्हारे सामने मैं चाहूं तो भी झूठ नहीं बोल सकती।

आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे वीरान नजर आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श से मुझे जिला दिया, मेरा मुरझाया, मरा मन हरा हो उठा, मैं कृतकृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूं। पर प्यार की बेसुध घड़ियां, वे विभोर क्षण, तन्मयता के वे पल, जहां शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आए। तुम्हीं बताओ, आए कभी। तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुंबनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने की तन-मन की सुध बिसरा देनेवाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया।

सोचती हूं, निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट शून्यता आ गई थी, एक खोखलापन आ गया था, तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे, मैं गलती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी।

मुझे क्षमा कर दो संजय और लौट जाओ। तुम्हें मुझ जैसी अनेक दीपाएं मिल जाएंगी, जो सचमुच ही तुम्हें प्रियतम की तरह प्यार करेंगी। आज एक बात अच्छी तरह जान गई हूं कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है, बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास-मात्र होता है।

इसी तरह की असं□य बातें मेरे दिमाग में आती हैं, जो मैं संजय से कहूंगी। कह सकूंगी यब सब? लेकिन कहना तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कर सकती। मन से

किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूं? छी:! नहीं जानती, यही सब सोचते-सोचते मुझे कब नींद आ गई।

लौटकर अपना कमरा खोलती हूं, तो देखती हूं, सब कुछ ज्यों-का-त्यों है, सिर्फ फूलदान के रजनीगंधा मुरझा गए हैं। कुछ पूल झरकर जमीन पर इधर-उधर भी बिखर गए हैं।

आगे बढ़ती हूं तो जमीन पर पड़ा एक लिफाफा दिखाई देता है। संजय की लिखाई है, खोला तो छोटा-सा पत्र था-

दीपा,

तुमने तो कलकत्ता जाकर कोई सूचना ही नहीं दी। मैं आज ऑफिस के काम से कटक जा रहा हूं। पांच-छः दिन में लौट आऊंगा। तब तक तुम आ ही जाओगी। जानने को उत्सुक हूं कि कलकत्ता में **क्या** हुआ?

तु**म्ह**ारा

संजय

एक लंबा नि:श्वास निकल जाता है। लगता है, एक बड़ा बोझ हट गया। इस अवधि में तो मैं अपने को अच्छी तरह तैयार कर लूंगी। नहा-धोकर सबसे पहले मैं निशीथ को पत्र लिखती हूं। उसकी उपस्थिति से जो हिचक मेरे होंठ बंद किए हुए थी, दूर रहकर वह अपने-आप ही टूट जाती है। मैं स्पष्ट श**ब्दों** में लिख देती हूं कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब कुछ समझ गई हूं। साथ ही यह भी लिख देती हूं कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज भी, पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध बह गया। इस अपनत्व में क्रोध भला टिक भी कैसे पाता? लौटी हूं, तब से न जाने कैसी संगीनी और मादकता मेरी आंखों के आगे छाई है।

एक खूबसूरत-से लिफाफे में उसे बंद करके मैं स्वयं पोष्ट करने जाती हूं।

रात में सोती हूं तो अनायास ही मेरी नजर सूने फूलदान पर जाती है। मैं करवट बदलकर सो जाती हूं।

कानपुर

आज निशीथ को पत्र लिखे पांचवां दिन है। मैं तो कल ही उसके पत्र की राह देख रही थी। पर आज भी दोनों डाकें निकल गई। जाने कैसा सूना-सूना, अनमना-अनमना लगता रहा सारा दिन! किसी भी तो काम में जी नहीं लगता।**क्यों** नहीं लौटती डाक से ही उत्तर दे दिया उसने? समझ में नहीं आता, कैसे समय गुजारू!

मैं बाहर बालकनी में जाकर खड़ी हो जाती हूं। एकाएक खयाल आता है, पिछले ढाई सालों से करीब इसी समय, यहीं खड़े होकर मैंने संजय की प्रतीक्षा की है। **क्या** आज मैं संजय की

प्रतीक्षा कर रही हूं? या मैं निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा कर रही हूं? शायद किसी की नहीं, **क्यों**कि जानती हूं कि दोनों में से कोई भी नहीं आएगा। फिर?

निरुद्देश्य-सी कमरे में लौट पड़ती हूं। शाम का समय मुझसे घर में नहीं काटा जाता। रोज हीतो संजय के साथ घूमने निकल जाया करती थी। लगता है, यहीं बैठी रही तो दम ही घुट जाएगा। कमरा बंद करके मैं अपने को धकेलती-सी सड़क पर ले आती हूं। शाम का धुंधलका मन के बोझ को और भी बढ़ा देता है। कहां जाऊं? लगता है, जैसे मेरी राहें भटक गई हैं, मंजिल खो गई है। मैं स्वयं नहीं जानती, आखिर मुझेजाना कहा है। फिर भी निरुद्देश्य-सी चलती रहती हूं। पर आखिर कब तक यों भटकती रहूं? हारकर लौट पड़ती हूं।

आते ही मेहता साहब की बच्ची तार का एक लिफाफा देती है।

धड़कते दिल से मैं उसे खोलती हूं। इरा का तार था- 'नियु**क्ति** हो गई। बधाई।'

इतनी बड़ी खुशखबरी पाकर भी जाने **क्या** है कि खुश नहीं हो पाती। यह खबर तो निशीथ भेजनेवाला था। एकाएक ही एक विचार मन में आता है- **क्या** जो कुछ मैं सोच गई, वहनिरा भ्रम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान? नहीं-नहीं! उस स्पर्श को मैं भ्रम कैसे मान लूं, जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था, जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गई थी? लेक पर बिताए उन मधुर क्षणों को भ्रम कैसे मान लूं, जहां उसका मौन ही मुखरित होकर सब कुछ कह गया था? आत्मीयता के वे अनकहे क्षण! तो फिर उसने पत्र **क्यों** नहीं लिखा? **क्या** कल उसका पत्र आएगा? **क्या** आज भी उसे वही हिचक रोके हुए है?

तभी सामने की घड़ी टन्-टन् करके नौ बजाती है। मैं उसे देखती हूं। यह संजय की लाई हुई है। लगता है, जैसे वह घड़ी घंटे सुना-सुनाकर मुझे संजय की याद दिला रही है। फहराते ये हरे पर्दे, यह हरी बुक-रैक, यह टेबल, यह फूलदान, सभी तो संजय के ही लाए हुए हैं। मेज पर रखा यह पेन उसने मुझे साल-गिरह पर लाकर दिया था। अपनी चेतना के इन बिखरे सूत्रों को समेटकर मैं फिर पढ़ने का प्रयास करती हूं, पर पढ़ नहीं पाती। हारकर मैं पलंग पर लेट जाती हूं।

सामने के फूलदान का सूनापन मेरे मन के सूनेपन को और अधिक बढ़ा देता है। मैं कसकर आंखें मूंद लेती हूं। एक बार फिर मेरी आंखों के आगे लेक का स्वच्छ, नीला जल उभर आता है, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थी। उस जल की ओर देखते हुए निशीथ की आकृति उभरकर आती हैं। वह लाख जल की ओर देखे पर चहेरे पर अंकित उसके मन की हलचल को मैं आज भी, इतनी दूर रहकर भी महसूस करती हूं। कुछ न कह पाने की मजबूरी, उसकी विवशता, उसकी घुटन आज भी मेरे सामने साकार हो उठती है। धीरे-धीरे लेक के पानी का विस्तार सिमटता जाता है, और एक छोटी-सी राइटिंग टेबल में बदल जाता है, और मैं देखती हूं कि एक हाथ में पेन लिए और दूसरे हाथ की उंगलियों को बालों में उलझाए निशीथ बैठा है वही मजबूरी, वही विवशता,

वही घुटन लिए। वह चाहता है, पर जैसे लिख नहीं पाता। वह कोशिश करता है, पर उसका हाथ बस कांपकर रह जाता है। ओह! लगता है, उसकी घुटन मेरा दम घोंटकर रख देकी। मैं एकाएक ही आंखें खोल देती हूं। वही फूलदान,पर्दे, मेज, घड़ी!

आखिर आज निशीथ का पत्र आ गया। धड़कते दिलसे मैंने उसे खोला। इतना छोटा-सा पत्र!

प्रिय दीपा,

तुम अच्छी तरह पहुंच गई, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

त**म्हे** अपनी नियु**क्ति** का तार तो मिल ही गया होगा। मैंने कल ही इरा जी को फोन करके सूचना दे दी थी, और उन्होंने बताया था कि तार दे देंगी। ऑफिस की ओर से भी सूचना मिल जाएगी।

इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच, मैं बहुत खुश हूं, कि तु**म्हें** यह काम मिल गया! मेहनत सफल हो गई। शेष फिर।

शुभेच्छु

निशीथ

बस? धीरे-धीरे पत्र के सारे श**ब्द** आंखों के आगे लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल, 'शेष फिर!'

तो अभी उसके पास 'कुछ' लिखने को शेष है, **क्यों** नहीं लिख दिया उसने अभी?**क्या** लिखेगा वह?

'दीपा'

मैं मुड़कर दरवाजे की ओर देखती हूं। रजनीगंधा के ढेर सारे फूल लिए मुस्कुराता-सा संजय खड़ा है। एक क्षण मैं संज्ञा-शून्य-सी उसे इस तरह देखती हूं, मानो पहचानने की कोशिश कर रही हूं। वह आगे बढ़ता है, तो मेरी खोई हुई चेतना लौटती है, और विक्षिप्त-सी दौड़कर उससे लिपट जाती हूं।

'**क्या** हो गया है तु**म्हे**, पागल हो गई हो **क्या**?'

'तुम कहां चले गए थे संजय?' और मेरा स्वर टूट जाता है। अनायास ही आंखों से आंसू बह चलते हैं।

'**क्या** हो गया? कलकत्ता का काम नहीं मिला **क्या**। मारों गोली काम को। तुम इतनी परेशान **क्यों** हो रही हो उसके लिए?'

पर मुझसे कुछ नहीं बोला जाता। बस, मेरी बांहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगंधा की महद धीरे-धीरे मेरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के

अधरों का स्पर्श महसूस करती हूं, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था।

और हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बंधे रहते हैं-चुम्बित, प्रति-चुम्बित।

4.2.3 मन्नू भंडारी की कहानी कला की विशेषताएं

मन्नू भंडारी की कहानी की विशेषताओं के विभिन्न तत्वों के द्वारा जाना जा सकता है-

कथानक

कथानक की दृष्टि से मन्नू भंडारी का कथा-साहित्य सामाजिक ही अधिक रहा है। सामाजिक परिवेश की कहानियों में मन्नू भंडारी को काफी सफलता मिली हैं। उनकी कहानी के केंद्र में प्राय: नारी की ही प्रमुख भूमिका रही है। उन्होंने नारी जीवन को काफी गहरी दृष्टि से परखा है। उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। कहीं अनेक नारी पात्र समझौता करते दीखते हैं तो कहीं अड़ियल रवैया भी अपनाते हैं। उनका स्वाभिमान भी अपनी जगह रहता है। भारतीय जीवन की कई पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं को लेकर उन्होंने अद्‌भूत कहानियां लिखी हैं। उनके कथानक वास्तविकता के बहुत ही समीप होते हैं तथा यथार्थ का पुट लिए दिखते हैं।

चरित्र-चित्रण

मन्नू भंडारी की कहानियों की सबसे सशक्तविशेषता नाही पात्रों के चरित्रों को बड़ी चतुराई से गढ़ना रही है। इनकी कहानियां चरित्र प्रधान रही हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना भी उन्हें खूब आता है। उनके चरित्र चित्रण में कल्पना कम, अनुभूतियां अधिक होती है। उन्होंने नारी और पुरुष मन के भी गूढ़ रहस्यों को अपनी कहानी के चरित्रों में काफी गहराई और गंभीरतापूर्वक टटोला है, परखा है और बड़ी ही सच्चाई के साथ उन्हें व्यक्त भी किया है। उनके पात्रों के चरित्रों में अच्छाई और बुराई मिली-जुली रहती है। वे पाठकों को अपनी ओर खींचती हैं। उनके पात्र मध्यमवर्गीय अधिक होते हैं।

कथोपकथन

मन्नू भंडारी की कहानियों के कथोपकथन स्वाभाविक और सजीव लगते हैं। वे देशकाल, परिस्थिति, स्वभाव तथा रुचि के अनुकूल होते हैं। उनके पात्र मर्यादित होते हैं किंतु मानवीय गुण और अवगूणों के शिकार भी होते रहते हैं। उनके कथोपकथन में जिज्ञासा और तारतम्यता निरंतर बनी रहती है।

देशकाल, वातावरण योजना

मन्नू भंडारी ने अपनी कहानियों में परिस्थितियों और वातावरण का चित्रण बड़ी ही संजीदगी से किया है। उनके सभी वर्णन सजीव और कथानक के विकास में सहायक होते हैं। घटनाओं के वर्णन भी वास्तविकता लिए होते हैं। इसी प्रकार घटनाओं की पृष्ठभूमि के चित्रण में, पात्रों के चरित्र को प्रस्तुत करने में, मन्नू भंडारी को महारथ हासिल है।

भाषा-शैली

मन्नू भंडारी की कहानियों में भाषा-शैली पात्रों के चरित्रों को पूरा संबल प्रदान करती है। स्वाभाविक भाषा का प्रयोग होता है। उनकी भाषा आम आदमी की भाषा होती है। शब्दों का भंडार उनके पास प्रचुर मात्रा में है। भाषा के द्वारा हीवे प्रत्येक प्रकार के भाव को सुस्पष्ट करने में सफल रहती है। उनकी भाषा सरल,सजीव और पात्रों के चरित्रों के अनुरूप ही होती है।

इसी प्रकार मन्नु भंडारी की कहानियों के लेखन की शैली भी अनेक रूपों में मिलती हैं। वह वर्णनात्मक, नाटकीय और हास्य का पुट लिए भी होती है। उनका शिल्प विधान भी देखने योग्य रहता है।

उद्देश्य

मन्नू भंडारी का कहानी-संसार उद्देश्यपूर्ण है। वह किसी-न-किसी निश्चित उद्देश्य का प्रतिपादन करता हुआ चलता है। मन्नू भंडारी का अपना जीवन दर्शन है। उनकी अपनी विचारधारा है जो उनकी कहानियों में स्पष्ट रूप से झलकती है। वे जीवन की सच्चाई को जाहिर करने में लगी रहती हैं, वह भी कलात्मक रूप में।

हिंदी कथा-साहित्य में स्थान

मन्नू भंडारी ने कम लिखा है किंतु जिना भी लिखा है वह उनको सुधि लेखकों की श्रेणी में सम्मानीय स्थान दिलाता है।

4.2.4 कहानी क सार

मन्नु भंडारी की कहानी 'यह सच है' मुख्य रूप से ती पात्रों के बीच घूमती रहरी है- दीपा, निशीथ और संजय।

कहानी पटना, कानपुर और कलकत्ता शहरों के बीच यात्रा करती रहती है।

दीपा पटना से कानपुर रिसर्च करने के लिए आयी हुई है। उसे ढाई साल यहां आए हुए हो चुके हैं। यहां वह जिस मकान के कमरे में रहती है उसी मकान के आस-पास संजय भी रहता है। इस ढाई वर्ष के दौरान एक अकेली, शहर में रह रही लड़की को संजय हर प्रकार सहारा देता है। उसके हर अच्छे-बुरे में काम आता है। इस प्रकार वह दीपा का विश्वास पूरी तरह जीत लेता है। दीपा भी उस पर पूरी तरह निर्भर रहने लगी है। यही नहीं वह तो उसको अपनी जीवन साथी बनाने का निश्चय भी कर बैठी है।

दीपा की एक सहेली कलकत्ता में अपने पति और बच्चे के साथ रहती है। कलकत्ते में ही निशीथ भी रहता है। यह निशीथ वही है जिसने दीपा के साथ विवाह पक्का करके भी अकारण विवाह तोड़कर उसके सारे सपने चूर-चूर कर दिए थे। अत: दीपा उससे नफरत करती है किंतु दूसरी ओर उसे अपना पहला प्यार भी मानती है लेकिन अब मुद्दतों से उनके बीच कोई संपर्क वाली बात नहीं है। हां, दीपा को यह पता जरूर है कि निशीथ कलकत्ता में ही काम करता है।

दीपा और निशीथ के प्रेम-संबंध और विवाह वाली बात को संजय भी भली-भांति जानता है। इसलिए वह जब-तब उसे चिढ़ाता है, मजाक करता रहता है, किंतु वह निशीथ को लेकर अंदर ही अंदर सशंकित भी रहता है। यह बात दीपा भी बखुबी समझती है।

इसा के कहने से दीपा कलकत्ते में सर्विस के लिए आवेदन भेजती है। दीपा का साक्षात्कार-पत्र तीन सौ रुपये की नौकरी के लिए कलकत्ते से आ जाता है। वह कलकत्ता अकेले जाते हुए डरती है, इसलिए वह संजय को साथ ले जाना चाहती है, किंतु संजय को ऑफिस से अवकाश नहीं मिल पाता। सो, दीपा अपने आने और स्टेशन पर आकर उसे लेने की खबर इरा को दे देती है और नियत तिथि और समय पर हावड़ा स्टेशन पर पहुंच जाती है। इरा जब उसे वहां नहीं दिखलाई देती तब वह कुली से अपना सामान उठवाकर जैसे ही चलती है, तभी पीछे से इरा उसका स्पर्श करती है। दोनों टैक्सी से घर आ जाती हैं। शाम को इरा दीपा को कॉफी हाऊस ले जाती है। तभी वही उनको निशीथ भी यकायक मिल जाता है। दीपा उसे नजरअंदाज करना चाहती है किंतु ऐसा हो नहीं पाता। एक-दूसरेका आमना-सामना हो ही जाता है। इरा उसको अपने घर आमंत्रित कर लेती है। वह नियत समय पर पहुंच जाता है। जब उसे दीपा के साक्षात्कार की बात ज्ञात होती है तो वह उसके लिए पूरी कोशिश करने में लग जाता है और दीपा को विश्वास दिलाता है कि यह नौकरी उसे अवश्य ही मिली समझो। फिर निशीथऔरदीपा घूमने जाते हैं। वह उसे 'स्काई-रूम' रेष्टोरेंट में ले जाता है। वहां जलपान के बीच बातें भी होती हैं। उसके व्यवहार से दीपा समझ जाती है कि निशीथ के मन में अभी भी उसके लिए कुछ है या फिर दीपा के साथ किए गए अपमान का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से ही वह यह सब कर रहा है। इतना जानकर दीपा चाहती है कि वह उसे बतला दे कि अब वह संजय के साथ शीघ्र ही शादी करने जा रही है। उसके साथ उसका जो संबंध था वह एक छल था, भ्रम था, झूठ था।

दीपा का इंटरव्यू हो जाता है। फिर भी वह नौकरी मिल जाने के प्रति ज्यादा विश्वस्त नहीं हौ, किंतु निशीथ उसे पूरा आश्वासन देता है। निशीथ कहता है कि आवश्यक मीटिंगके कारण वह उसे स्टेशन छोड़ने नहीं आ पाएगा। सो, स्टेशन छोड़ने इरा आई थी किंतु उसे गाड़ी छूटने से पलहे ही दीपा ने भेज दिया था। गाड़ी छूटने से 10 मिनिट पहले निशीथ प्लेटफॉर्म पर पहुंच गया था। उसके आने की दीपा उम्मीद भी थी, इसीलिए वह डिब्बें से बाहर खड़ी थी। वह उससे यात्रा संबंधी बातें पूछता है। आत्मीयता दिखलाता है। यह देखकर दीपा को उस पर दया भी आती है, तो कभी कीझ भी आती है। जब गाड़ीचलने में तीन मिनट रह जाते हैं, तब निशीथ दीपा को डिब्बें में जाकर बैठ जाने को कहता है। दोनों एक-दूसरे को देखते हैं। गाड़ी अपने नियत समय पर जब प्लेटफॉर्म को छोड़ने लगती हैतब निशीथ दीपा के हाथ पर धीरे से अपना हाथ रख देता है। इससे दीपा का रोम-रोम सिहर उठता है। वह बिखरने लगती है और धीरे-धीरे गाड़ी गति पकड़ने लगती है। दोनों के बीच दूरियां बढ़ने लगती हैं।

रास्ते भर दीपा के मन में संजय को लेकर ऊहोह की स्थिति चलचित्र की भांति चलती रहती है। वह सोचती है कि उसके मन में संजय के प्रति जो भावना है, वह प्यार की नहीं है केवल कृतज्ञता की है, क्योंकि उसने उसे उस समय सहारा दिया था जब वह अपने पिता और निशीथ को खोकर चूर-चूर हो चुकी थी। उसी कृतज्ञता को वह प्यार समझ बैठी थी। निशीथ के चले जाने के बाद की शून्यता को संजय ने अपने व्यवहार व अपनत्व से पूरी तरह भर दिया था। इसलिए दोनों एक-दूसरे के करीब आ गए थे और यहीं दीपा शायद गलती से उसे अपना प्रियतम समझ बैठी थी, आदि-आदि।

कानपुर आने पर वह अपना कमरा खोलकर सब कुछ यथावत देखती है। केवल रजनीगंधा के फूल मुरझा गए हैं। उनमें से कुछ फूल झड़कर जमीन पर इधर-उधर बिखर गए हैं। कमरेमें दीपा को जमीन पर पड़ा लिफाफा मिलता है। वह खोलकर पढ़ती है। संजय ने लिखा हौ कि वह ऑफिस के कार्य से कटक जा रहा है। उसने पांच-छः दिन में लौटने के बारे में भी लिखा था।

दीपा ने नहा-धोकर तरेताजा होकर निशीथ को अपने कानपुर सकुशल पहुंचने का पत्र लिखा और उसे स्वयं पोष्ट-बॉक्स में जाकर डाल आई।

अब वह निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा करती है। वह बालकनी में खड़े होकर पोस्टमैन को देखती है। काफी देर खड़ी रहने के बाद वह निराश हो अपने कमरे में लौट आती है। तभी मेहता साहब की बच्ची उसे तार का एक लिफाफा दे जाती है। उससे उसे अपनी नियुक्ति होने की खबर मिलती है। फिर भी उसे इसलिए खुशी नहीं होती कि यह खबर तो निशीथ भेजने वालाथा, किंतु तार भेजा है इरा ने। इसी बात को लेकर उसे निशीथ से फिर शिकायत होने लगी थी। वह कल भी उसके पत्र की प्रतीक्षा में मन को लगाए बैठी थी। फिर वह संजय के खयाल में लौट आती हैं। संजय और निशीथ को लेकर उधेड़-बुन करने लगती है।

अगले दिन दीपा को निशीथ का पत्र मिलता है। उसमें उसने लिखा कि कल ही मैंने इरा जी से तुम्हारी नियुक्ति की खबर दे दी थी और तुम्हें भी सूचित करने के लिए कह दिया था। शेष फिर- कहकर निशीथ ने पत्र लिखना बंद कर दिया था।

तभी दीपा ने मुड़कर दरवाजे की ओर देखा तो संजय रजनीगंधा के ढेर सारे फूल लिए खड़ा मुस्करा रहा था। दोनों आपस में एक-दूसरे को देखकर एक हो जाते हैं।

4.2.5 कहानी की समीक्षा

मन्नु भंडारी की कहानियों में जीवन के मूल्यों को छुआ गया है। प्रगतिशील जीवन-दृष्टि से प्रभावित होकर उन्होंने अपने रचना-संसार को युग और समाज की विसंगतियों तथा विषमताओं से जोड़ा है। वे आधुनिकता की सोच को लेकर आगे बढ़ी हैं। नारी के जीवन की घुटन, विवशता, चाह और आह को भी उन्होंने अपनी कहानियों में खूब स्थान दिया है।

कहानी की मूल संवेदना

मन्नू भंडारी की कहानी 'यह सच है' अंतर्द्वंद्व की कहानी है। इसमें मु□य नारी पात्र का दोहरा चरित्र सामने आता है। वह अपने भूत और वर्तमान की भूल-भूलैया में पड़ी रहती है किंतु अंतत: वर्तमान को ही सच मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेती है। नारी मन की संवेदना इस कहानी में अपने चरम पर दिखलाई गई है। उसे एक साहसी लड़की दिखलाया गया है। हालांकि वह सामाजिक परिवेश से भी भयभीत रहती है। बदलते हुए, विघटित होते हुए मानव संबंध और दरकते हुए जीवन इस कहानी की विशेषता बन पड़े हैं।

4.2.6 कहानी कला के तत्व और 'यही सच है'

कहानी के सर्वप्रथम तत्वों के आधार पर कह सकते हैं कि 'यही सच है' कहानी में ये सभी तत्व कमोबेश विद्यमान हैं।

कथावस्तु

जहां तक 'कथावस्तु' की बात है, उसके लिहाज से यह कहानी बिल्कुल सफल है। कहानी मु**ख्य**तया तीन पात्रों के बीच घूमती है- दीपा, संजय और निशीथ। इसी प्रकार तीन शहर इस कहानी में हैं- पटना, कानपुर और कलकत्ता। कहानी शुरू होती है कानपुर से।

पटना से आकर कानपुर में दीपा रिसर्च कर रही है। वही उसे कलकत्ता एक साक्षात्कार में जाना पड़ता है। वहां उसकी सहेली इरा सपरिवार रहती है। हां, वहां निशीथ भी है जिसने दीपा से रिश्ता बनाकर, बिना कोई खास वजह बतलाए खुद ही तोड़ दिया था। उसके बाद मिलना तो नहीं होता, किंतु, दीपा और निशीथ को एक-दूसरे की खबर रहती ही है। उधर संजय कानपुर में दीपा को पूरा सपोर्ट करता है। दीपा उस पर 'डिपेंड' भी रहने लगी है। आखिर, अकेली लड़की का कानपुर जैसे शहर में, कोई तो अपना होना चाहिए- दु:ख, दर्द और सुख को बांटने वाला। इसके लिए दीपा और संजय सहर्ष एक-दूसरे के लिए पूर्ण समर्पित भाव रखते हैं। सहज रूप से रहते हैं। दीपा जब साक्षात्कार के लिए कलकत्ता जाती है, तो वहां निशीथ भी मिलता है जबकि दीपा उससे मिलना नहीं चाहती। किंतु इरा के माध्यम से वह उससे मिलता है। दीपा के पुराने ज**ख्म** हरे हो जाते हैं। निशीथ उसे तीन सौ रुपये की नौकरी के लिए होने वाले साक्षात्कार में पूरा सहयोग और आश्वासन देता है। दीपा वहां से साक्षात्कार के बाद कानपुर लौट जाती है। उसे यहीं आकर अपनी नियु**क्ति** का समाचार तार द्वारा मिलता है। तार इरा ने भेजा। कलकत्ता में निशीथ को पुन: मिलने के बाद दीपा के मन में निशीथ के प्रति जो भाव उठते हैं या जो वह कल्पना करती है वह कहीं नहीं निकलती है। अंतत: दीपा भूत को सच न मानकर, वर्तमानको ही सच मानकर संजय की तरफ झुक जाती हैं।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से दीपा और संजय का चरित्र काफी सूझ-बूझ से रचा गया है। दोनों ही सहज, सरल और सामान्य जीवन जीने के आदी हैं। इरा और निशीथ सह चरित्र बनकर रह गए हैं, किंतु उनका योगदान नकारा नहीं जा सकता।

कथोपकथन

इस दृष्टि से मन्नू भंडारी की यह कहानी पूरे सहज रूप में उभर कर आई है। हां, कहानी में दीपा के संबोधन के कारण भ्रम पैदा हो जाता है कि यह लेखिका की अपनी जिंदगी को छूती हुई कहानी तो नहीं है। सच तो नहीं है।

यह भी कटु सत्य है कि लेखक अपनी रचना में कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहता/रहती ही है। प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, यह बात दूसरी है।

देशकाल और वातावरण

देशकाल और वातावरण कहानी को एक अनिवार्य विश्वास देता है। इस दृष्टि से 'यही सच है' कहानी सफल बन पड़ी है। देशकाल और वातावरण का मन्नू भंडारी ने स्वाभाविक वर्णन किया है।

भाषा शैली

इस कहानी की भाषा सहज, सरल, स्वाभाविक एवं व्यवहारिक है। भाषा पात्रों के मुंह ठूंसी नहीं लगती है। जो भाषा कहानी की होनी चाहिए वही इस कहनी में प्रयोग की गई है। शैली और शिल्प की दृष्टि से भी यह कहानी सहज और सरल ही कही जाएगी। कहानी बनावट से, हर दृष्टि से कोसों दूर हैं।

उद्देश्य

उद्देश्य की दृष्टि से यह कहानी थोड़ी भ्रामक स्थिति पैदा करती है कि इधर तो दीपा पटना से आकर रिसर्च कर रही है और उधर वह नौकरी के लिए कलकत्ता साक्षात्कार देने जा रही है। उसे नौकरी मिल भी जाती है। एक तरफ तो वह संजय से संबंधों की पींगे बढ़ा रही है तो दूसरी तरफ उसके मन में उसके पहले प्यार निशीथ की यादें भी करवटें ले रही हैं। इस प्रकार तीन नावों में एक साथ पांव हैं दीपा की-रिसर्च, नौकरी और विवाह! तो तीन उद्देश्य? और एक अकेली लड़की?

4.2.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं

(1) 'परसों मुझे कलकत्ता जाना है। सच, बड़ा डर लग रहा है! कैसे क्या होगा? मान लो, इंटरव्यू में बहुत नर्वस हो गई तो? संजय को कह रही हूं कि वह भी साथ चले पर उसे ऑफिस से छुट्टी नहीं मिल सकती है। एक तो नया शहर, फिर इंटरव्यू? सच, अपना कोई साथी होता तो बड़ा सहारा मिल जाता। मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूं। यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूं, तो संजय सोचता है मुझ में बड़ी हिम्मत है। पर सच, बड़ा डर लग रहा है।'

संदर्भ

यह गद्यांश मन्नू भंडारी की सुप्रसिद्ध कहानी 'यही सच है' से लिया गया है।

प्रसंग

कानपुर से कलकत्ता। अकेली लड़की! पहली बार रात-दिन का इतना लंबा सफर। दीपा के मन में तरह-तरह की शंकाएं उथल-पुथल मचाए हुए हैं।

व्याख्या

भारतीय लड़की चाहे कितनी भी आधुनिक **क्यों** न हो, मध्यवर्गीय समाज के, परिवार के, उसके संस्कार यकायक उसे जब ऐसी परिस्थिति में डाल देते हैं तब यह सब कुछ सोचना स्वाभाविक हो जाता है **क्यों**कि हमारा जो आज का कुत्सित समाज है वह यह सब सोचने पर विवश कर देता है। ऐसे में वह कोई-न-कोई तो विश्वास भरा सहारा चाहती है, **क्यों**कि परिस्थितिवश यह उसकी अति जरूरी आवश्यकता बन जाती है।

विशेष

पूरा गद्यांश स्वाभाविकता और सहजता से ओत-प्रोत बन पड़ा है। भाषा सहज, सरल और आम बोलचाल की है।

(2) 'आज सवेरे मेरा इंटरव्यू हो गया। मैं शायद नर्वस हो गई थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिए थे, वैसे नहीं दे पायी पर निशीथ ने आकर बतलाया कि मेरा चुना जाना करीब-करीब तय हो गया है। मैं जानती हूं यह सब निशीथ की वजह से ही हुआ।'

संदर्भ

प्रस्तुत गद्यांश मन्नू भंडारी की चर्चित कहानी 'यही सच है' से उद्धृत है।

प्रसंग

निशीथ उसका पहला प्यार भी है। उसने दीपा से पहले विवाह की 'हां' की, परंतु फिर 'ना' कर दी और वह भी बिना किसी ठोस कारण के। अब वह दीपा को नौकरी दिलवाकर अपना प्रायश्चित करने की मंशा रखता है। ऐसा दीपा मानती है तभी तो वह कहती है-

व्याख्या

कभी-कभी, जाने-अनजाने में जब मनुष्य से गलती हो जाती है तो वह उसके लिए प्रायश्चित के अवसर की तलाश में रहता है। निशीथ को ज वह अवसर हाथ लग ही गया। इसलिए उसने पूरे मनोयोग से दीपा की नौकरी लगवाने में स्वयं को झोंक दिया। इसका आभास दीपा को भी इन पंत्यिों में हो जाता है।

विशेष

पूरी पं**क्ति**यां मानवीय वृत्ति के बहुत ही समीप बन पड़ी है। पुनः विश्वास जगाने में सहायक होती प्रतीत होती हैं। कभी-कभी मौन भी कहने की अपेक्षा बहुत कुछ कहनेमें सक्षम होती है।

(3) 'तुम भी एक ही मूर्ख हो! घर से दूर, यहं कमरा लेकर अकेली रहती हो, रिसर्च कर रही हो, दुनिया भर में घूमती-फिरती हो और इंटरव्यू के नाम से डर लगता है। क्यों?' और गाल पर हल्की-सी चपत जमा देता है। फिर समझाता हुआ कहता है, 'और देखो, आजकल ये इंटरव्यू आदि तो सब दिखावा-मात्र होते हैं। वहां किसी जान-पहचान वाले से इन्फ्लुएंस डलवाना जाकर।'

संदर्भ

उद्धृत पंक्तियां कहानी लेखिका मन्नू भंडारी की चर्चित कहानी 'यही सच है' से ली गई है।

प्रसंग

दीपा का कलकत्ते से साक्षात्कार-पत्र आ जाता है, तब वह कलकत्ते रेल से अकेली जाने के भय से घबराने लगती है, तब उसे संजय दिलासा देता हुआ बेबाक तरीके से समझाने के रूप में कहता है-

व्याख्या

संजय जब दीपा को कलकत्ता जाने को लेकर बेहद बोझिल और भारीपन से दबी-दबी देखता है, तब वह उसे उस वातावरण से बाहर निकालने के लिए हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली का सहारा लेता है। चुटकी लेते हुए और लगभग छेड़ने के हल्के अंदाज में कहत है- 'तुम भी अपनी ही तरह की मूर्ख हो। वैसे तो बहादुर बनी घूमती-फिरती रहती हो, वह भी अकेली, लेकिन अब भीगी बिल्ली बनी बैठी हो। इंटरव्यू को हव्वा समझे बैठी हो। अरे बाबा! इंटरव्यू वगैरह तो आजकल सब औपसारिकताएं मात्र होती हैं। सोर्स-फोर्स का टाइम है-वहं बहादुरी से पहुंचकर किसी जान-पहचान वाले से सोर्स लगवाना। फिर देखना नौकरी तुम्हारी जेब में होगी', और ये कहते हुए उससे पूरी तरह घुला-मिला और खुला हुआ संजय उसके गाल पर हल्की सी प्यार भरी चपत जड़ देता है, ताकि वह नॉर्मल हो सके।

विशेष

यहां जान-पहचान वाले से तात्पर्य प्रत्यक्ष में- इरा और अप्रत्यत्र में- निशीथ से है। यहां संजय मन-ही-मन एक तीर से दो निशाने लगाता प्रतीत होता है। इन पंक्तियों में कटाक्ष भी है, मार्गदर्शन भी है और समझाने का बेबाकीपन भी आत्मीयतापूर्ण तरीके से है।

4.3 सलाम - ओम प्रकास वाल्मीकि

सलाम कहानी के लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि का जीवन परिचय इस प्रकार है-

4.3.1 लेखक परिचय

ओम प्रकाश वाल्मीकि का जन्म जनपद मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) के बरला गांव में दिनांक 30 जून, सन् 1950 को हुआ। उन्होंने एम. ए. हिंदी में उत्तीर्ण की। उनकी प्रकाशित कृतियां है- सदियों का संताप, बस बहुत हो चुका (कविता-संग्रह), जूठन (आत्मकथा), सलाम, घुसपैठिए (कहानी-संग्रह)। आपने प्रज्ञा साहित्य के दलित विशेषांक में अतिथि-संपादक की भूमिका भी निभाई है। विभिन्न भाषाओं में भी रचनाएं अनुदित की। आपकी नाटक में भी रुचि रही है। आपने अब तक 60 नाटकों में अभिनय और निर्देशन भी किया

डॉ, अंबेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार, 1993 से स□मानित, परिवेश स□मान, 1995 तथा जयंती स□मान 1996 से भी सम्मानित।

4.3.2 सलाम - मूल पाठ

शादी की रस्म पूरी होते-होते रात के दो बज गए थे। ज्यादातर बाराती सो चुके थे। गिने-गिने लोग ही दुल्दे के साथ विवाह-मंडप में मौजूद थे। कमल उपाध्याय अतिरिक्त उत्साह में हरीश के साथ हर जगह मौजूद था। घर-परिवार के सदस्य की तरह सारी व्यवस्था कमल उपाध्याय की देख-रेख में संपन्न हो रही थी। हरीश और कमल के संबंध ही कुछ ऐसे थे।

फेरों से लौटकर वे बरामदे में ऐसी जगह तलाशने लगे, जहां थोड़ी देर पीठ टिकाकर पांव सीधे किए जा सके। छोटे से बरामदे में एक साथ इतने सारे लोग गुड़-मुड़ होकर सोए थे। कहीं ऐसी जगह नहीं बची थी कि खुलकर लेटा जा सके।

बारात ठहराने के लिए स्कूल का बरामदा ही मिल पाया था। प्रधान जी ने स्कूल खोल देने की हामी तो भर दी थी। लेकिन ऐन वक्त पर हेडमास्तर कहीं रिश्तेदारी में चले गए थे। काफी भागदौड़ के बाद भी चाबी नहीं मिली थी। आखिर हारकर बारात को बरामदे में ही ठहराना पड़ा था। स्कूल में जो हैंडपंप था, एक रात पहले किसी ने उसका हत्था और वाल्व भी खोल लिए थे। पीने के पानी का औरकोई इंतडाम वहं नहीं था। बड़ी मुश्किल से दो मिट्टी के घड़े ही पाए थे।

रोशनी के नाम पर भी सिर्फ अंधेरा ही था। सड़क के लैंपपोस्ट की हलकी पीली रोशनी बरामदे तक आकर अंधेरे में तब्दील हो गई थी।

हरीश ने दुल्हेपन के भार को उतारकर दीवार के सहारे पीठ टिका दी। कमल के लिए जगह बनाते हुए बोला, 'थोड़ी देर कमर सीधी कर लो। थक गए होगे... तुम्हें तो यहां काफी अटपटा लग रहा होगा।'

कमल ने मोजे और जूते सहेजते हुए कहा, 'रात भर की ही तो बात है किसी तरह गुजर जाएगी। गांव के बारे में सिर्फ पढ़ा था। देखा आज ही है।'

'कैसा लग रहा है?' हरीश ने कमल को अपनी ओर खींचा।

'कैसा क्या... हालत दयनीय है... कितना धैर्य है लोगों में...' कमल ने गहरी सांस ली।

बरामदे के किनारे पर दो बुजुर्ग अभी तक जगे थे। रुक-रुककर बातचीत कर रहे थे। हरीश और कमल की वार्तालाप सुनकर उनकी ओर मुखातिब हुए। उनमें से एक बला, 'बेट्टे हरीश, तुम्हारा ये दस्त पहली बार गांव आया है क्या?'

'हां, ताऊ जी...' उत्तर कमल ने दिया।

'कौन बिरादरहो?' बुजुर्ग ने बात आगे बढ़ाई

'ताऊ, क्या इतना काफी नहीं है कि यह मेरा दोस्त है, और मेरी बारात में शामिल है?' हरीश ने नाराजगी व्यक्त की।

बुजुर्ग किसी जमाने में अंग्रेज अफसर की सेवा-टहल में थे, जब भी मौका मिलता दिखाने के कोशिश करते।

'मैंन्ने कोई इंसलेट बात कही है क्या? ...जो बुरा मान गए!' बुजुर्ग चुप हो गया।

'ताऊ जी... आपकी बात का बुरा क्या मानना... मैं ब्राह्मण हूं... और कुछ पूछना हो तो पूछिए...' कमल ने विनम्रता दिखाई। बुजुर्ग ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।

'सो जाओ कमल, सुबह होने में अब ज्यादा देर नहीं।' हरीश ने बात बदलने की कोशिश की।

कमल सोने का प्रयास करने लगा। कुछ देर की खामोशी के बाद बोला, 'हरीश, सो गए क्या... सुबह क्या होगा?'

हरीश की आंखों में नींद भरी हुई थी। अलसाए स्वर में बोला,'सुबह... क्या मतलब?'

'हरीश, सुबह जल्दी उठने की आदत है मेरी। चाहे देर रात दो बजे सोऊं, नींद पांच बजे ही टूट जाती है। मां सुबह पांच बजे से ही पूजा-पाठ में लग जाती है। उनकी खटर-पटर से मैं भी उठ जाता हूं। बरसों से ऐसे ही चल रहा है। मां सुबह-सुबह चाय बनकर मेरे हाथ में थमा देती हैं। अब तो ऐसी आदत पड़ गई है कि यदि छह बजे तक चाय न मिले तो सिर भारी होने लगता है।' कमल ने अपनी तकलीफ सुनाई।

'यहां सुबह-सुबह छह बजे चाय कहां मिलेगी...' हरीश ने असमर्थात जताई।

बुजुर्ग ने बीड़ी सुलगा ली थी। जो अंधेरे में चमक पैद कर रही थी। कमल से बोले, 'बाबू जी, गांव के बाहर एक दुकान तो है। आप सुबह जाकर देख लेना। शायद मिल जाए।'

'आपने देखी है दुकान? कितनी दूर है?' कमल ने उत्सुकता दिखाई।

'पास ही है। शाम को मैंने वहां से बीड़ी का बंडल खरीदा था। सामने जो गली है उससे सीधे चलते जाना। गली खत्म होते ही सड़क है। वहीं पर एक दुकान है।' बुजुर्ग ने बताया।

सुबह उठते ही कमल चाय की तलश में निकल पड़ी। गली लगभग सुनसान थी। इक्का-दुक्का लोग अजीब-सी बुक्कल मारे आ-जा रहे थे। रात वाली चहल-पहल कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी।

अड़ंजे पर फिसलन थी। नालियों में बहते पानी से बचते-बचाते वह गली के मुहाने पर एक खुली और रेतीली जगह पर आ गया। सामने ही सड़क के पार एक छप्परनुमा दुकान थी। जिसमें एक किनारे पर भट्टी बनी थी। भट्टी के साथ ही एक चबूतरा भी था। जिस पर लकड़ी के खोके में पीन-बीड़ी, जर्दा, तंबाकू की थैलियां रखी थी। साथ ही दो-तीन बदरंग से डिब्बे रखे थे। भट्टी में सुलगते कोयलों से गहरा काला धुंआ निकल रहा था। जिसका कसैलापन उसने अपने फेफड़ों में महसूस किया। दीवार पर किसी सिने तारिका का अर्द्धनग्न बदरंग कैलेंडर टंगा था। जो धूल और धुएं के हमलों से मटमैला हो गया था।

भट्टी के पासही एल्युमिनियम की एक बड़ी-सी केतली रखी थी। जिसका रंग स्याह काला पड़ गया था। कुछ कांच के मटमैले गिलास, कप प्लेटें और शीशे के एक जार में कुछ बिस्कुट पड़े थे। भगोना बाहर से काला और भीतर से भूरा, मटमैला दिखाई पड़ रह था। आसपास मकिखयों के झुंड के झुंड भिनभिना रहे थे।

चबूतरे पर ही एक जर्जर-सा बूढ़ा आदमी मैले-चीकट कपड़ों में उकडूं बैठा बीड़ी पी रहा था। उसके हाथों, पैरों की नसें उभरी हुई थी। जैसे किसी ने शरीर का मांस उतारकर त्वसा हड्डियों से चिपका दी हो।

पास ही एक पुरानी-सी बेंच पड़ी थी। जिसकी हालत उस बूढ़े आदमी से भी बदतर थी। कमल ने बेंच पर बैछने की कोशिश की। बेंच चरमराई। किसी तरह अपने आपको बेंच पर टिकाकर कमल ने बूढ़े से कहा, 'चाय मिलेगी?'

'मिलेगी... थोड़ा टेम लगेगा।' बूढ़े ने बीड़ी का आखिरी कश खींचा।

कमल दुकान में रखी हर चीज को उत्सुकता से देख रहा था। उसके जेहन में मां का खयाल आ गया। यदि इस समय घर में होता गर्म-गर्म चाय लेकर आती। चाय बनाते समय भी मां कोई-न-कोई श्लोक दोहराती रहती है।

धुएं का झोंका कमल के मुंह और आंखों में भर आया। उसने जेब से रूमाल निकालकर नाक-मुंह पर रखा। कड़वाहट उसके भीतर समा गई थी।

'कितनी देर लग जाएगी चाय में... ?' कमल ने जिज्ञासा की।

'बस... अभी हो जागी... भट्टी सुलग री है। बैट्ठो आप...' चायवाले ने आश्वस्त किया।

चायवाला लोहे के सरिए से भट्टी में कोयले संवारने लगा।

'नए दिख रहे हो बाबू जी... कहां से आए हो?' चाय वाले ने बात शुरू की।

'देहरादून से।' कमल ने सहजता से कहा। उसका ध्यान सुलगती भट्टी पर टिका था।

देहरादून का नाम सुनकर चायवाला चौंका, 'देहरादून से तो कल एक बारात भी आई है।' चायवाले ने प्रश्न की तरह कहा।

'हां, मैं उसी बारात में आया हूं।'

'वह बारात तो चूहड़ों के घर आई है।' चायवाले की जिज्ञास गौली में बदल चुकी थी।

'तो **क्य**ा हुआ?' कमल ने सवाल किया।

वह भट्टी के पास से हटकर इधर-उधर काम करने लगा था। कभी इस डि**ब्बे** को उठाकर उधर रखा रहा था, कभी मटके से पानी निकालकर कनस्तर में भर रहा था। भट्टी सुलगकर लाल-लाल अंगारों में बदल गई थी। अंगारों से लपटं उठ रही थी, लेकिन चाय बनने के आसार दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

कमल का गला खुश्क होने लगा था। 'भट्टी तो धधक गई है। एक कप चाय बना दीजिए।' कमल ने शालीनता से कहा।

चायवाला अनसुना करके अपने काम में लगा हुआ था। कमल का धैर्य टूटने लगा, 'भई, चाय बना दो।'

चायवाले ने वहीं से जवाब दिया, 'तुझे यहां चाय ना मिलने की।' चायवाले की आवज में रूखापन था। जिसे महसूस करते हुए कमल ने तीखेपन से पूछा, 'लेकिन **क्यों**? अभी थोड़ी देर पहले तो आपने कहा था, चाय मिलेगी।'

'कह था... और इस कह रा हूं नहीं मिलेगी...' चायवाले ने कठोरता से कहा।

कमल चायवाले के व्यवहार से चकित था। फिर भी नम्रता से बोला, 'लेकिन भाई साहब हुआ **क्य**ा है...? **क्य**ा मैं पैसे नहीं दूंगा?'

चायवाला उसके ठीक सामने तनकर खड़ा हो गया। दोनों हाथ कुल्हों पर टिकाकर सीना चौड़ा करते हुए बोला, 'यो पैसे सहर में जके दिखाणा। दो पैसे हो गए जेब में तो सारी दुनिया को सिर पे ठाये घूमो... ये सहर नहीं गांव है... यहं चूहड़े-चमारों को मेरी दुकान में तो चाय ना मिलती... कहीं और जाके पियों।'

कमल की नसें फड़फड़ाने लगी। उसने चायवाले को आग्नेय नेत्रों से घूरा। आवाज में स□ती भरकर बोला, 'चूहड़े-चमारों को नहीं मिलती है तो किसे मिलती है?'

चायवाला उसकी बात अनसुनी करके फिर अपने काम में लग गया था। कमल को वह अस□य वनमानुष दिखाई पड़ रहा था। उसने साहस करके पूछा, 'तु□हारी **क्य**ा जात है?'

चायवाला भभक पड़ा, 'मेरी जात से तुझे **क्य**ा लेणा-देणा। इब चूहड़े-चमार भा जात पूछने लगे... कलजुग आ गया है कलजुग।'

'हां, कलजुग आ गया है, सिर्फ तुम्हारे लिए, तुम अपनी जात नहींबताना चाहते हो तो सुनो- मेरा नाम कमल उपाध्याय है। उपाध्याय का मतलब तो जानते ही होगे, या समझाभं... उपाध्याय यानी ब्राह्मण।' कमल ने आंखें तरेरकर कहा।

'चूहड़ों की बारात में बामन?' चायवाला कर्कशता के साथ हंसा।

'सहर में चूतिया बणाना... मैं तो आदमी कू देखते ही पिछाण (पहचान) लूं... कि किस जात का हैं?' चायवाले ने शेखी बघारी।

उनका वार्तालाप सुनकर राह चलते लोग ठिठककर मजा लेने लगे। सुबह-सुबह का वक्त था, देखते-ही-देखते लोग जमा हो गए। लोगों को देखकर चायवाले की बूढ़ी हड्डियों में जोश गया था। आवाज को तेवर चढ़ने लगा।

बल्लू रांघड़ का रामपल भी भीड़ देखकर ठिठक गया। माजरा क्या है, जानने के लिए चाय की दुकान की ओर बढ़ा। बूढ़ा चायवाला किसी शहरी को फटकार रहा था। रामपाल ने छूटते ही पूछा, 'चाच्चा, कोण है यो?'

रामपाल को देखते ही चायवाला और बिफर पड़ा, 'चूहड़ा हे। खुद कू बामन बतारा है। जुम्मन चूहड़े का बाराती है। इब तुम लोग ही फैसला करो। जो यो बामन है तो चूहड़ों की बारात में क्या मूत पीणे आया है। जात छिपाके चाय मांग रा है। मैंने तो साफ कह दी। बुद्धू की दुकन पे तो मिलेगी न चाय चूहड़ों-चमारों कू, कहीं और ढूंढे ले जाके।' चायवाले ने आसपास खड़े लोगों का समर्थन जुटाने की कोशिश की।

दुबला-पतला-सा रामपाल सीकिया पहलवान था। गाल पिचके हुए, हड्डियां उभही हुई। बारीक मूंछे, तेल से चीकट बाल। कुल मिलाकर ऐसा हुलिया, जिसे देखकर यह अंदाज बिलकुल नहीं हो सकता था कि इस डेढ़ हड्डी के आदमी का गांव भर में दबदबा है।

रामपाल को देखती ही खुसर-पुसर एकदम शांत हो गई थी। कमल भी स्वयं को चक्रव्यूह में फंसा महसूस करने लगा था। उसने आसपास खड़े लोगों पर नजर डाली। उसने उनकी बात का विरोध करने के लिए मुंह खोल, 'भाईयो...!'

बात पूरी होसे से पहले ही रामपाल ने उसे डांटा, 'ओ, सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं?- साले जबान सिभाल के बोल, गांड मे डंडा डाल के उलट दूंगा। जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बणा। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रे हैं, सहर वाले, जुम्मन के तो सींग लिकड़ जए हैं। अरे, लौंडिया को किसी गांव में ब्याह देता तो म्हारे जैसों का भी कुछ भला हो जाता...' एक तीखी हंसी का फव्वारा छूटा। आसपास खड़े लोगों ने उसकी हंसी में अपनी हंसी मिला दी।

कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियाबान जंगल ुग आया है। उसका रोम-रोम कांपने लगा। उसने आसपास खड़े लोगों पर निगाहें डाली। हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे।

उसने पहली बार अखबारों में छपी उन खबरों को शिद्दत को पीट-पीटकर मार डला, फलां जगह आग में भून दिया। घरों में आग लगा दी। जब-जब भी हरीश इस तरह का समाचार कमल को सुनात, वह एक ही तर्क दोहरा देताथा।

'हरीश अपने मन से हीन-भावना निकालो। दुनिया कहं-से-कहं निकल गई और तुम लोग वहीं-के-वंही हो। उगते सूरज की रोशनी को देखो। अपने आप पर विश्वास करना सीखो। पढ़-लिखकर ऊपर उठोगे तो सब कुछ अपने-आप मिट जाएगा।'

लेकिन इस व**क्त** कमल के सामने हरीश का एक-एक सच बनकर खड़ा था। सच साबित हो रह था।

कमल ने फिर से साहस बटोरा और विरोध किया, '**क्या** यही है गांव का अतिथि सत्कार। आप लोग अपने ही गांव की लड़की के लिए ऐसी बातें कर रहे हो। **क्या** वह इस गांव की बेटी नहीं है ?'

कमल आगे कुछ और बोलता उससे पहले ही रामपालने अपने वजूद से ज्यादा श**क्ति** से चीखकर बोला, 'जा चुपचाप चला जा... वरना एक भी जिंदा वापस ना जा सकेगा, ना बो लौंडिया ही जा पाएही...' कमल को ध**क्का** देकर छप्परनुमा दुकान से बाहर कर दिया रामपाल ने।

कमल कोई बवेला खड़ा करना नहीं चाहता था। सीने में उठ रहे ज्वार को उसने शांत रहे थे। लड़कों का झुंड उसके पीछे लग गया था। वे कमल को चिढ़ाने का प्रयास करने लगे।

'चूहड़ा-चूहड़ा-चूहड़ा...' वे जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। प्रत्येक श**ब्द** नश्तर की तरह उसके जिस्म को चीरकर लहूलुहान कर रहा था।

कमल लड़कों से बचकर गली की ओर लपटा। तेज कदमों से लगभग दौड़ते हुए वह जनवासे में पहुंचा। उसकी सांस फूल गई थी। मूड बुरी तरह उखड़ा हुआ था। जिस्म पर अभी तक हजारों-चीटियां रेंग रही थी। पोर-पोर दहकते लावे-सा जल रहा था।

उसे देखते ही हरीश ने पूछा, '**क्या** बात है ? चेहरा उतरा हुआ है ?'

'कुछ नहीं... ठीक हूं।' कमल ने गहरी सांस ली।

'कहा चले गए थे ? बड़ी देर लगा दी। चाय का इंतजाम कराया है। बस तु**म्हा**रा ही इंतजार थी।' हरीश ने कहा।

कमल दीवार के सहारे टिककर बैठ गया। चुपचाप। जैसे विचारों की सुनसान पगडंदियों पर अकेला विचरण कर रहा हो, उसे इस तरह खामोश देखकर हरीश ने पूछा, 'क्या बात है? कुछ परेशान लग रहे हो?'

'नहीं, कुछ नहीं... बस थोड़ा सिर भारी है।' कमल ने टालना चाहा।

उसके जेहन में पंद्रह वर्ष पुरानी घटना दस्तक देने लगी। जिसकी स्मृति मात्र से ही उसके शरीर में एक लहर-सी दौड़ गई।

उस रोज कमल हरीश को पहली बार स्कूल से सीधा अपने घर ले गया था। पिताजी कहीं बाहर गए हुए थे। उसने अपनी मां से हरीश को मिलाया था। मां ने दोनों को खाने के लिए कुछ दिया था। हरीश ने पहला कौर उठाकर मुंह में रखा ही था कि कमल की मां ने पूछा, 'बेटे, तुहारे पापा क्या करते है?'

'जी, नगरपालिका में सफाई कमचारी हैं।' हरीश ने सहजता से उत्तर दिया।

हरीशका जवाब सुनते ही कमल की मां आग-बबूला हो गई थी। कमल के गाल पर एक झन्नाटेदार थप्पड़ पड़ा था।

'पता नहीं कहां-कहां से इन कंजड़ों को पकड़कर घर ले आता है। खबरदार जो आगे से किसी हरामी को दुबारा यहां लया...' कमल पर यह हमला अप्रत्याशित था। वह न रोया, न कोई प्रतिरोध ही कर सका था। सिर्फ फटी-फटी आंखों से मां के गुस्से से भरे चेहरे को देखता रह गया था।

मां ने हरीश को भी ढेर-सी गालियां देकर घर से भगा दिया था। मां की दुत्कार, फटकार से हरीश बुरी तरह आहत हुआ था। उसे पहली बार लगा था कमल और वह दोनों अलग-अलग हैं। दोनों के बीच कोई पासला है। उसे अपने पड़ोसी सुगना के शब्द याद आ रहे थै, 'बेट्टे, बामन से दोस्ती रास नहीं आएगी।' लेकिन हरीश ने सुगना की बात को कभी अहमियत नहीं दी थी। कमल उसके लिए अपना था, एकदम सगा। बल्कि अपनों से कहीं ज्यादा। इस घटना ने हरीश के मन पर कई खरोंचे डाल दी थी।

हरीशने के जाने के बाद मां लगातार बड़बड़ाती रही थी। सारा घर दुबारा धोया गया था। गंगाजल छिड़ककर जमीन पवित्र की गी थी।

कमल के बालमन में भी एक दरार पैदा हो गई थी। वह चुपचाप जाकर अपने कमरे में लेट गया था। ढेरों सवाल उसके मन को कचोट रहे थे आखिर मां ने ऐसा क्यों किया। क्या कमी है हरीश में। दिन भर उसने कुछ नहीं खाया था। रात में भी मां ने बहुत समझाया था। ऊंच-नीच बताई थी। फिर भी वह चुपचाप निर्विकार मुद्रा में बैठा था। मां के सारे दांव उसे मनाने में हार गए थे।

'बेटे, इनके संस्कार गलत हैं, ये छोटे लोग हैं। इनके साथ बैठने से बुरे विचर मन में पैदा होते हैं...' और भी कई बातें मां ने बताई थी। लेकिन कमल के अनुभव इन सबसे भिन्न थे।

मां के तर्कों से जब वह ऊबने लगा तो आखिर उसने मांसे पूछ ही लिया, 'तुम कभी उनके घर गई हो? उनसे मिली हो? फिर कैसे जानती होवे बुरे लोग है?'

मां अबाक होकर कमल का चेहरा देखने लगी थी। कमल की आंखों में गुस्सा नहीं था। ऐसा कुछ था जो धीरे-धीरे बर्ष की तरह पिघल रहा था। जिसे वह पकड़ना चाहती थी, पर उसकी पकड़ में नहीं आ रहा था।

मां ने हारकर एक समझौता कर लिया था। जिसकी जानकारी हरीश को कभी नहीं हुई। हरीश के खाने-पीने के लिए कुछ बर्तन अलग रख दिए थे। तब से आज तक कमल एक ऐसी अंधेरी गली में चल रहा था जहां रोशनी का कोई कतरा दिखाई नहीं देता है। उसे हमेशा लगता है जैसे वह हरीश से विश्वासघात कर रहा है।

कमल को खयालों में डूबा देखकर हरीश ने उसे टोका, 'कहं खो गए... लो चाय पियो...'

एक देहाती लड़का चाय के दो गिलास थामे खड़ा था। कमल के गिलास उसके हाथसे ले लिया। चाय की चुस्की लेते हुए कमल का बिगड़ मूड बदलने लगा। चाय पीने के बाद सिरदर्द से भी थोड़ी राहत महसूस की उसने।

सूरज सिर के ऊपर चढ़ गया था। शादीवाले घर में काफी चहल-पहल थी। दोपहर के खाने में विशेष इंतजाम किया गया था। पासके कस्बे से 'नान' और 'मीट' बनाने के लिए कारीगर बुलाया गया था। एक मोटा ताजा बकरा काटा गया था। पके हुए 'मीट' और गर्म मसालों की महक पूरे आंगन में फैल गई थी। कुछ लोग सुबह से ही दारु पीने बैठ गए थे। काफी हो-हल्लाा होने लगा था। बच्चों की चिल्ल-पों अलग थी। बड़े-बूढ़े हुक्के की गुड़-गुड़ में अपने जमाने को याद कर रहे थे। औरतों की व्यस्तता कुछ अलग थी। हरीश की सास ने पुराने कपड़ो पर एक नई ओढ़नी डाल ली थी। दूल्हे को साथ लेकर उसे 'सलाम' पर जाना था।

हरीश के पिताजी कुछ परेशान दिखाई दे रहे थे। कमल ने परेसानी का कारण जानना चाहा तो वे टाल गए। सुबह से ही कुछ चल रहा था। जिसका थोड़ा आभास कमल को होने लगा। लेकिन कोई भी उसके सामने खुलकर बात नहीं कर रहा था।

हरीश के ससुर जुम्मन ऋषिकेश में सरकारी कर्मचारी थे। परिवार गांव में रहता था। पारंपरिक जीवन था। गांव के कई परिवारों में साफ-सफाइ का काम हरीश की सास करती थी। जुम्मन की बड़ी लड़की बाप के साथ ऋषिकेश में ही रहती थी, सरकारी मकान में आस-पड़ोस की देखा-देखी जुम्मन ने उसे भी स्कूल भेज दिया। देखते-देखते उसने हाईस्कूल की परीक्षा पासकर ली थी। साथ ही उसमें सुघड़ता भी आ गई थी। अच्छा परिवार पाकर उसमें बदलाव आ गया था। गांव-भर की लड़कियों से अलग दिखाई पड़ती थी। वैसे इस गांव की वह पहली लड़की थी। जिसने हाईस्कूल पास किया था।

जुम्मन की घरवाली जिन परिवारों में काम करती थी, उनमें अधिकतर रांघड़ थे। गांव देहात के नियम कायदे के हिसाब से हरीश को 'सलाम' के लिए विदाई से पहले रांघड़ो के दरवाजे पर जाना था। यह एक रस्म थी। जिसे न जाने कितनी सदियों से निभाया जा रहा था।

हरीश के पिताजी ने साफ इनकार कर दिया था, 'हम 'सलाम' पर अपने लड़के को नहीं भेजेंगे।'

रांघड़ परिवारों से कई बार बुलावा आ चुका था। बिरादरी के बड़े-बूढ़े अपने-अपने तर्क देकर ऊंच-नीच समझा रहे थे।

'बाप-दादों की रीत है, एक दिन में तो ना छोड़ी जावे है। वे बड़े लोग हैं। 'सलाम' पे तो जणा ही पड़ेगा। और फिर जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना तो ठीक नहीं है। और इसी बहाने कपड़ा-लत्ता, बर्तन-भांडे भी नेग-दस्तूर में आ जाते हैं।'

हरीश ने भी स्पष्ट तौर पर कह दिया था, 'मुझे न ऐसे कपड़े चाहिए, न बर्तन, मैं अपरिचतों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊंगा।'

हरीश ने जब-जब भी किसी दूल्हे को इस तरह दरवाजे-दरवाजे घूमते देखा, उसे लगता था जैसे स्वाभिमान को चिंदी-चिंदी करके बिखेरा जा रहा है। बाजे-गाजे के साथ घूमता दूल्हा निरीह जीव दिखाई पड़ता था। 'दामाद हो या नई-नवेली दुल्हन 'सलाम' के लिए घर-घर जाने का रिवाज है, जो हमने नहीं पुरखों ने बनाया था। जिसे इस तरह छोड़ देना ठीक नहीं है। गांव में रहना है। दस जरूरतें हैं।' जु□मन ने जोर देकर कहा।

हरीशने तीखे शब्दों में कहा, 'आप चाहे जो समझें... मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूं। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।'

आवाज सुनकर कमल हरीश की ओर बढ़ा। कमल को अपनी ओर आते देखकर हरीश चुप हो गया। हरीश का चेहका तनाव से कसा हुआ था। 'क्या बात है हरीश... कुछ मुझे भी तो बतओं...!' कमल ने जिज्ञासा प्रकट की।

प्रत्येक कार्य-कलाप में कमल हरीश के साथ था। घर से लेकर यहां तक। लेकिन इस वक्त वह अपने आपको अलग-थलग महसूस कर रहा था।

हरीश के पिताजी ने कमल के कंधे पर हाथ रखा, 'कुछ नहीं है बेटे... आप वहां बैठो। सामने आंगन में नीम के पेड़ के नीचे मैंने आपके लिए चारपाई डलवा दी है, आराम करो, जात-बिरादरी की कुछ समस्याएं है... हम निबटा लेंगे...।'

कमल को लगा जैसे वह सचमुच बाहरी व्यक्ति है, उसने कातर दृष्टि से हरीश की ओर देखा, हरीश ने आंखों के इशारे से शांत रहने के लिए कहा, कमल जाकर चारपाई पर बैठ गया।

दोपहर होते-होते बात पूरे गांव में फैल गई। जुम्मन के जंवाई ने 'सलाम' पर आनेसे मना कर दिया है। गांव के रांघड़ बल्लू रांघड़ की चौपाल पर जुटने लगे थे। ऐसा लग रहा था जैसे जोहड़ के पानी में किसी ने कंकड़ फेंक दिए हों। गोल-गोल लहरें घूमकर किनारों तक फैल गई थी। रांघड़ गुस्से में फनफनाए घूम रहे थे।

बल्लू रांघड़ का सीकिया पहलवान रामपाल कमल उपाध्याय को चाय की दुकान से धकियाकर चौड़ा हुआ घूम रहा था। अपनी बहादुरी का किस्सा समूचे गांव को सुना चुका था। कैसे एक चूहड़े को उसने चाय की दुकान में जात छिपाकर चाय पीते, रंगे हाथों पकड़ लिया। बराती थी इसलिए छोड़ दिया। यह हरकत किसी और ने की होती तो अभी तक अस्थी सज रही होती। लोग सुनते और मजा लेते, साथ ही अपनी ओर से कुछ जोड़ देते। दोपहर तक चर्चा पूरे गांव में फैल गई थी।

बल्लू रांघड़ हालात देखकर खुद जुम्मन के घर आया। आते ही उसने जु□मन उसकी घरवाली को मेहमानों के सामने ही फटकार सुनाई

'जुम्मन तेरा जंवाई इब तक 'सलाम' पर क्यों नहीं आया। तेरी बेटी का ब्याह है तो हमारा बी कुछ हक बनता है। जो नेग-दस्तूर होता है, वो तो निभाना ही पड़ेगा। हमारी बहू-बेटियां घर में बैठी इंतजार कर रही हैं। उसे ले के जल्दी आ जा...।'

जु□मन ने सिर पर लपटा कपड़ा उतारकर बल्लू रांघड़ के पांव में घर दिया, 'चौधारी जी, जो सजा दोगे भुगत लूंगा। बेटी कू बिदा हो जाण दो। जमई पढ़ा-लिखा लड़का है, गांव-देहात की रीत ना जाणे हैं।'

'तभी तो कहूं-जातको (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जाकरो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बणना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जंगें। यो न घर के रहेंगे न घाट को। गांव की नाक तो तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी। क्या जरूरत थी लड़की कू पढ़ाने की, गांव की हवा बिगाड़ रहा है तू। इब तेरा जंवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रहा है... उसे समझा दे... 'सलाम' के लिए जल्दी आवे...' बल्लू ने फैसला सुनाया।

जुम्मन ने गिड़गिड़ाकर रिरियाहत भरे शब्दों में कहा, 'चौधारी जी, मेरी लाज रख लो... मैं तो थारा गुलाम हूं... मेर तो जीना-मरण सब कुछ थारी ही गेल है। जो कहोगे करूंगा... बस करके बेटी कू विदा हो जाण दो। मैं थारे पांव में नाक रगडूं...।'

बल्लू रांघड़ गुस्से में फनफनाता चल दिया। जाते-जाते चेतावनी देकर बोला, 'इन सहर वालों कू कह देणा-कव्वा कबी बी हंस ना बण सके है।'

बल्लू के जाते ही कमल ने हरीश से पूछा, 'कौन था यह? इस तरह डरा-धमका क्यों रहा था।' हरीश ने चुप रहने का इशारा किया। सभी भय से सहम गए थे। बल्लू रांघड़ के जाते ही

विदाई की तैयारी शुरु हो गई थी। जुम्मन ने जात-बिरारी की स्त्रियों को हिदायत दे दी थी,'टीके की रस्म जल्दी निबटाएं, बिना हो-हल्ले के रांघड़ कभी भी रौला कर सकते हैं।'

शादी की सारी चहल-पहल पल-भर में सन्नाटे में सिमटकर बदल गई थी। इस सन्नाटे का सोर कमल उपाध्याय को बेचैन कर रहा था। उसका दम घुट रहा था। उसने हरीश की ओर देखा। हरीश की आंखों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान के उगते सूरज की चमक दिखाई पड़ रही थी। दोनों ने एक-दूसरे का हाथ गर्मजोशी से दबाया। आंकों-ही-आंखों में एक-दूसरे को आश्वस्त किया। नीम के पेड़ पर हरी नर्म पत्तियां हिल रही थीं,मानौ हौंसला दे रहीं हों।

जल्दी-जल्दी बारात को खाना खिलाया गया। कमल और हरीश खाना खाकर नीम की छांव में पड़ी चारपाई पर बैठ गए थे। सामने दीवार की ओर मुंह करके एक दस-बारह बरस का लड़का खड़ा था। उसके चेहरे पर गुस्से के भाव थे।

उसे ढूंढते-ढूंढते एक बूढ़ा आंगन में घुसा। उसके हाथ में 'नान' और 'मीट' था।

'दीपू... ओ... दीपू... कहां है... ये लौंडा भी बहुत दिक करे हैं। चूहड़ों के घर पैदा होके बामनों-सी बोली बोले है।' उसे दीवार के पास खड़ा देख, उसने डांटा, 'तू यहां छुपा खड़ा है.. मैं कब से तुझे ढूंढ रहा हूं। रोटी खा ले... ले देख कितना अच्छा मीट वणा है।' बूढ़े ने मनाने की कोशिश की।

'ना... मैं नी खाता... इसे खाए मेरा भूत।' लड़के ने ऐंठते हुए कहा।

'पर क्यों ?... क्या हुआ है इसमें ?' बूढ़े ने तल्खी से कहा।

'मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी मैं नी खात्ता।' लड़के ने दूर हटते हुए कहा।

'मुसलमान ? कोण मुसलमान ?'

'वो जो गाड़ा वहां बैट्ठा बणा रा है।' लड़के ने रोटी बनाने वाले कारीगर की ओर इशारा किया।

'वो... वो... तो हिंदू है... चलकर देख ले!' बूढऊा उसे खींचकर ले जाने लगा। लड़का घिसटते हुए बूढ़े के पीछे-पीछे जा रहा था। चीख-चीखकर कह रहा था, 'नहीं... मुसलमान है। मैं नी खाऊंगा उसके हाथ की बाणी रोट्टी... मैन नहीं खाऊंगा।'

'अबे, उल्लू की दुम... एक बार चलके तो देख ले। फेर कहणा।' बूढ़े उसे घसीटकर भट्टी की ओर ले गया जहां 'नान' बन रहे थे। लड़के के चीखने की आवाज लगातार आ रही थी।

'नहीं... नहीं... मैं मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी नहीं खाऊंगा... नहीं खाऊंगा.. .नहीं खाऊंगा।'

कमल और हरीश फटी-फटी आंखों से उस लड़के को द्रे रहे थे। कुछ देर पहले जगा आत्मविश्वास लड़के की आवाज में दबने लगा था। कमल और हरीश दोनों खामोशी के अंधेरे जंगल में भटक गए थे। उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखा और गहली सांस ली।

4.3.3 ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी कला की विशेषताएं

कथानक

ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' का कथानक यथार्थ के एकदम समीप का है। उनका ध्यान लेखन के समय कहानी के कला तत्व के स्थान पर न होकर कथानक के यथार्थ पर अधिक रहता है। यही बात 'सलाम' कहानी को पढ़ते समय मस्तिष्क में आती है। उनका यथार्थ भी अपनी नंगई पर उतरता प्रतीत होत ाहै। इससे कथानक और भी सशक्त रूप में उभर कर आता है, किंतु इससे लेखन का कला-पक्ष कमजोर पड़ जाता है, क्योंकि लेखन एक कला है। कला मैं सा□दर्य, शिष्टता और भद्रता का होना नितांत आवश्यक माना जाता है अन्यथा तो अपने द्वारा देख गए तथा अनुभव किए गए को कोई भी लिख सकता है, किंतु जब वह लेखन की शर्तों पर खरा उतरता है तभी उसे स्वस्थ लेखन-कला का प्रतीक माना जाता है। उदाहरण के लिए, 'काने को काना न कहकर, यदि उसे नयनसुख कह दिया जाए, तो उसे बुरा भी नहीं नगेगा और सुधि पाठक के मंतव्य को भी समझ जाएगा।

चरित्र-चित्रण

ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी के प्राय: सभी पात्र चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पूर्णरूपेण सशक्त बन पड़े है। उनमें कहीं भी बनावटीपन दिखलाई नहीं देता। पढ़ते समय लगता है कि जैसे कोई चलचित्र देख रहे हो। घटनाएं तारत□यता के साथ बड़ी तेजी से आगे दौड़ती हैं। उनके साथ उनके चरित्र भी उसी स्फूर्ति से आगे भागते प्रतीत होते है। इसलिए कहाजा सकता है कि 'सलाम' कहानी के सभी चरित्र कहानी से पूरी तरह जुड़े रहते हैं। कमल उपाध्याय पात्र का चरित्र छोटा-सा है, किंतु उसका चित्रण पूरी कहानी के आंतरिक कथानक को मजबूत संबल प्रदान करता है। वह कहानी को अपने उद्देश्य से भटकने नहीं देता।

कथोपकथन

इस कहानी का कथोपकथन बड़ा ही स्वाभाविक एवं सजीव बन पड़ा है। वह देशकाल, परिस्थिति, स्वभाव तथा रुचि के अनुकूल ही बन पड़ा है परंतु पात्रों की भाषा कहीं-कहीं मर्यादा और शिष्टता को लांघती दिखाई देती है जो कि लेखक का 'प्लस प्वइंट' होते हुए भी 'मायनस प्वाइंट' बन जाता है। हां, कथोपकथन में तारतम्यता पूरी तरह बनी रहती है।

देशकाल, वातावरण योजना

देशकाल और वातावरण की दृष्टि से 'सलाम' कहानी पूर्णरूपेण सफल कही जा सकती है। कहानी को पढ़कर लगता है कि लेखक को ग्रामीण वातावरण की पूर्ण जानकारी है, समझ है। देशकाल की दृष्टि से भी कहानी उत्तम कही जा सकती है। ओम प्रकाश जी ने परिस्थितियों और वातावरण के चित्रण को बड़े ही कौशल से प्रस्तुत किया है। पूरा देशकाल और वातावरण बड़ा ही सजीव बन

पड़ा है और कथानक के विकास में पूर्णरूपेण सहायक है। कथानक का वर्णन कहीं-कहीं यथार्थ के पास होते हुए भी खलता है।

भाषा-शैली

ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी की भाषा-शैली गांव के वातावरण के अनुकूल ही बन पड़ी है। यह स्वाभाविक है, सशस्क है। किंतु सभ्य समाज में अथवा पूरे परिवार में बैठकर पढ़ने में कान खड़े करने वाली है जो कि साहित्य और लेखन कला की दृष्टि से स्वस्थ एवं उचित नहीं कही जा सकती। ओम प्रकाश जी की भाषा सरल, सजीव और सादगी भरी है। व जन समाज की सस्ती भाषा है, जिसे संभालना, स्तरीय बनाना लेखक का दायित्व बन जाता है, लेकिन शायद वास्तविकता और यथार्थ के चक्कर में पड़कर ओम प्रकाश जी यह बात भूल बैठे हैं। उनकी भाषा में कृत्रिमता और आडंबर बिल्कुल भी नहीं है। यह देश और पात्र के अनुकूल भी है। भषा-शैली में प्रवाह खूब बन पड़ा है। इसमें कहावतों और मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया गया है।

ओम प्रकाश जी की शैली वर्णनात्मक अधिक बन पड़ी है। शिल्प विधान की दृष्टि से 'सलाम' की शैली 'आत्म-चरित्रात्मक' ही अधिक बन पड़ी है।

उद्देश्य

ओम प्रकाश वाल्मीकि जी की यह कहानी मनोरंजन की दृष्टि से नहीं लिखी गई है। यह पूर्णत: उद्देश्य को केंद्र में रखकर लिखी गई है। इस कहानी का मूलाधार परिस्थितियों के बीच मानव चरित्र की कमजोरियों को दिखाकर उनका बहिष्कार करना ज्यादा रहा है। उनकी इस कहानी का उद्देश्य पूरी तरह पुराने रीति-रिवाजों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकना अधिक रहा है। इस कहानीका उद्देश्य गांव में चलने वाले दस्तूरों के घिनौने रूप को उजागर करना, सामने रखना अधिक रहा है। लेखक इस उद्देश्य में पूर्णरूपेण सफल रहा है- लेकिन जीवन आगे बढ़ने का नाम है। पुराने को बदलने के प्रयास भी करते रहना ठीक है। परिवर्तन जीवन का वास्तविक सत्य है। यह अपनी गति से होता रहता है। हां, इसमें प्रयास इसको एक अलग गति प्रदान करते हैं। यह भी सत्य है।

इसी प्रसंग में कहानीकार यतीन्द्र नाथ गौड़ ने लिखा भी है-

परिवर्तन की छाया में हम जीते हैं ये जीवन सारा।
परिवर्तन से ही होता है, ये जीवन सुखद-दुखद हमारा।।

4.3.4 कहानी का सार

ओम प्रकाश वाल्मीकि यथार्थवाद के नये लेखकों में से एक हैं। उनकी कहानी में यथार्थवाद खूब मुखरित हुआ है। ऐसा ही उनकी 'सलाम' नामक कहानी को पढ़कर लगता है।

'सलाम' कहानी का कथानक छुआछूत और जातिवाद को लेकर लिखा गया लगता है। पुराने सच को उगलती, दिल को छू जाने वाली कहानी है। यह वातावरण को उभारने में पूर्णरूपेण सफल है। इसका सार कुछ इस प्रकार है-

देहरादूमन नगर पालिका में कार्यरत सफाई कर्मचारी के लड़के हरीश की शादी ऋषिकेश में कार्यरत सरकारी दफ्तर में सफाई कर्मचारी जुम्मन की लड़की से तय हो गई थी। जुम्मन का परिवार गांव में रहता था। उनका पारंपरिक जीवन था। अत: हरीश अपेन सगे-संबंधियों के साथ बारात लेकर यहां गांव में आया था। उसके साथ उसका अभिन्न मित्र कमल उपाध्याय भी आया। इस विवाह में भी वह हर जगह मौजूद था। लगभग सारे कामकाज उसी की देख-रेख में हो रहे थे। कमल शहरी वातावरण में पला-बढ़ा था। संभवत: उसने कभी गांव का माहौल नहीं देखा था।

परिस्थितिवश बारत एक स्कूल के बरामदे में ठहरी थी। फेरों से लौटकर हरीश ने दूल्हेपन के बाने को उतारकर एक तरफ रखा और अपने मित्र कमल के साथ बरामदे में ही एक स्थान पर दीवार के सहारे पीठ लगाकर बैठ गया था। उसने कमल के लिए भी अपने ही पास जगह बनायी और उसे भी थोड़ी देर कमर सीधी करने के लिए कहा। फिर उसने पूछा- कमल! कैसा लग रहा है? वह बोला- कैसा क्या... ? हालत दयनीय है। कितना धैर्य है लोगों में... और कमल ने गहरी सांस ली। फिर वे आपस में बातें करते रहे। उनकी बातों को बरामदे के किनारे पर बैठे दो बुजुर्ग भी सुन रहे थे। वे भी अपनी बातें रुक-रुककर कर रहे थे। तभी उनका ध्यान दोनों मित्रों की बातों पर गया तो वे पूछ बैठे- 'बेट्टे हरीश! तुम्हारा ये दोस्त पहली बार गांव आया है क्या?'

'हां, ताऊ जी' उत्तर कमल ने दिया।

'कौन बिरादर हो।' बुजुर्ग ने बात आगे बढ़ाई।

'ताऊ, क्या इतना काफी नहीं है कि ये मेरा दोस्त है और मेरी बारात में शामिल है।' हरीश ने नाराजगी जाहिर की। इस पर कमल ने विनम्रता रे जवाब दिया- 'ताऊ जी आपकी बात का बुरा क्या मानना...। मैं ब्राह्मण हूं... और कुछ पूछना हो तो पूछिए।' इसके पश्चात जब हरीश ने कमल से सोने के लिए कहा तो वह बोला- 'मुझे जल्दी उठने की आदत है। उठते ही चाय की इच्छा होती है। न पिऊं तो सिर भारी हो जाता है।' तिस पर उनमें से एक बुजुर्ग ने पास ही चाय की दुकान बतलायी। दिशा-निर्देश भी दे दिया।

सुबह उठते ही कमल अकेला ही दुकान ढूंढता हुआ चाय की दुकान पर पहुंचा। वहां जब मालूम हुआ कि वह सफाई कर्मचारी की बारात में आया है तब दुकानदार ने उसे खूब खरी-खोटी सुनाई। लोग भी एकत्र हो गए। वहीं बल्लू रांघड़ भी आा गया। उसने उसे वहां से अच्छी तरह अपमानित करके भगा दिया। वह स्थिति को भांपते हुए वहां से बिना चाय पिए ही वापिस लौट आया। तब तक हरीश जाग चुका था। उसने उसके लिए भी चाय का प्रबंध करा दिया। यहां आकर कमल ने समझा कि गांव में छुआछूत और जातिवाद को लेकर हरीश जो हृदय विदारक समाचार सुनाया करता था, उस पर कमल को एकाएक विश्वास नहीं होता था, लेकिन अब जब उसने अपनी आंखों से ट्रेलर (झलक) स्वयं देख लिया, तब उसे उसकी बातों का विश्वास हो गया।

वहां के रीति-रिवाज के अनुसार हरीश को विदा होने से पहले अपनी सास के साथ रांघड़ो के उन घरों में जाकर 'सलाम' की रस्म अदा करनी थी, जहां उसकी सास साफ-सफाई का काम करती थी। जब हरीश से इस दस्तूर के लिए चलने को कहा गया तो उसने साफ मना कर दिया। उसे इस रीति-रस्म से अपमान की बू आती थी। इस पर सभी बड़े-बुजुर्गों ने समझाया और कहा कि रंघड़ों के घरों की औरतों ने कई बार आने को कहलवाया है। वे रस्म के लिए तैयार खड़ी हैं। सो, हरीश का वहां जाना अनिवार्य है। इस रीति के अनुसार दुल्हा अपनी सास के साथ जब उच्च वर्ग के दरवाजे पर जाता है और आदर सहित उनको नमस्ते (सलाम) कहता है वहां की औरतें उसे कपड़े, बर्तन आदि सामान देती हैं।

हरीश ने जब इस रीति को करने से बिल्कुल ही मना कर दिया, तब यह खबर रांघड़ों के परिवारों में फैल गई। तब आग-बबूला होता हुआ बल्लू रांघड़ जुम्मन के घर आ धमका। उसने जुमन और उसकी घरवाली को उनके मेहमानों के सामने खूब फटकार लगाई। नेग-दस्तूर को निभाने की बातकही और बोला- 'जुमन! तेरा जंवाई इब तक 'सलाम' पर क्यों नहीं आया। तेरी बेटी का ब्याह है तो हमारा भी कुछ हक बनता है। जो नेग-दस्तूर होता है, वो तो निभाना ही पड़ेगा। हमारी बहू-बेटियां घर में बैठी इंतजार कर रही है। उसे ले के जल्दी आ जा...।'

ये सुनकर जुम्मन ने अपने सिर पर बंधा कपड़ा उतारकर बल्लू रांघड़ के पांव में धर दिया- 'चौधरी जी! जो सजा दोगे भूगत लूंगा। बेटी कू बिदा हो जाण दो। जमाई पढ़ा-लिखा लड़का है। गांव देहात की रीत ना जाणे है।' इतना सुनते ही बल्लू फिर भाषण झाड़ने लगा औरयह कहता हुआ धमकी भी देने लगा कि- 'इब तेरा जंवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रहा है...। उसे समझा दे...सलाम के लिए जल्दी आवे...।'

जुमन गड़गिड़ाता और रिरियाता रह गया- 'चौधरी जी! मेरी लाज रख लो...। मैं तो थारा गुलाम हूं...। मेरा तो जीना-मरना सब कुछ थारी ही गेल है। जो कहोगे, करूंगा...। बस करके बेटी कू विदा हो जाण दो। मैं थारे पांव में नाक रगडू...।' ये सुनकर बल्लू रांघड़ गुस्से से फनफनाता चल दिया, लेकिन जाते हुए भी चेतावनी देकर बोला- 'इन सहर वालों कू कह देणा, कव्वा कबी बी हंस ना बण सके हैं।'

बल्लू के जाते ही कमल ने हरीश से बल्लू के विषय में पूछा। तब हरीश ने चुप रहने का संकेत किया। सभी घरबाए हुए थे। सभी भय से सहम रहे थे।

बल्लू रांघड़ के जाते ही विदाई की तैयारी आनन-पानन में शुरु हो गई थी। जुमन ने जात-बिरादरी की औरतों को हिदायत दे दी थी- 'टीके की रस्म जल्दी निबटाएं, बिना किसी हो-हल्ले के। रांघड़ कभी भी रौला कर सकते हैं।'

सादी की चहल-पहल सन्नाटे में बदल गई। इससे कमल उपाध्याय परेशान हो रहा ता। उसने हरीश की ओर देखा। हरीश की आंखों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान के उगते सूरज की

चमक स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी। दोनों मित्रों ने एक-दूसरे का हाथ गर्म जोशी से दबाया। नीम के पेड़ पर हरी नर्म पत्तियां हिल रही थी। ऐसा लग रहा था जैसे, हरीश को प्रोत्याहित कर रही हों।

जल्दी-जल्दी बारात को खाना खिलाया गया। सामने दीवार की तरफ एक दस-बारह साल का लड़का मुंह फुलाए गुस्से में खड़ा था। तभी उसे ढूंढता एक बूढ़ा हाथ में नान और मीट लिए आया। उसे खाने के लिए जब कहनेलगा, तब उस लड़के का गुस्सा फूट पड़- 'नाम मैं नी खात्ता। मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी मैं नी खात्ता।' तब बूढञा झंझलाते हुए बोला- 'ये लौंडा भी बहुत दिक करे है। बामनों सी बोली बोले है...' और फिर वह उससे कहने लगा- 'अरे! वो रोटी बनाने वाला कारीगर मुसलमान ना है, हिंदू है।' फिर भी वह लड़का अपनी बात पर अड़ा रहा। कमल और हरीश फटी-फटी आंखों से उसको देख रहे थे। कुछ देर पहले जगा आत्मविश्वास लड़के की आवाज में दबने लगा, घुटने लगा था।

ओम प्रकाश वाल्मीकि की यह कहानी अतिक्रमण का शिकार होती प्रतीत होती है। इसमें वस्तु जगत का आनंद नहीं, अपितु, दारुण दु:ख भोगते लोगों की बेचैनी है। यह कहानी पुराने रीति और दस्तूरों पर भी चोट करने में पूर्ण सफल रही है।

4.3.5 कहानी की समीक्षा

दलित वर्ग पर सटीक लिखने वाले लेखकों में एक नया और महत्वपूर्ण नाम और जुड़ गया है श्री ओम प्रकाश वाल्मीकि का। ओम प्रकाश जी का साहित्य यथार्थ से बहुत ही गहरे से जुड़ा है। उनकी सलाम कहानी भी संवेदनशीलता और अनुभव की कहानी है। यह एक ऐसे यथार्थ से सामना कराती है जहं सालों साल की पीड़ा अंधेरे कोने में दुबकी पड़ी है।

यह कहनी जीवन-संघर्ष की कहानी है। लेखक की बेचैनी का लिखित दस्तावेज है। दलित जीवन की व्यथा और छटपटाहत इस कहानी की विशेषता बनकरर रह गई है।

लेखक ने साहित्य में वर्चस्व की सत्ता को चुनौती-सी दी है। दबे-कुचले, शोषित-पीड़ित जन समूह को मुखरता देकर उनके आजू-बाजू फैली विसंगतियों पर भी चोट की है। यह चोट दलित विमर्श को सार्थक और गुणात्मक बनाती प्रतीत होती है।

वस्तुत: इस कहानी में वस्तु-जगत का आनंद नहीं, अपितु दारुण दु:ख भोगते आ रहे कमजोर मनुष्यं की तिलमिलाहट अधिक है।

इस कहानी में जाति-बिरादरी और ऊंच-नीच तथा असामन ता से भी अधिक सदियों से चले आ रहे रीति-रिवाजों और दस्तूरों का मुद्दा विशेष रूप से उठाया गया है।

कहानी का मूल संवेदना

इस कहानी की मूल संवेदना पुराने रीति-रिवाजों और दस्तूरों की रही है। यह सच्चाई भी है कि आज भी पिछड़े और दूर-दराज के कुछ गांव में यह स्थिति देखी जा सकती है। गांवों में जातिवाद अपनी गहरी जड़ें जमाए है और गांवों में ही **क्यों** बल्कि शहरों में भी जातिवाद खूब सिर उठाकर चलता है। हां, यह बात जरूर है कि आज उसके पैर शहरों में नहीं के बराबर रह गए हैं। जो

जातिवाद के विरुद्ध हैं वे ही अपने नाम के आगे खूब 'सरनेम' लगाते हैं बल्कि आज तो ऐसी-ऐसी जातियां सुनने को मिल जाती हैं जो पहले कभी सुनी ही नहीं गई थी।

4.3.6 कहानी कला के कुछ तत्व इस प्रकार हैं, यथा (अ) कथावस्तु, (आ) पात्र और चरित्र-चित्रण, (इ) संवाद, (ई) देशकाल और वातावरण, (उ) भाषा-शैली, (ऊ) उद्देश्य।

कहानी कला के तत्वों का विस्तारपूर्वक वर्णन निम्न प्रकार से है-

(अ) कथावस्तु- कथावस्तु की दृष्टि से 'सलाम' कहानी बड़ी ही सशक्त है। कहानी की कथावस्तु ही पूरी कहानी की 'जान' बनी हुई है। घिसे-पिटे, पुराने रीति-रिवाजों और दस्तूरों को ढोने के लिए शहर में कार्य करने वाले जुम्मन को गांव के रीति-रिवाजों और दस्तूरों के आगे नाक तक रगड़नी पड़ती है। यहां मानवता और आधुनिकता का हृदय चित्कार उठता है।

(आ) पात्र ओर चरित्र-चित्रण- कहानी 'सलाम' के सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण कहानी की मांग के अनुसार ही बन पड़ा है। सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण अपने-आप में उभरकर आया है। इसके प्रमुख पात्र है- हरीश, कमल, जु□मन और बल्लू रांघड़। इस कहानी में लेखक ने सभी चरित्रों के चरित्र को खासी जीवंतता प्रदान की है।

(इ) संवाद- संवाद भी कहानी कला का विशेष और प्रमुख तत्व है। संवाद से कहानी में जान आ जाती है। संवाद हमें कहानी से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। वास्तविकता से रूबरू कराते है। 'सलाम' कहानी में संवादों का कमाल देखते ही बनता है। यथा-

बल्लू रांघड़ गुस्से में फनफनाता चल दिया। जाते-जाते चेतावनी देकर बोला- 'इन सहर वालों कूं कह देणा, कव्वा कबी बी हंस ना बण सके हैं।' बल्लू के जाते ही कमल ने हरीश से पूछा- 'कौन था यह?' इस तरह डरा-धमका क्यों रहा था?' हरीश ने चुप रहने का इशारा किया।

10-12 साल के नाराज बच्चे और बूढ़े का संवाद देखिए-

'पर क्यू! क्या हुआ है इसमें?' बूढ़े ने तल्खी से कहा।

'मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी मैं नी खात्ता।' लड़के ने दूर हटते हुए कहा।

'मुसलमान...! कौण मुसलमान?'

'वो जो गड़ा वहां बैट्ठा रोट्टी बणा रा है' लड़के रोटी बनाने वाले कारीगर की ओर इशारा किया।

वस्तुत: संवादों की अपनी जुबान होती है, जो पूर्णरूपेण अपने-आप में सक्षम होती है।

(ई) देशकाल और वातावरण- इस कहानी में पिछड़े हुए गांव को दिखाया गया है। लेखक ने गांव का पूरा चित्र सजीव कर दिखाया है। पाठक पूरी तरह इसमें स्वयं को रचा-बसा पाता है। कहानी की पृष्ठभूमि भी ग्रामीण ही है। कहानी को पढ़ते हुए लगता है- जैसे सब कुछ वास्तविक रूप में सामने ही घट रहा है। इसे लेखक की पूर्ण सफलता माना जा सकता है।

(उ) भाषा-शैली- इस कहानी के पात्रों की भाषा-शैली वैसे तो कहानी की मांग के अनुरूप ही है परंतु कहीं-न-कहीं गाली-कलौच की भी सीमा को तोड़ती दृष्टिगोचर होती है जोकि भद्रता तथा सद्-साहित्य से बाहर की बात हो जाती है। अप्रत्यक्षता का सहारा लेकर उनरे बचकर भी निकला जा सकता था। शैली और शिल्प की दृष्टि से यथार्थ को देखते हुए कहानी सफल कही जा सकती है।

(ऊ) उद्देश्य- कहानी अपने उद्देश्य में शत-प्रतिशत खरी उतरती है। लेखक ओम प्रकाश वाल्मीकि ने जिस उद्देश्यो को लेकर कहानी लिखी है, उसमें वे पूर्ण सफल रहे हैं। उनका उद्देश्य उजाले की किरण में अभी भी अंधेरे की कालिमा के दर्शन कराने का था, वे उन्होंने करा दिए हैं। इस बात का साक्षी कमल उपाध्याय स्वयं भी है जो पहले हरीश द्वारा बताई गई इन हृदयविदारक बातों पर विश्वास नहीं करता था किंतु जब वह हरीश के विवाह में गांव में आत है और यहां के सत्य को स्वयं भोगता है, तब उसकी आंखें फटी की फटी रह जाती हैं।

4.3.7 महत्वपूर्ण व्याख्याएं

(1) 'हरीश सुबह जल्दी उठने की आदत है मेरी। चाहे देर रात दो बजे सोऊं, नींद पांच बजे ही टूट जाती है। मां सुबह पांच बजे से ही पूजा-पाठ में लग जाती है। उनकी खटर-पटर से मैं भी उठ जाता हू। बरसों से ऐसे ही चल रहा है। मां सुबह-सुबह चाय बनाकर मेरे हाथ में थमा देती हैं। अब तो ऐसी आदत पड़ गई है कि यदि छः बजे तक चाय न मिले तो सिर भारी होने लगता है।'

संदर्भ

प्रस्तुत गद्यांश ओम प्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित कहानी 'सलाम' से लिया गया है।

प्रसंग

देहरादून से हरीश की बारात गांव में आई है। उसी में दूल्हे हरीश का अभिन्न मित्र कमल उपाध्याय भी आया हुआ है। बारात स्कूल के बरामदे में ही पसरी हुई है, जहां व्यवस्था के नाम पर अभावों का ही साम्राज्य है। देर रात को सोने से पहले कमल अपने मित्र से अपनी आदत और आवश्यकता के बारे में बतलाता हुआ कहता है-

व्या□या

प्रायः सभी की आदत होती है अथवा दिनचर्या होती है। बारात में तो सब चलता ही है। लेकिन कमल इस **ब्या**ह में भी बाराती से अधिक हरिश का दाहिना हाथ बना हुआ हैं। शादी की रस्म पूरी होते-होते रात के दो बज गए तो हरीश और कमल भी बरामदे में ही थके-मांदे जगह तलाश कर सुस्ताने से लगते हैं। तब कमल हरीश से अपनी सुबह-सवेरे उठने की तथा उठते हुए छः बजे तक चाय पीने के विषय में बताता है और यह भी बताता है कि यदि किसी कारण से उसे पांच से छः बजेके बीच सुबह-सवेरे चाय न मिले तो उसके सिर में काफी दर्द होने लगता है, इसलिए प्रातः चाय उसके लिए नितांत आवश्यक है, एक दवा है।

विशेष

हरीश और कमल गहरे मित्र हैं। इसलिए कमल उससे अपनी आदत की बात बेबाक तरीके से बयान कर देता है। यह गद्यांश कहानी का मूल भाग है। इसी के बाद से कहानी को पूर्ण गति मिलने लगती है।

(2) 'तभी तो कहूं- जातको (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जाकरो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बणना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जांगे। यो न घर के रहेंगे न घाट के। गांव की नाक तो तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी। क्या तरूरत थी लड़की कू पढ़ाने की। गांव की हवा बिगाड़ रहा है तू। इब तेरा जंवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रह है... उसे समझा दे... 'सलाम' के लिए जल्दी आवे।' बल्लू ने फैसला सुनाया।

संदर्भ

यह गद्यांश ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' से उद्धृत है।

प्रसंग

जब दलित वर्ग का दूल्ह 'हरीश' गांव के उच्च वर्ग रांघड़ परिवारों में 'सलाम' का दस्तूर निभाने के लिए जाने से साफ-साफ मना कर देता है तो इसकी भनक बल्लू रांघड़ को लगती है। तब वह फनफनाता हुआ जुम्मन के घर आकर उसे चेतावनी के रूप में हिदायत देता हुआ धमकी भी देता है।

व्याख्या

गांव के दस्तूर के अनुसार कुछ रिवाज है कि उच्च वर्ग के परिवारों में सेवा, छोटे-मोटे काम करने वाले निम्न वर्गीय जातियों के घर जब भी कोई विवाह होता है तब दूल्हा अपनी सास के साथ उच्च वर्ग के परिवारों के द्वार पर जाकर 'सलाम' करता है। तब उन घरों की औरतें उन्हें बर्तन, वस्तु, अनाज तथा अन्य सामान उपहार के रूप में देती है। हरीश इस दस्तूर को निभाने से जब अपने ससुर, पिता आदि सभी बुजुर्गों को मना कर देता है और इसकी भनक जब रांघड़ जाति के बल्लू रांघड़ को लगती है तब वह जुम्मन के घर आ धमकता है और उसे खरी-खोटी सुनाने लगता है। जुम्मन ऋषिकेश के सरकारी कार्यालय में कार्य करते हुए भी गांव के रीति-रिवाज के अनुसार बल्लू की सारी बातें सिर झुकाकर सुन लेता है। सुनने के बाद अपनी मजबूरी भी बताता है। किंतु बल्लू उसकी एक भी नहीं सुनता और वहां से फनफनाता हुआ चला जाता है।

विशेष

इस गद्यांश में उच्च वर्ग का दलित वर्ग पर दबदबा स्पष्ट दिखायी देती है। इस गद्यांश में वही उक्ति चरितार्थ होती है- 'का समरथ को दोष गुसाई।'

(3) 'खड़ंजे पर फिसलन थी। नालियों में बहते पानी से बचते-बचते वह गली के मुहाने पर एक खुली और रेतीली जगह पर आ गया। सामने ही सड़क के पार एक छप्परनुमा दुकान थी, जिसमें एक किनारे पर भट्टी बनी थी। भट्टी के साथ ही एक चबूतरा भी था जिस पर लकड़ी के खोके में पान-बीड़ी, जर्दा और तम्बाकू आदि की थैलियां रखी थी। साथ ही दो-तीन बदरंग से डिब्बे रखे थे। भट्टी में सुलगते कोयलों से गहरा काला धुआं निकल रहा था, जिसका कसैलापन उसने अपने फेफड़ों में महसूस किया। दीवार पर किसी सिने तारिका का अर्द्धनग्न बदरंग कैलेंडर टंगा था। जो धूल और धुएं के हमलों से मटमैला हो गया था।'

संदर्भ

यह गद्यांश ओं प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' से लिया गया है।

प्रसंग

जिस गांव में हरीश की बारात गई है उसी गांव की एक चाय की दुकान का यथार्थ वर्णन इस गद्यांश में किया गया है। इसी दुकान में हरीश का खासमखास दोस्त कमल उपाध्याय चाय पीने की इच्छा से जाता है। इस दुकान का पता पिछली ही रात को बारात में आए हरीश के ताऊजी ने कमल को बताया था।

व्याख्या

कमल को सुबह ही चाय पीने की आदत है। इसी चक्कर में वह गांव की तंग, गंदी गलियों और फिसलन भरे खड़ंजों को पार करता हुआ बड़ी सड़क के किनारे बनी इस चाय की दुकान पर आता है। चाय की दुकान की खस्ता और गंदी हालत देखकर वह परेशान हो उठता है। भट्टी के कोयलों के धुएं का कसैलापन वह अपने फेफड़ों में जाता हुआ महसूस करता है। परंतु चाय पीना उसकी मजबूरी भी है, आदत और आवश्यकता भी, क्योंकि सुबह के छः बजे तक यदि उसे चाय न मिले तो उसके सिर में दर्द उभरने लगता है। इसीलिए वह चाय की दुकान के मलिक जर्जर बूढ़े से चाय देने के लिए कहता है।

विशेष

ओम प्रकाश वाल्मीकि जी ने इस गद्यांश में भी गांव के गली-कूचे और फिसलन भरे खड़ंजों का बड़ा ही जीवंत वर्णन किया है। वे यथार्थ और वास्तविकता को अपनी कहानी में निरंतर बनाए रखते हैं। इसी प्रकार गांव की चाय की दुकान का चित्रण भी इसी गद्यांश में बड़ा ही स्वाभाविक बन पड़ा है। इस दुकान से ही कहानी 'सलाम' की जड़ें और फिर उनमें से उप-जड़ें निकलती हैं और कहाानी गतिमान होकर अपने उद्देश्य तक पहुंचती है।

गतिविधि

किसी दूर-दराज के पिछड़े गांव में डाकर वहां के इस प्रकार वातावरण का जायजा लेकर आप भी किसी और समस्या अथवा अभाव को ोआधार बनाकर कहानी लिखने का प्रयास कीजिए।

क्या आप जानते हैं ?

चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद के समकालीन थे। प्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें 'अमर कथा शिल्पी'की संज्ञा से विभूषित किया है।

मुंशी प्रेमचंद को 'उपन्यास सम्राट' के नाम से सर्वप्रथम बंगाल के वि□यात उपन्यासकर शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने संबोधित किया था।

मोहन राकेश जी की सबसे बड़ी उपलब्धि उनका नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' था जो सन 1958 में प्रकाशित हुआ था।

मन्नू भंडारी ने साफ सुधरी सुपर हिट फिल्म 'रजनीगंधा' की कहानी लिखी थी।

ओम प्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित 'जूठन' उनकी अपनी आत्मकथा है जिससे उन्हें हिंदी साहित्य में पहचान और प्रतिष्ठा मिली।

4.4 सारांश

'उसने कहा था' कहानी में स्वार्थ और बलिदान दोनों ही अपने चरम पर रहे हैं। कहानी का कैनवास काफी विस्तृत रूप लिए हुए है। कभी-कभी बचपन की बात बहुत अंदर तक घर कर जाती है और समय आने पर रंग लाती है। यही वास्तविकता इस कहानी में दिखलाई गई है। बाजार में ऐसे ही मिलने वाली आठ वर्षीय लड़की बड़ी होकर लहना के सूबेदार की सूबेदारनी बन जाती है। सूबेदार भी पास ही के गांव के हैं। जब फिर से लाम पर आने का बुलावा आता है तब सूबेदारनी लहना को बुलाकर अपने पति और पुत्र बोधा सिंह के जीवन की रक्षा की भीख मांगती है। लहना अपने प्राणों की परवाह न करके पिता और पुत्र दोनों की रक्षा करता है। बोधा सिंह सूबेदारके पांच बच्चों में से एक ही बचा है।

प्रेमचंद द्वारा रचित 'ठाकुर का कुआं' कहानी यथार्थवादी है। मानवीय सोच से ओत-प्रोत कहानी है। इसमें जोखू और गंगी की दयनीय स्थिति दर्शायी गई है। गंगी को सुलझी हुई, समझदार स्त्री के रूप में दिखाया गया है। वह कर्तव्य-परायण दिखलाई गई है, जो संघर्ष करने में पीछे नहीं रहती और जुझारू प्रवृत्ति की है। जोखू तो बस कहानी का संबल मात्र ही बनकर रह गया है, किंतु वह है प्रखर बुद्धि वाला। दोनों पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति समर्पित भव रखते हैं। दोनों के बीच अच्छी और सच्ची सोच हैं।

'मलबे का मालिक' मोहन राकेश की यथार्थवादी कहानी है। मानवीय सोच कितनी स्वार्थी हो सकती है- यही इस कहानी में दिखलाया गया है। विश्वासघात भी इस कहानी में अपने चरम पर है। 'रक्षक ही भक्षक' कैसे होते हैं, ये भी इस कहानी में देखा जा सकता है। व्यक्तिगत स्वार्थ में रंगे चरित्र यही शिक्षा देते हैं कि भौतिक वस्तुएं जीवन से कही ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई हैं। अब्दुल गनी 'बेचारा' बनकर रह गया है। कहानी अपने प में पूर्ण सफल है।

मन्नू भंडारी की कहनी 'यही सच है' पूर्णरूपेण सामाजिक कहानी है। मानवीय सोच की कहानी है। आज के आधुनिक युग की कुप्रवृत्तियों से आतंकित भी दिखती है- दीपा कानपुर से कलकत्ता अकेली यात्रा करने की सोचकर कितनी उधेड़-बुन में लग जाती है। यहां नारी को लता की उपमा **क्यों** दी जाती है, इस ओर भी यह कहानी इशारा करती प्रतीत होती है। छोटे-छोटे चरित्र भी अपनी मौजूदगी दर्ज कराते हैं। यह मध्यम वर्ग की अच्छी तथा बेबाक कहानी है। साथ ही नारी प्रधान तो है ही।

ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' यथार्थवादी है। मानवीयता की सोच और संवेदना से जूझती कहानी है। आज भी पिछड़े गांव की वास्तविकता का कच्चा-चिट्ठा खोलती कहानी है। कहानी के सभी चरित्र सजीव लगते हैं। शहर और गांव की सोच को बयान करती 'सलाम' कहानी में लेखक ने वास्तविकता को पूरी तरह परोस कर रख दिया है। कुछ ग्रामीणों के दकियानूसी विचार दूसरों को कितनी ठेस पहुंचा सकते हैं- यह इस कहानी के माध्यम से समझा जा सकता है। शायद इसीलिए अधिकांश दलित समाज ग्रामीण वातावरण के इस दलदल से निकलकर, पढ़-लिखकर शहरों का रुख कर रहा है। अत: 'सलाम' कहानी अपने उद्देश्य में पूर्णरूपेण सफल है।

4.5 मुख्य शब्दावली

समष्टि: सार रूप में।

कुड़माई : सगाई।

पारसाल : गत वर्ष।

पट्ट: जांघ।

बास : बदबू।

बू : गंध।

दुआर: द्वार।

बेफिक्रें : अपने ही में रहने वाले/मस्तमौला।

रसभरी आंख : ललचाई आंख।

कुएं की जगत : कुएं के चारों तरफ का चौंतरा, जिस पर खड़े होकर कुएं से पानी खींचा जाता है।

चौकन्नी : सावधान।

बड़ा शहजोर : बड़ा ताकतवर/जोर आजमाने में कुशल।

हिलकोरे : हिलने/गिरने।

चेहमेगाइयां : कानाफूसी।

मरदूद : रद्द किया हुआ, तिरस्कृत, नीच

बत्ती : प्रकाश/रोशनी।

भुरभुरे : खस्ताहाल।

रजनीगंधा : पुष्प काा नाम।

भभम : भड़क उठना, तुनकना, तेज बदबू।

कठोरः दंड/सजा।

गुमान : अनुमान/अंदाजा।

भाल : मस्तक।

सलाम : दस्तूर का नाम।

बिरादरः भाई, बंधू, भाई बंद, सजातीय।

खड़ंजा : ईटों की बनी गली/सड़क।

टेम : टाइम/समय।

बिफरना : क्रोध में आग-बबूला हो जाना, भड़कना, नाराज होना।

बियाबान : निर्जन/सुनसान।

सीकिया : अधिक ही दुबला-पतला/सींक जैसा।

4.6 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. तीन।
2. सन् 1915
3. 'सरस्वती' पत्रिका में।
4. लहन।
5. पिता-पुत्र का।
6. 77
7. 25 वर्ष बाद
8. दो
9. उर्दू में
10. सोजे-वतन (अप्रकाशित)
11. 300 रचनाएं
12. नवाबराय
13. उपन्यास-सम्राट
14. उच्च वर्ग से
15. जोखू
16. दो

17. रक्खे पहलवान
18. मनोरी
19. लच्छे पहलवान
20. चिरागदीन की बेटियां
21. अब्दुल गनी
22. चिरागदीन की पत्नी
23. अब्दुल गनी का बेटा
24. चिरागदीन का मकान हड़पना
25. मध्यप्रदेश में
26. पिता से
27. रजनीगंधा के
28. दीपा का पहला प्रेमी
29. मेहता साहब की बच्ची ने
30. दो
31. सन् 1993 में
32. ब्राह्मण
33. कोई संबंध नहीं था
34. देहरादून से
35. दसवीं तक

4.7 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 'उसने कहा था' कहानी की समीक्षा कीजिए।
2. लहना सिंह और सूबेदारनी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
3. लेखक मुंशी प्रेमचंद का परिचय दीजिए।
4. 'ठाकुर का कुआं' कहानी की मूल संवेदना पर प्रकाश डालिए।
5. 'मलबे का मालिक' कहानी के पात्र अब्दुल गनी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
6. अब्दुल गनी के आने पर रक्खा की मनोदशा का वर्ण न कीजिए।
7. 'यही सच है' कहानी की पात्र 'दीपा' के चरित्र पर प्रकाश डालिए।

8. 'सलाम' कहानी के जुम्मन की विवशता को अपने शब्दों में व्यक्त कीजिए।

दीघ-उत्तरीय प्रश्न

1. 'उसने कहा था' कहानीका सार एवं चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी कला की विशेषताएं लिखिए।

2. कहानी 'ठाकुर का कुआं' में कहानी कला के तत्वों पर प्रकाश डालते हुए कहानी की समीक्षा कीजिए।

3. 'मलबे का मालिक' कहानी का सार लिखिए।

4. 'यही सच है' कहानी का सार एवं इस कहानी की मूल संवेदना पर प्रकाश डालिए।

5. 'सलाम' कहानी का सार लिखिए।

6. 'सलाम' कहानी के कला तत्वों पर प्रकाश डालिए।

4.8 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. मस्तराम कपूर, *साहित्य के निर्माता-चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी',* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

2. मुंशी प्रेमचंद, *ईदगाह* व अन कहानियां, राजा पॉकेट बुक्स, दिल्ली, सन 2004.

3. प्रतिभा अग्रवाल, *साहित्य के निर्माता : मोहन राकेश,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

4. मन्नू भंडारी, *मेरी प्रिय कहानियां,* राजडपाल एंड सन्स, दिल्ली।

1. ओम प्रकाश वाल्मीकि, *'सलाम',* राधा-कृष्ण पेपर बैक्स, नई दिल्ली, सन 2010.

इकाई 5 यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण, आत्मकथा और जीवनी -II

5.1 संस्मरण : विष्णु प्रभाकर : यादं की तीर्थयात्रा : जैनेन्द्र कुमार

विष्णु प्रभाकर का जन्म 21 जून, 1912 ई. में मीरापूर गांव जिला- मुजफ्फरनगर में हुआ था। पंजाब से बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में रचनाएं कर हमें सर्वथा नयी भावभूति से परिचित कराया। कहानी, उपन्यास, संस्मरण, जीवनी, नाटक, एकांकी, रिपोर्ताज, यात्रा वृत्त आदि अनेक विधाओं में विष्णु प्रभाकर का लेखन बिखरा हुआ है। लगभग एक सौ साथ रचनाओं के सर्जक इस लेखक की अविराम रचना यात्रा चकित करने वाली है। खासकर तब जब हम देखते हैं कि जीवन के अंतिम समय 2009 ई. तक वे सृजनरत रहे। उनकी कृतियों को देखकर यह निर्णय करना कठिन है कि उनका कौन सा रूप अधिक महत्वपूर्ण है ? यों उनकी प्रसिद्धि और अपराजेय जिजीविषा का स्तंभ है- 'आवारा मसीहा' नाम से प्रकाशित बांग्ला के अप्रतिम कथा शिल्पी शरतचंद्र की जीवनी। अपने लेखन के संबंध में रचनाकार का कहना है कि :'अपनी बात कहूं लिखना मेरा धर्म और कर्म दोनों हीं रहा है। मजबूरी भी कह सकते हैं, पर प्रयत्न कदापी नहीं। प्रयत्न यदि कुछ किया होगा तो बस अपने को जानने का किया होगा और इसी प्रक्रिया में अपने परिवेष से जुड़ा हूंगा। मेरे शब्द मुखौटे नहीं लगाते, अर्थ की तलाश में भी नहीं भटकते क्योंकि मेरा प्रयत्न अपनी क्षमता के अनुसार अर्थ को शब्द देना रहा है, शब्द के अर्थ नहीं। मेरे सृजन की शक्ति प्रतिभा नहीं प्रीति है। सरल-प्राण प्रीति। 'ढाई आखर' की यही पवित्र पूंजी मेरा मूल धन है।' (विष्णु प्रभाकर, 'क्या खोया क्या पाया', 1982)

अत: यह स्पष्ट है कि विष्णु प्रभाकर का लेखन स्वत: स्फूर्त, सहज एवं आडंबर विहीन है। उनकी भावभूमिआदर्श, यथार्थ एवं स्वाभाविकता की टकराहट से उपजी प्रतीत होती है। उनकी कहानियों में कोमल क्षणों की मार्मिक संवेदना मिलती है। चरित्र चित्रण में कहीं-कहीं आदर्शवादी प्रवृत्ति खटकती जरूर है, लेकिन वह कहानी के प्रवाह और प्रभाव को रोकती नहीं। उनकी अधिकांश कहानियां रोचक होने के साथ-साथ संवेदनशील भी हैं। अब तक लेखक के 'आदि और अंत', 'रहमान का बेटा', 'जिंदगी के थपेड़े', 'संघर्ष के बाद', 'धरती अब भी घूम रही है', 'सफर के साथी', 'खंडित पूजा', 'सांचे और कला', 'मेरी लोक प्रिय कहानियां', 'इक्यावन कहानियां', 'दस प्रतिनिधि कहानियां', 'मेरी कहानियां', 'मेरी कथा यात्रा', 'एक और कुंती', 'जिंदगी एक रिहर्सल', 'जीवन का एक आदमी', 'आखिर क्यों', 'मैं नारी हूं (दो खंडों में)', 'संपूर्ण कहानियां (आठ खंडों में)', 'ईश्वर का चेहरा' आदि लगभग 30 कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके

हैं। अपनी रचनाओं में लेखक ने जिस विधा को सर्वाधिक महत्व दिया वह कहानी ही है। वे गद्य की सभी विधाओं में कथात्मक सूत्र की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनके नाटक भी मंच से कही गई कहानी ही हैं एवं उपन्यास कथात्मक घटनाओं का विस्तार। इसी प्रकार रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी एवं यात्रा-विवरणों में भी कथात्मक सूत्र विद्यमान हैं।

उपन्यायों में वे रोमानी एवं आदर्शवादी तत्वों को मिलाकर कथासूत्र की संभावना को विकसित करते हैं। 'ढलती रात', 'निशिकांत', 'तट के बंधन', 'स्वप्नमयी', 'दर्पण का व्यक्तित्व', 'परछाई', 'कोई तो', 'अर्द्धनारीश्वर', 'संकल्प' आदि विष्णु प्रभाकर के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। उनके उपन्यासों में शिल्प की अपेक्षा भाव पर अधिक बल दिया गया है। वैष्णव वृत्ति, आर्य-समाज एवं गांधी क्र प्रभाव ने उनके उपन्यासों को आदर्शवादी भावभूमि प्रदान की, जिसके कारण ये उपन्यस प्रेम एवं मानवीयता के मजबूत स्तंभ तो बने लेकिन उपन्यास कला के अभाव में मील के पत्थर साबित नहीं हुए। हालांकि 'अर्द्धनारीश्वर' कोो साहित्य अकादमी पुरस्कार के रूप में पर्याप्त सफलात मिली फिर भी विष्णु प्रभाकर आने वाले समय में अपने उपन्यासों से ज्यादा अपनी कहानी एवं जीवनी की वजह से जाने जाएंगे।

एक सिद्ध नाटककार के रूप में विष्णु प्रभाकर की □याति कम नहीं हैं। उनके प्रमुख नाटक हैं- 'नव प्रभाव', 'समादि', 'गांधार की भिक्षुणी', 'डॉक्टर', 'युगे-युगे क्रांति', 'टूटतन परिवेश', 'कुहासा और किरण', 'टगर', 'बंदिनी', 'अब और नहीं', 'श्वेत कमल', 'केरल का क्रांतिकारी' एवं 'सूरदास'। इनके अलावा रचनाकार ने अनेक रेडियो नाटक भी लिखे हैं। इन नाटकों में समकालीन समाज एवं परिवेश के महत्वपूर्ण मुद्दों को प्रामाणिक रूप से अभिव्यक्त किया गया है। लेखक ने तीन उपन्यासों के नाट्य रूपांतरण भी किये हैं- 'चंद्रहार', 'होरी' और 'सुनंदा' नाम से। इसके अलावा उन्होंने अनेक एकांकियों की भी रचना की है। उनके अब तक 17 एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं- 'इंसान और अन्य एकांकी', 'अशोक तथा अन्य एकांकी', 'प्रकाश और परछाई', 'बारह एकांकी', 'दस बजे रात', 'ये रेखाएं ये दायरे', 'ऊंचा पर्वत गहरा सागर', 'मेरे प्रिय एकांकी', 'मेरे श्रेष्ठ एकांकी', 'तीसरा आदमी', 'नए एकांकी', 'डरे हुए लोग', 'मैं भी मानव हूं', 'दृष्टि की कोज', 'स्वाधीनता संग्राम', 'मैं तुम्हे क्षमा करूंगा' एवं 'अभया'। उनकी एकांकियो के केंद्रिय सरोकार स्त्री जीवन एवं उससे जुड़े हुए प्रश्न है। इन एकाकियों में हमें रचनाकार के कुशल कहानीकार एवं नाटककार रूप के समान रूप से दर्शन होते हैं। कहानी की मार्मिकता एकाकियों में उभरकर आ जाती है। उनकी एकाकियां नाटकों से अधिक निर्दोष हैं क्योंकि इनमें तात्कालीनता की अनिवार्यता लेखक को भावूक होने से रोकने में समर्थ सिद्ध होती है। मानवीय अनुभूति एवं सत्य का अन्वेषण उनके एकाकियों के महत्वपूर्ण बिंदु हैं।

विष्णु प्रभाकर ने शरतचंद्र के अतिरिक्त शहीद भगत सिंह,काका कालेलकर, सरदार वल्लभ भाई पेटल, स्वामी श्रद्धानंद और दयानंद सरस्वती की जीवनियां भी लिखी है। महात्मा गांधी का प्रभाव तो रचनाकार के जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक ही बन गया है। निश्चय ही इन महापुरुषों से वे किसी न किसी रूप में प्रभावित रहे पर शरतचंद्र के जीवन पर रचित 'आवारा मसीहा' इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय हुई और इसका अनुवद बांग्ला भाषा मे भी प्रकाशित हुआ। विष्णु जी अपने रेखाचित्रों एवं संस्मरणों के लिए भी जाने जाते हैं। उनकी सफलता यह है कि वे किसी भी व्यक्ति के भीतर उसके बाहरी आवरण के होते हुए भी मुख्य रूप से उसके कोमल एवं मानवीय पहलुओं को पकड़ने का प्रयास करते हैं। जीवन के सामान्य स्तरों पर विद्यमान मार्मिक अनुभूतियो की पहचान कर उसे सहज रूप में प्रस्तुत कर देना रचनाकार की श्रेष्ठ कलात्मक प्रतिभा को इंगित करता है। उनके संस्मरणों में एक गहरी तटस्थ अन्वेषण दृष्टि है जो निरपेक्ष भाव से जीवन स्थितियों को अक्षरों में लिपिबद्ध कर देती है। फोटोग्राफिक यथार्थ, वस्तुनिष्ठ जीवन दृष्टि एवं संक्षेप में परिवेश को संपूर्णता से उद्घाटित करने की क्षमता इनकी कृतियों को जीवंत बनाते हैं। विष्णु प्रभाकर द्वार रचित प्रमुख जीवनी एवं संस्मरण हैं- 'आवारा मसीहा', 'अमर शहीद भगत सिंह', 'सरदार वल्लभ भाई पटेल', 'जाने अनजाने', 'कुछ शब्द कुछ रेखाएं', 'यादों की तीर्थयात्रा', 'मेरे अग्रज मेरे मीत', 'समांतर रेखाएं', 'हम इनके ऋणी हैं', 'मेरे हमसफर', 'राह चलते-चलते', 'भारतीय साहित्य के निर्माता', 'हमारे पथ प्रदर्शक', 'हमसफर मिलते रहें', 'सृजन के सेतु', 'स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती', 'शब्द और रेखाएं', 'आकाश एक है', 'यादों की छांव में', 'उनके जाने के बाद', 'स्वामी दयानंद सरस्वती', 'साहित्य के स्वप्न पुरुष', 'एक दिशाहीन सफर', 'पंखहीन' आदि।

संस्मरण हिंदी गद्य की एक नई किंतु महत्वपूर्ण विधा है। संस्मरण का अर्थ है स□यक स्मरण। कोई लेखक जब अतीत की अनुभूतियों को स्मृति के आधार पर पुनर्जीवित करता है तो संस्मरण का जन्म होता है। संस्मरण वर्तमान को अधिक सार्थक, समृद्ध एवं संवेदनशील बनाता है, अतीत और वर्तमान के बीच एक सेतु का काम करते हुए संस्मरण गुजरे हुए वक्त को पुनर्सजित कर उसका मूल्यांकन भी करता है और स्मरणीय संबंधं का आत्मीयता के आधार पर तटस्थ आकलन भी। डॉ रामचंद्र तिवारी के शब्दों में- 'संस्मरण किसी स्मर्यमाण के जीवन के वे पहलूं, वे संदर्भ और वे चारित्रिक वैशिष्टय जो स्मरणकर्ता को स्मृत रह जाते हैं उन्हें वह शब्दांकित करता है। स्मरण वही रह जाता है जो महत, विशिष्ट, विचित्र और प्रिय हो। स्मर्यमाण को अंकित करते हुए लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता हैं।' (रामचंद्र तिवारी, 'हिंदी का गद्य साहित्य')

संस्मरण का संबंध उस अतीत से है जो अनुभव के रूप में वर्तमान में जीवित है। संस्मरण में रचनाकार आत्मप्रकाशन भी करता है। हालांकि संस्मरण में कहानी, जीवनी, आत्मकथा आदि

अनेक विधाओं की विशेषताएं मिलती है किंतु इन सभी विधाओं में यह रेखाचित्र के सर्वाधिक निकट है। बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुसार, 'संस्मरण, रेखाचित्र और आत्मचरित्र इन तीनों का एक दूसरे से इतन घनिष्ठ संबंध है कि एक की सीमा दूसरे से कहं मिलती है और कहां अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।' (पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी, 'संस्मरण')

हिंदी में संस्मरण-लेखन की शुरुआत 20वीं सदी के तीसरे दशक में शुरु हो चुकी थी लेकिन स्वतंत्र विधा के रूप में उसकी पहचान पांचवें दशक तक ही बन सकी। हिंदी में आरंभिक संस्मरण-लेखक के रूप में पद्मसिंह शर्मा का नाम आता है जिनकी संस्मरणात्मक पुस्तक 'पद्म पराग' 1329 ई. में प्रकाशित हुई। ये संस्मरण भावुक हृदय लेखक के विनोद भाव से युक्त हैं।

इस क्षेत्र में बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीधर पाठक, गणेश शंकर विद्यार्थी, किशोरी लाल गोस्वामी, द्विजेन्द्र नाथ ठाकुर आदि का नाम आदर से लिया जाता है, आरंभिक संस्मरण होने की वजह से इन संस्मरणों में व्यक्तित्व विश्लेषण कम, व्यक्तित्व से अभिभूत होने की प्रवृत्ति अधिक हैं। संस्मरण लेखन में महादेवी वर्मा का महत्वपूर्ण योगदान है, उनके गद्य लेखन में संस्मरण एवं रेखाचित्र एक दूसरे में संक्रमित होते रहते हैं, हालांकि 'पेथ के साथी' में संस्मरण का रंग गहरा है।

संस्मरण लेखन की श्रृंखला में सेठ गोविन्ददास, देवेन्द्र सत्यार्थी, विनोद शंकर व्यास, राधिकारमण प्रसाद सिंह, जैनेन्द्र, पाण्डेय बेचन शमाआ उग्र, राहुल सांकृत्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, हरिवंशराय बच्चन, जगदीश चंद्र माथुर, रामधारी सिंह दिनकर, शिवपूजन सहाय, नगेन्द्र, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, विद्यानिवास मिश्र, कृष्णा सोबती आदि उल्लेखनीय हैं।

यादों की तीर्थयात्रा

'यादों की तीर्थयात्रा' नाम से हीस्पष्ट है कि जिन लोगों की यादों को संस्मरणों में सहेजने की कोशिश की गई है वे लेखक की श्रद्धा के पात्र रहे हैं फिर चाहेवे जगदीश यंद्र माथुर हों, भवानी प्रसाद मिश्र हो या जैनेन्द्र। इन सभी को याद करते हुए विष्णु प्रभाकर की दृष्टि शुभ और सुंदर पर अधिक रही है, चीर-फाड़ पर कम। भारतीय मानसिकता यूं भी प्रशंसा और निंदा दोनों में ही अतिवादी दृष्टि को पोषण करती है, संतुलन बहुत बिरले लेखकों का गुण है। 'कमजोरसे कटकर कोई महान नहीं होता', यह बात हमें कम ही समझ आती है। विष्णु प्रभाकर ईमानदारी से यह बात स्वीकार करते हैं कि खुद से जुड़ा लेखक वास्तविकता से कुछ दूर ही होता है, फिर भी 'यादों की तीर्थयात्रा' में संकलित 'जैनेन्द्र कुमार' शीर्षक संस्मरण में उन्होंने पाठक से जैनेद्र जी का परिचय कराने की सार्थक एवं सफल कोशिश की है। अपने संस्मरण 'जैनेन्द्र कुमार' शीर्षक में उन्होंने पूरी वस्तुनिष्ठता के साथ जैनेन्द्र जी के साथ बिताएं क्षणों को पुनर्जीवित किया है।

जैनेन्द्र कुमार

विष्णु प्रभाकर का जैनेन्द्र कुमार से प्रथम परिचय 1930 के आसपास उनकी मां के माध्यम से हुआ। जैनेन्द्र जी का मां का चित्रण करते हुए प्रभाकर जी लिखते हैं- 'लम्बा कद, धवल वस्त्र, गौर वर्ण और मुख पर मृदु मुस्कान- किसी उद्देश्य के लिए अर्पण कर देने वाली भिक्षुणी की तरह वह मुझे लगी।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')

जैनेन्द्र जी की मां ने उल्लास के साथ अपने बेटे की महिमा और उनके लेखन के जादू का प्रभाव किशोर विष्णु प्रभाकर के मन पर कुछ इस तरह दर्ज किया कि जैनेन्द्र जी की महानता से अभिभूत विष्णु जी में उनकी तरह बनने की इच्छा बलवती होनेलगी। मां से प्रप्त परिचय को उनकी पुस्तकों ने कुछ और पुष्ट किया पर उनका पहला दर्शन तो दिल्ली के कंपनी बाग में हो रही एक सभा में हुआ। इस प्रथम दर्शन का वर्णन करते हुए विष्णव जी लिखते हैं-

'इकहरा बदन, मझोला कद, प्रशस्त ललाट और प्रमुख नासिका, बातें करने पर अंतर में लय हो जाने को आतुर आंखें और तदनुसार कुछ-कुछ तनी हुई ग्रीवा- देखता रहा, पर पास जाकर उनसे बातें करने का सारस नहीं पा सका। कहां वे हिंदी के महान लेखक, कहां एक क्षुद्र पाठक।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')

इस अंश से स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के प्रति श्रद्धा और उनकी महानता का आतंक विष्णु जी पर इस कदर हावी था कि वे उनसे मिले बगैर ही लौट गए। हालांकि जैनेन्द्र के लेखन ने उन्हें प्रेरणा और ऊर्जा से भर दिया और वे लेखक बनने की साधना में लीन हो गए, जैसा कि सर्वविदित है भाग्य भी सदा मेहनत करे वाले का साथ देता है, एक दिन ऐसा भी आया जब प्रभातक जी का लेखन 'हंस' पत्रिका की शोभा बढ़ाने लगा और जब 'हंस' पत्रिका के संपादक जैनेन्द्र कुमार हो गए तो 1937 के आसपास विष्णु प्रभाकर अपनी कहानी 'हंस' पत्रिका में छपने के लिए भेजकर उत्सुक हृदय से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे और उनकी प्रतीक्षा रंग लाई जब जैनेन्द्र कुमार का उत्साहवर्धक पत्र मिला। हालांकि अग्रज होने के नाते उन्होंने विष्णु जी को भावना में बहने के प्रति सजग किया पर ऐसा करना किसी वसिष्ठ लेखक का सुझाव ही था जिसमें स्नेह अधिक था दुराग्रह कम। पत्र ने जिस अनौपचारिक संबंध की नींव रखी उससे उत्साहित हो विष्णु प्रभाकर अपने भाई के साथ जैनेन्द्र से मिलने उनके घर पहुंच गए। विष्णु प्रभाकर जी जैनेन्द्र कुमार के घर का वर्णन कुछ इस प्रकार करते हैं-

'वह छोटा सा कमरा जिसके एक कोने में एक मेज कर्सी पड़ी है, चटाई पर बैठे हुए व्यक्तियों से भरा हुआ है और बीच में टहल रहा है इक इकहरे बदन और मझले कद का व्यक्ति जिसने केवल बनियाइन और जांघिया पहना है और कंधे पर डाला है तौलिया। मैं शक्ल से जैनेन्द्र को पहचानता था, इसलिए यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि घूमने वावे व्यक्ति से ही मिलना है।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')उपर्युक्त वर्णन विष्णु प्रभाकर जी की

सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि का सटीक उदाहरण है जो तटस्थ होकर अपने आस-पास के परिवेश का चित्रण करने मेम सिद्धहस्थ हैं। आत्मीय व्यक्त का निर्लिप्त चित्र प्रभाकर जी के संस्मरणों की विशेषता है। जैनेन्द्र जी ने प्रभाकर जी के सुंदर लेखन की सराहना करते हुए उन्हें प्रोत्साहित किया। उनके वाक्य 'You write remarkably well' ने विष्णु प्रभाकर के ऊपर जादू का-सा प्रभव डाला क्योंकि किसी नये लेखक की मुक्त प्रशंसा उन दिनों चलन में नहीं थी। 'चक्षुराग' का जो सिललिला उस दिन से शुरू हुआ वह ताउम्र बना रहा।

जैनेन्द्र कुमार जी के पारखी नेत्रों ने विष्णु प्रभाकर जी की प्रतिभा को पहचान लिया। दोनों का संबंध और आत्मीय हो गया, जब 1937 के शरदकालकी एक राज जैनेन्द्र कुमार गहरे सन्नाटे और घने कुहरे की परवाह न कर विष्णु प्रभाकर के घर पहुंच गए। इस घटना के छः सात दिन बाद 'आश्रिता' कहानी मिलने के बाद उन्होंने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की और कहानी के सूक्ष्म तने-बाने को रचने के लिए विष्णु प्रभाकर जी को बधाई दी। लगभग साढ़े तीन महीने मे ही विष्णु प्रभाकर जैनेन्द्र कुमार के लिए 'प्रिय महोदय' से 'भाई विष्णु जी' बन गए थे। जिससे यह स्पष्ट है कि प्रामाणिक एवं ईमानदार संबंध दायित्वयुक्त था जहं आपसी समझदारी एवं एक दूसरे के लिए सम्मान का भाव था। इसी क्रम क आगे बढ़ाते हुए विष्णु प्रभाकर जी उनके माहिर खिलाड़ी और सिद्ध तैराक होने की चर्चा को आगे बढ़ाते हैं और उनके अच्छे साइकिल चालक होने की बात पर सहज विश्वास नहीं कर पाते। वह जैनेन्द्र जी की सरलता और सादगी के पीछे दबी उनकी गहरी महत्वाकांक्षा को भी रेखांकित करते हैं।

इस महत्वाकांक्षा केसाक्ष्य स्वरूप कई उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं जैसे उन्हें सेकेण्ट क्लास में ट्रैवेल करने की दत थी और वायुयान उन्हें बेहद प्रिय थ। छोटे-मोटे चंदे को एकत्रित करने से वह परहेज करते थे पर हजार दस हजार के लिए वे चल सकते थे। ये घटनाएं उनकी सादगी के पीछे चिडी दोहरी मध्यवर्गीय मानसिकता को उभारती हैं, उनके जीवन की इस जटिलता के विषय में प्रभाकर जी लिखते हैं- 'साहित्य चर्चा करते हुए उन्होंने मुझसे कहा था कि धर्म-विचाार में मैं सेक्स और अर्थ इन दोनों को ही मनन और अन्वेषण का विषय मानता हूं। सौदे के दो भागों की तरह सेक्स जड़ की भांति धरती के नीचे फैलती है और अर्थ पत्र-पुष्प के समान धरती के ऊपर फैलता है।' (विष्णु प्रभाकर 'यादों की तीर्थयात्रा')

यों तो जैनेन्द्र अहिंसा के पुजारी थे और ऊपरी तौर पर अहिंसा और महत्वाकांक्षा का मेल अनहोनी प्रतीत होता है पर जैनेन्द्र जैसे साधक के लिए यह कठिन नहीं था। जैनेन्द्र अपने ऊपर हुए हमले पर कभी उग्र रूप धारण नहीं करते थे पर भीतर-भीतर खौलते रहते थे और समय आने पर उसका प्रत्युत्तर भी देते थे। वे बेहद हाजिर जवाब व्यक्त थे। एक बार जब उन्हें छकाने के लिए

बार-बार शराब पीने का आग्रह किया गया और उनसे पूछा गया कि आखिर उसमें दोष क्या है? तो उनका उत्तर था कि शराब का नशा उतर जाता है। उनकी प्रखरता का लोहा दुनिया मानती है पर जब एक बार एक बंधु जो हृदय रोग से पीड़ित थे अचानक अस्वस्थ हो गए और प्रभाकर जी के बुलाने पर भी जैनेन्द्र नहीं आए तो विष्णु प्रभाकर को गहरा क्षोभ हुआ और शायद पहली बार उनका जैनेन्द्र से मोह भंग हुआ। आदर्श और व्यवहार के बीच के अंतर ने मध्यवर्गीय गड़बड़झाले की सीवन उधेड़ दी पर अंततः हम सभीतो अदने मनुष्य हैं और मनुष्य को दोष देने का नहीं सिर्फ दोष स्वीकार करने का अधिकार है। स्वयं जैनेन्द्र यही मानते हैं अतः उन्हें इसी दृष्टि से आंकना न्याय संगत होगा। प्रभाकर जी लिखते हैं- 'असाध्य आदर्श की तपस्या साधना है, तपस्या में पतन की गुंजाइश अधिक रहती है, पर इसी कराण जो तपस्या से डरकर बैठा रह जाए, उस अभागे से तो गिरने वाला लाख बार बड़ा है।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')

विष्णु प्रभाकर के अनुसार जैनेन्द्र कुमार अव्यवहारिक एवं एक सीमा तक असहिष्णु भी थे। असहिष्णु इसलिए कि वह विरोधियों से काम नहीं ले पाते थे और उनकी परिषदें अव्यावहारिक दृष्टि की वजह से बिखर जाती थी। वे दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर पाते थे और हर किसी से अपनी शर्तों परकाम करवाना चाहते थे। व्यक्ति जैनेन्द्र की असफलता ही लेखक जैनेन्द्र की ताकत थी। उनके साहित्य में असााध्य को साधने का प्रयास है। उन्होंने किसी विश्वविद्यालय से विद्यार्जन नहीं किया बल्कि जीवन के अनुभवों की भट्टी में तपकर स्वयं साधना कर विद्या का उपार्जन किया, अपनी प्रतिभा को प्रयत्नपूर्वक निखारा। जैनेन्द्र का दार्शनिक कई बार उनके लेखक पर इस कदर हावी हो जाता था कि उनका लिखा बेहद जटिल हो उठता था पर जीवन और जगत की की जटिलता और सूक्ष्मता की यह पकड़ उनके संश्लिष्ट जीवन अनुभवों की ही निसृति थी। उनकी कहानियों में विचारों की बहुलता होती है पर यह तय था कि उनके लेखन पर उनकी गहरी छाप थी। उनके शब्द, वाक्य, भाव, भाषा, विचार सब पर उनका रंग था उनके पास सूक्ष्म पैनी पर्यवेक्षण दृष्टि थी और नव-निर्माण करने वाली बुद्धि। अनुवाद में उनका मन नहीं रमा और अनवरत अध्ययन उनके स्वभाव का बुनियादी गुण नहीं था किंतु यह सच है कि वे एक नितांत मौलिक कलाकार के रूपमें जाने जाएंगे जिनकी अपनी एक मौलिक शैली थी।

हर बड़े कलाकार की ही तरह उनके प्रशंसकों एवं निंदकों की कमी नहीं रही। निंदा करने वालों का आक्षेप था कि तद्युगीन कोई बड़ी समस्या उन्हें उद्वेलित नहीं कर सकी फिर चाहे वह बंगाल का अकाल हो, विश्व युद्ध या सांप्रदायिक हत्या-कांड। कुछ को शिकायत थी कि वे प्रगतिशील नहीं है तो कुछ उन्हें सेक्स के विकृत रूप के प्रचारका दोषी समझते थे। खैर जो भी हो, सत्य हमेशा व्यक्ति सापेक्ष नहीं होता उसकी अपनी भी सत्ता होती है और सच तो यह भी है कि प्रतिभाशाली कभी समाप्त नहीं होता। जैनेन्द्र का उदय धूमकेतु की तरह हुआ था और सिर्फ

धूमकेतु ही क्यों? वे आकाश में झिलमिलाते ऐसे एकाकी तारे के रूप में आज भी मौजूद हैं जो अपनी रोशनी से अनेक पथिकों को राह दिखा सकात है।

भाषा और शिल्प

विष्णु प्रभाकर की रचनाओं में भावपक्ष की प्रधानता है, इसलिए शिल्पगत प्रयोग बहुत कम है। उनके यहां कला या शिल्प की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, बल्कि वह संवेदनाओं को सार्थक ढंग से प्रस्तुत करने का माध्यम है। समुद्र के जल और उसमें उठती हुई लहरों की तरह शब्द और अर्थ में भी अन्योन्याश्रित संबंध होता है, वैसे ही विष्णु प्रभाकर के संस्मरणों में भाव एवं शिल्प का संतुलन है। स्वतंत्र सत्ता होते हुए भी दोनों एक दूसरे से परस्पर गुंथे हैं- 'गिरा अस्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। अपनी रचनाओं के बारे में विष्णु प्रभाकरने स्वयं कहा हैकि ये रचनाएं प्रयत्न जनित नहीं हैं, बल्कि स्वयं को जानने एवं परिवेश से जुड़ने का माध्यम हैं। लेखक के अनुसार उनके शब्द मुखौटे नहीं लगाते, अर्थ की तलाश में भटकते नहीं हैं, बल्कि स्वाभाविक रूप से अर्थ को संप्रेषित करते हैं। भाषा की यही सादगी और सहजता विष्णु जी के संस्मरणों की जान हैं। बोलचाल की भषा का रचनात्मक प्रयोग कविता में जिस प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र और नागार्जुन ने किया है, वही काम गद्य रचनाओं में खासतौर पर संस्मरणों में विष्णु प्रभाकर ने किया हैं। बोलचाल की भाषा का संस्कार विष्णु जी के संस्मरण 'श्री जैनेन्द्र कुमार' में आद्यंत विद्यमान हैं। संस्मरण के आरंभ में ही भाषा का यह रूप जैनेन्द्र कुमार की माता जी और लेखक के बीच संवाद के दर□यान स्पष्ट हो जाता है-

'उन्होंने मुझसे पूछा0 'क्या पढ़ रहे हो?'
मैंने उपन्यास का नाम बता दिया। सुनकर बोली, 'परख पढ़ा है?'
'जी नहीं। किसने लिखा है?'
'जैनेन्द्र कुमार ने।'
'अच्छी पुस्तक है?'
'उस पर हिंदुस्तानी एकेडमी से पुरस्कार मिला है।'
'मैंने सोचा, जिसे पुरस्कार मिला है, वह अवश्य महान लेखक हैं।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')

उपर्युक्त संवाद में बोलचाल की सामान्य भाषा का जिस सादगी और सहजता से प्रयोग किया गया है, वह पाठक को चमत्कृत नहीं करती बल्कि आत्मीयता के साथ चलेन का आग्रह करती है। उस आत्मीयता को लेखक ने संवादों के माध्यम से और भी विश्वसनीय बनाया है। ये संवाद स्वत:स्फूर्त एवं मानवीय संबंधों की ऊरूमा से भरे हुए हैं और संस्मरण को कृत्रिमता के बोझ से बचाए रखते

हैं। विष्णु प्रभाकर के घर अचानक रात में जैनेन्द्र कुमर के पहुंचने के प्रसंग में संवाद शैली का प्रभावी प्रयोग किया गया है–

'किवाड़ खोलकर किसी तरह कहा, नमस्ते! आप इस समय...!'

जवाब दिया, 'हां, इधर आना हुआ, सोचा तुमसे मिलता चलूं, कहानी पर से तुम्हारी गली का नाम पढ़ा था।'

'बड़ी कृपा की आपने।'

'अरे कृपा क्या बला है', उन्होंने कुछ हंसकर कहा। फिर चढ़ते-चढ़ते पूछा, 'बड़ा सन्नाटा है?'

'जी छोटे शहर में रात जल्दी आ जाती है और फिर यहां तो बिजली भी नहीं है।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की तीर्थयात्रा')

मेजबान की विनम्रता एवं अकिंचनता, जैनेन्द्र कुमर का अनौपचारिक एवं खुला व्यक्तित्व एवं छोटे शहरकी परिस्थितियां- सब कुछ इन संवादों के माध्यमसे जीवंत हो उठे हैं। इनमें कोई शिल्पगत चमत्कार भले हीन हं, प्रमाणिकता और संप्रेषणीयता जबरदस्त है जिसके कारण रचना सीधे पाठकों के दिल में जगह बना लेती है।

लेकिन पारदर्शी और सहज होने के बावजूद विष्णु प्रभााकर की भाषा अखबारी भाषा की तरह सपाट, इकहरी और तुरंत हो जाने वाली भाषा नहीं है। छायावादी रचनाकारों की भाषा में जिस तरह की जटिलता और कृत्रिमता आ गई थी उसका विष्णु प्रभाकर के यहां नितांत अभाव है। पारदर्शिता और सादगी उनकी भीषा का सामान्य स्वभाव है। अपने परिवेश से गहरी संपृक्त के कारण उसमें जीवन की ऊष्मा और जीवंतता है। यह भाषा सामान्य बोलचाल के काफी निकट है, जिसमें वस्तुनिष्ठता के बावजूद प्रत्यक्ष संवााद करने की क्षमता है। इस रूप में उनकी भाषा अपने श्रद्धेय जैनेन्द्र कुमर की भाषा से भी बिल्कुल अलग है, जिसमें कभी-कभी इतनी दार्शनिक जटिलता आ जाती है कि पाठक उसे भेद नहीं पाता। यही वस्तुनिष्ठता विष्णु प्रभाकर के संस्मरणों की विशेषता है जो एक ओरुसे अतिशय भावुकता से बचाती है तो दूसरी ओर उसे इतिवृत्तात्मक विवरण नहीं बनने देती। संस्मरणों में इन दोनों अतिवादों का खतरा बना रहता है क्योंकि जिस व्यक्ति को आाप निकट से जानते हैं, उनका चित्रण करते समय रचनाकार या तो भावुकता में बह जाता है या घटनाओं एवं प्रसंगों के तत्थात्मक विवरण के जाल में फंस जाता है। 'श्री जैनेन्द्र कुमाार' नामक संस्मरण में विष्णु प्रभाकर इन अतिवादों से बचते हुए, जैनेन्द्र कुार का तटस्थ चित्रण कर पाए है, यह इस संस्मरण की अन्यतम विशेषता है। संस्मरण से एक अंश इस संदर्भ में उद्धृत करना प्रासंगिक होगा–

'जैनेन्द्र जो नहीं हं वह बनना चाहते हैं, पर उसके लिए जो शक्ति चाहिए वह उनके पास नहीं है। शक्ति से अधिक प्रकृति का अभाव है, इसलिए गड़बड़ है। जैनेन्द्र के जीवन में यही उलझन है, यही संघर्ष है। पर व्यक्ति जैनेन्द्र की जो असफलता दिखाई देती है, आलोचक लोग लेखक-जैनेन्द्र की वही सफलता बताते है। उनके साहित्य में असाध्य को साधने की पुकार है, प्रयत्न भी है, पर किसी दिन वे सुलझ सके तो उनका साहित्य युग-युग का संदेश बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।' (विष्णु प्रभाकर, 'यादों की जीर्थयात्रा')

स्पष्टत: विष्णु प्रभाकर की भाषा में बोलचाल की स्वाभाविकता, जीवन की ऊष्म और जीवंतता है जो अपने परिवेश से गहरी संपृक्ति के कारण उपजा है।

5.2 आत्मकथा : गुड़िया भीतर गुड़िया - मैत्रेयी पुष्पा

आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से संबंधित होती है। इसके द्वारा विगत का सिहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व रेखांकित किया जाता है।

5.2.1 गुड़िया भीतर गुड़िया

रेखाचित्र के लेखक से उम्मीद होती है कि वह अपने निजी जीवन के तथ्यों क सच्चई के साथ चित्रण करे। सामान्यत: 'आत्मकथा उपन्यास की भांति व्यक्तिगत मानवीय प्रकृति से संबंधित है पर यह अपनी प्रकृति में उपन्यास की भांति नई खोजों के लिए स्वतंत्र नहीं है। इतिहास की भांति यह तथ्यात्मक रूप से सत्य होने की कोशिश करती है, पर वह इतिहस नहीं है, क्योंकि इसमें तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यह अपने सत्य का कागजी या वस्तुगत प्रमाण नहीं प्रस्तुत करती है। आत्मकथा का सत्य तथ्य और आत्मकथाकार द्वारा तथ्य में जोड़े गए का अर्थ दोनों से हैं।'

परंतु आत्मकथाकार का सत्य पाठक के 'सत्य' से भिन्न हो सकता है। यह भी संभव है कि एक समय का सत्य दूसरे समय में उतना महत्वपूर्ण न हो। अत: इसमें कोई विस्मय नहीं कि अनेक आत्मकथाकारों ने माना है कि आत्मा की पूर्ण इतिहास लिखना असंभव है। इसमें 'कोई भी अपने बारे में पूर्ण सत्य नहीं बता सकता है क्योंकि पूर्ण सत्य लिखने में पूर्ण सत्य को जीने से ज्यादा संघर्ष है।'

अत: यह तय है कि स्मृतियों के पिटारे से तथ्यों का चुनाव जितना टस्थ होकर किया जाएगा आत्मकथा उतनी ही सत्य के करीब होगी।

बर्नार्ड शॉ ने दो टूक शब्दों में कहा है कि 'सभी आत्मकथाएं असत्य है।' हालांकि इस कथन से पूर्णत: सहमत होना संभव नहीं है परंतु इसे अतिवादी कहकर खारिज भी नहीं किया जा

सकता। इतना तो तय है कि आत्मकथा, लेखक को अपने 'स्व' की सीम में, अपने बारे में सत्य उद्घाटित करने का अवसर देती है। फिर चाहे वह सत्य ऐतिहसिक सत्यापित तथ्य न हो। 'एक आत्मकथा विशुद्ध रिकॉर्ड, एक खाता या एक लॉग बुक नहीं होो सकती, क्योंकि इस प्रकार का रिकॉर्ड चाहे कितनी भी बारीकी से क्यों न लिखा गया हो वास्तविक जीवन का कार्टून खींचने के बराबर होगा।'

डायरी, जर्नल, पत्र-लेखन आदि रचना प्रकार भी आत्मकथा के ही स्फुट रूप है। इन्हें व्यक्तिगत प्रकाशन-वाले साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है क्योंकि जाने-अनजाने आत्मांकन करना ही इन विविध रचना प्रकारों का उद्देश्य होता है। प्रश्न उठता है कि आत्मकथात्मक साहित्य आखिर क्यों लिखा जाता है, क्या सिर्फ आत्म परीक्षण, आत्म निर्माण, आत्म समर्थन या अतीत की स्मृतियों के बहाने खुद को पुनर्जीवित करने का मोह या फिर अपनी सांसारिक यात्रा के तमाम भंवरों में खुद को अन्वेषण करने का प्रयास करना भी हो सकता है। कहीं न कहीं लेखक के मन में यह भी छिपा रहता है कि उसके अनुभवों का लाभ पाठकों को मिले। इसके अतिरिक्त लेखन के मूल में कहीं न कहीं कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा भी छिपी होती है। परंपरागत आलचना दृष्टि मानती है कि ऐतिहासिक आत्म की निश्चित पहचान के सत्यापित संकेत ही आत्मकथा लेखन का आधार हैं। पर सत्यापित और निश्चित संकेतों के बिना भी 'आत्म का' पुन: सृजन हो सकता है और यह पुनर्रचना अपने अंतिम रूप में एक कलाकृति ही है। हर रचनात्मक कलाकृति की तरह आत्मकथा भी यथार्थ और कल्पना के सम्मिश्रण से ही बनती है। हालांकि यह संभवत: सर्वाधिक आत्मनिष्ठ साहित्यिक विधा है।

यह सर्वविदित है कि हाल के वर्षों में महिला आत्मकथाओं में इजाफा हुआ है। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा', पद्मा सचदेव की 'बूंद-बावड़ी', शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या तक', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', निर्मला जैन की 'दिल्ली शहर हर शहर' आदि सभी रचनाएं किसी न किसी रूप में आत्मकथात्मक है। कृष्ण अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा में लिखा है- 'मैं अपनी आप-बीती को बिल्कुल तटस्थ मुद्रा के साथ अभिव्यक्त किया है... मेरे मरघट, मधुबन नहीं बने परंतु यहां जलती भावनाओं के शव जिंदगी की ओर खींच ले जाते हैं और एक प्रश्न उभरता है- हम क्यों नहीं मानव बने रह सकते? क्यों नहीं स्वयं मानव रहकर अन्य मानव की अस्मिता स्वीकार कर लेते हैं?

अपने उपन्यासों 'चाक', 'इदन्नमम्' और 'अल्मा कबूतरी' के कारण हिंदी जगत में चर्चित मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा भाग- 1 'कस्तूरी कुंडल बसै' उपन्यस की ही तरह सर्जनात्मक है।

मैत्रेयी की मां कस्तूरी उन्हीं की तरह एक संघर्षशील महिला थी, जिन्होंने अपना जीवन अपनी शर्तों पर जिया। मैत्रेयी को विद्रोही संस्कार विरासत में मिले थे और 'कस्तूरी कुंडल बसै' को हम मां-बेटी की संघर्ष गाथा भी कह सकते हैं। पारंपरिक समाज की जड़ता को तोड़ती यह कथा उनके अंतर्संबंधों के विविध रूप भी उद्घाटित करती है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा का दूसरा भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया' इसी कड़ी में एक और साहसिक प्रयास है। अधिकांश आत्मकथाएं झूठ और आत्मप्रशंसा की अ□यास पुस्तिकाएं लगती हैं, क्यों□कि सच कहने की हि□मत लोगों के पास होती है ज्यादातर लिहाज में या तो कुछ छोड़ दिया जाता है या उसे बचाकर छिपाकर प्रस्तुत किया जाता है। मैत्रेयी ने निर्मम होकर लक्ष्मण रेखाओं को लांघने का जोखिम उठाया है। सच कितना भी परेशान करने वाला हो उसे व्यक्त करना आत्मकथा की अनिवार्य शर्त है।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' स्त्री मन की स्वच्छंद उड़ान और उस उड़ान को रोकने की तमाम कोशिशों की ईमानदार आत्म स्वीकृति है। हिचक-झिझक की सीमा लांघने के उपरांत मैत्रेयी ने डॉ सिद्धार्थ एवं राजेन्द्र यादव के साथ अपने संबंधों को आत्महन्ता बेबाकी के साथ स्वीकार किया है। इस दु:साहसिक आकांक्षा की वजह से मैत्रेयी को न जाने कितनी लांछना-प्रताड़ना झेलनी पड़ी। ग्रामीण पृष्ठभूमि से आयी मैत्रेयी के लिए दिल्ली का महानगरीय जीवन किसी आजायबघर से कम कम न था। जहां दो चोटी बांधने पर गंवारू का लेबल चस्पां कर दिया जाता था और आधुनिक बनने की परिभाषा, ऊंची सैंडल, उस समय की सिने तारिकाओं की तरह पप वाला जूड़ा और चुस्त पोशाकें हुआ करती थी।

ताज्जुब की बात है कि साहित्य जगत में जिसे बोल्ड, साहसिक और आपत्तिजनक कहा जाता है, ऐसा सारा लेखन मैत्रेयी ने घर-परिवर के बीच रहकर किया। अपने पति से उनका संबंध निश्चित ही सर्वाधिक नाटकीय और आश्चर्यजनक है, पति जो एक तरफ मैत्रेयी के यश और सफलताओं पर गर्व करते हैं और दूसरी तरफ उनके 'संबंधों' को लेकर किसी मालिक की ही तरह सशांकित। झांसी-अलीगड़ से होते हुए दिल्ली तक की यात्रा एक गृहिणी की लंबी संघर्ष यात्रा तो है ही स्त्री मन की निर्वाध उड़ान भी है। इस आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी ने दुनिया की तमाम औरतों को जीवन जीने का एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया। उनके सुख-दुख, जय-पराजय, राग-विराग, मान-अपमान, हर्ष-विषाद सिर्फ उनके न होकर हर स्वाभिमानी एवं जागरूक स्त्री की लंबी लड़ाई का हिस्सा प्रतीत होते हैं। उनके जीवन का यह खुला चिट्ठा सच्चाई की मशाल लेकर चलने वालों की प्रेरणा का सबब बना। जिस मनुवादी समाज ने उन्हें कुलक्षिणी, कुल्टा, दुश्चरिता, चरित्रहीन आदि विशेषणों से सुशोभित कर उनकी बदनामी का ढिंढोरा पीट उसी समज के पुरोधा, सम्मान समारोहों में उनके मान-पत्र को पढ़ निपोरते नजर आए।

यह आत्मकथा बिलाशक एक स्त्री द्वारा अपने भीतर की स्वतंत्र स्त्री की खोज है। 'इन दिनों मैं थी, मां और पति के बीच का ऐसा बिंदु जिसका वजूद हिंडोले पर चढञा रहता था। शारीरिक

और मानसिक तौर पर इस छो से उस छोर तक आना और लौटना...। ऐसा क्यों। मैं तो पहले ही मां के सपनों को रौंदती हुई वैवाहिक जीवन चुनकर खुद उनसे अलग हुई थी। मकसद भी साफ था, एक पुरुष साथी मिलने से मेरे रात-दिन सुरक्षित हो जाएंगे। मैं अपने आचरण से पत्नी! लेकिन मानसिक स्तर पर जो दखल देने लगती, वह कौन थी? मैं आसपास देखती किस-किस ने मेरी दृष्टि बदली और दृष्टिकोण पलटकर रख दिया। शायद वह मां थी जो परोक्ष रूप से मेरा रास्ता परिवर्तनकामी लोगों की ओर ले गई।' मां ही की तरह मैत्रेयी ने भी जीवन पर्यंत सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति की गुहर लगाई। उठारह खंडों में विभक्त उनका यह आत्मविवेचन 'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी' से शुरू होकर 'हम न मरहिं न मारहिं संसारा' पर खत्म होता है।

जिस नलिनी के तले सरोवर भांति-भांकि के जीवन-चक्रों संरक्षित करता हु फैला होता है उसका कुम्हलाना, निश्चय ही समझ से परे हैं। परंतु स्त्री जीवन की यही विडंबना है, जिसकी परिधि अनेक वर्जनाओं, निषेधों, रीति-रिवाजों, कुरीतियों एवं सामूहिक दमन से मिल-जूलकर बनी है। उसकी हंसी, उसकीबेशर्मी है और उसके स्वप्न उसकी ढिठाई हैं। हर पति अपने लिए एक आधुनिका चाहता है। पर इस आधुनिकता बोध की परिभाषा वह स्वयं गढ़ता है। अधिकंश स्त्रियों के लिए आधुनिक हो जाना या कहलाना एक खुला विकल्प न हकर उनकी मजबूरी है।

सच ही है कि पत्नी से बड़ा 'झॉक एब्जारबर' नौकर भी नहीं क्योंकि उसके पास नौकरी छोड़ने का विकल्प खुल है। इस छोटे से अध्याय में मैत्रेयी ने अपने जीवन के उस अनुभव खंड को चुना है, जब उन्होंने बिना अनुमति डॉ सिद्धार्थ के साथ पार्टी में नृत्य करने का जोखिम उठाया। यह नाचना महज औपचारिकता निभाना नहीं है, बल्कि मैत्रेयी की अपनी इच्छा का परिणाम है। ऐसी च्छिा जो किसी भी विवाहिता के लिए सारी आचार संहिताओं में वर्जित थी। पति, जो शादी-शुदा स्त्री पर मालिकाना हक रखते हैं, अपने लिए आधुनिका पत्नी अवश्य चाहते हैं पर विवाहिता के मन का यह तनिक सा विचलन उनके विश्वास को जर्जर और ध्वस्त करे देता है। एक विवाहिता स्त्री मैत्रेयी के लिए जरूरी था कि वह पति की इच्छा से नाचे-गाए, रसोई बनाए, पकवान बनाए, घर की साज-सज्जा का ध्यान रखे और ऐसे में उन्होंने किसी पर पुरुष के हाथों में अपना हाथ दे दिया। पने मन के लगाव को पूरी ईमानदारी से सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया। इस बेखौफ-बेलस कदम का पश्चाताप तो उन्हें करना ही था। जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है- 'तुम्हरे पांव त खुल गए दिल्ली आकर...। इन्हें गेरु घोलने (कलह खींचने) की बुरी दत है। तनाव का सूत्र ऐसा तना है जैसे बिजली क नंगा तार हो। छूते ही झटका लगेगा। पर छूना ही किसलिए? झटका खाना हमारी ड्यूटी में शामिल हो तो भी हम नहीं छूएगे।'

आदमी हैं हम, पशु तो नहीं...। वे निकल गए। मैं दस मिनट बाद उठी और द्वार बंद करने पहुंची देखकर चौंक गई, बाहर वाले बरामदे में खड़े थे।

'अरे, गए नहीं?'

'किस मुंह से जाऊं? तुमने छोड़ा है जाने लायक?'

'बात क्या है? मैने गंभीर होकर पूछा, रिरियाकर नहीं।'

'क्यों मेरे मुंह से कहलवा रही हो?'

'अरे! यह भी कोई बात हुई? मैं अंतर्यामी हूं क्या?'

'तो चलो सुन लो' वे सख्ती से मेरी बांह पकड़कर भीतर आ गए।

'सुनो कि लोग कह रहे हैं, मिसेज शर्मा को डॉ शर्मा नही भी रहे। लोग, लोग कह रहैं, मिसेज शर्मा को डॉ सिद्धार्थ डुगडुगी की तरह नचा...।'

'डुगी डुगी?'

'हां, डुगडुगी। वह तम्हारी कमर में हाथ डालकर मनमाने तौर पर नचा नहीं रहा था?'

'अच्छा तो यह बात है।... लोग नहीं कह रहे, मेरे पति कह रहे हैं। उस रात की बात... तूल पकड़कर यहां तक आ गई। इन्होंने भी तभी मुझे क्यों नहीं रोक दिया था? और नहीं तो पकड़कर बिठा ही लेते। मैं तो यह सोच रही थी कि गैरमर्द के उठाए उठाना यहं गलत है या सही?'

'तुमने तो सब कुछ देखा था, मैंने छिपकर तो कुछ नहीं किया और वहां नाचने वाली अकेली मैं ही तो नहीं थी, दूसरी भी थी। वे नहीं हुई डुगडुगी? मेरे पीछे तु□हारे विभाग के लोग क्यों पड़ गए?'

विचारणीय है कि जिस स्त्री को डुगडुगी कहा जा रहा है वह डॉ साहब की अपनी पत्नी है। 'डुगडुगी' जिसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्वनहीं है उसकी आवाज बजाने वाले की इच्छा पर निर्भर है। वर्षों से स्त्री 'डुगडुगी' ही तो रही है कभी पिता की, कभी पति की, कभी पुत्र की, तो कभी ससमाज व्यवस्था के नियमों की। आश्चर्य है कि आधी दुनिया को आवाज उसकी अपनी अभिव्यक्ति न हकर बजाने वाले के हाथों के हुनर की गुलाम है।

एक स्वाधीन स्त्री को संस्थानों के अनेक रूपों से जूझना पड़ता है समाज, परिवार, धर्म आदि के साथ-साथ उसे स्वयं से भी जूझना पड़ता है, क्योंकि स्त्री की पराधीनता के पीछे उसके अपने पारंपरिक स्वरूप से गहरी आसक्ति भी रही है और अपनी इस कुलीन, शालीन छवि की रक्षा में वह स्वयं प्राणपण से लगी रहती है।

इस संदर्भ में 'सिमॉन दि बोउवार' का उद्धरण दृष्टव्य है, 'यह ठीक है कि आधुनिक समाज में पहले की अपेक्षा स्त्री के लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियं मिलती हैं किंतु अब भी उसको पहला कदम सामाजिक विद्वेष के बीच ही उठाना पड़ता है।...

एक नई शुरुआत में जो एक गोरे अमेरिकी को पहहले से विरासत में मिली होती है, एक औरत को एक नीग्रो की ही तरह अपने आस-पास के माहौल से जूझना पड़ता है। ...स्त्री चाहे विवाहित हो या अपनी गृहस्थी और परिवार में रहती हो, एक पुरुष की तुलना में परिवार उसके कार्य-व्यवसाय को अपेक्षित महत्व नहीं देता। परिवार उस पर कार्यो क बोझ तो लादता ही जाता है, आचार-व्यवहार के नाम पर, कदम-कदम पर उसके कामों में अनावश्यक हस्तक्षेप भी करता है।'

यह अनाधिकृत हस्तक्षेप अनेक छद्म रूपों में प्रकट होता है। कभी प्यार से, कभी मनुहार से, कभी गरज कर तो कभी हेकड़ी दिखा उसे बंधनों में बांधने का जतन किया जाता है। छोटी-सी पार्टी में किसी गैर मर्द के साथ नृत्य, जो किसी पुरुष के लिए मनोरंजन होता है, स्त्री के लिए अय्याशी बन जाता है। उसकी स्वतंत्रता उसकी उच्छृंखलता बन उसे चर्चाओं का विषय बना देती है जो कभी दबी जबान तो कभी निर्मम होकर उसकी जीवन को उधेड़, उसे लज्जित और अपमानित कर, अपराध बोध से भर देती है।

'पुरुषस्य भाग्यं, स्त्रीचरित्रं... किमपि न जानाति...' अर्थात पुरुष के भाग्य और स्त्री के चरित्र को कोई नहीं जान सकता। महत्वपूर्ण है कि पुरुष के भागस से घर, परिवार, समाज एवं राष्ट्र का विकास, समृद्धि और शांति जुड़ी हुई है। किंतु स्त्री का जीवन तो चारित्रिक शुचिता से इतर किसी अन्य उपलब्धि के लिए बना ही नहीं है। स्त्री के जिस चरितर को गोपन बना उसे अंधेरों मे गर्क करने की आजादी पुरुष ने अपने हाथों में ले ली उस चारित्रिक शुचिता के परे जैसे उसकी दुनिया की संभावना ही न हो। हैरानी होती है कि इक्कीसवीं सदी में भी स्त्री की शारीरिक पवित्रता हीउसकी उपलब्धि का पासपोर्ट है। वह मॉडर्न हो सकती है, कामकाजी हो सकती है पर उतनी ही जितनी पुरुष अनुमति दे। विवाह के रूपमें जिस कारावास में उसकी आकंक्षाओं को घोट दिया जाता है और स्वाभिमान को मसल दिया जाता है उसका प्रतिरोध संभव है कई बार अप्रत्याशित रूप से प्रकट हो जैसा कि मैत्रेयी ने स्वयं स्वीकारा है- 'जो लोग इल्जाम लगा रहे हैं,उन्हें जाकर बता दो कि शादी के बाद मुझे मेरे हिसाब से कारावास मिला है, जिसके लौह-कपाट मैं तभी से तोड़ने में लगी हूं और देखन चाहती हूं कि इस दुनिया के अलावा भी कोई दुनिया है? पति के अलाावा कितने लोग हैं बाहर? वैसे पति से बैर भाव नहीं पाला, मगर उनके किसी खूंटे से बंधना? ...मैं भी अपने अंदर गररी भावनाएं रखती हूं, जैसे कोई गुप्त प्यार को बचा ले। नाचने की स्मृति मेरे हाथ रहेगी। प्रियतम, मेरी उसी भावना ने तुम्हारे दीक्षांत समारोह में अयोग्य साथ जाने की ठानी थी, तुम नहीं ले गए। मैं आहत और अपमानित हुई, क्योंकि अयोग्य ठहराई गई। मैने घर आए यू.पी.एस.सी. चेयरमैन से बाहर आकर अभिवादन करना चाहा था, तुमने मुझे रसोई में सिकुड़े रहने दी, मेरे मन को ठेस लगी। ऐसी घटनाओं के कंधे पर मेरा सिर टिक गया थाया लग रहा था,

मैं आज अपनी हि□मत के बूते खड़ी हो गई हूं। तुम कहते हो, मैं उसके सीने से भी लग गई थी तो लोग सकते में गए थे, गाना-वाना भूल गए थे। बस, यहीं से मुझे ताकत मिलती है कि लोगों के साथ जो हुआ, वह मेरे अप्रत्याशित चलन के कारण हुआ।'

तिरस्कार स्त्री को दुस्साहसी बना देता और दाम्पत्य के दर्पण को चकनाचूर कर देता है। उसका निजी फैसला विवाहोपरांत उसका अपना नहीं रह जाता। उसके भावात्मक खालीपन में डॉ सिद्धार्थ के प्रवेश से उसके पति के संस्कारों को गहरी ठेस लगती है। अपनी ग्रामीण केंचुल को छोड़ती मैत्रेयी हर हाल में जद्योजहद को तैयर हो जाती है। उनका तर्क है कि उन्हें हीन भावनाओं से बाहर निकालने वाला चरित्रहीन कैसे हो सकता है। वह सिर्फ नृत्य के लिए नहीं उठी थी, अपने अधिकारों के लिए उठी थी।

डॉ सिद्धार्थ की मंत्रमा कि 'आप पी.एचडी. कर डालिए' उनके लिए जीवन जीने क, खुद क साबित करने का एक ऐसा रास्ता था जिससे शायद उनके आने वाले भविष्य की दिशाएं खुल जाती। बंधन सदैव से मैत्रेयी को परेशान करते थे। जिसकी वजह से उनके पति शायद पछताते भी होंगे, क्योंकि आधुनिकता का जो बीजवपन उन्होंने किया, अपनी बीवी को स्मार्ट बनाना चाहा तो वह हाथ से निकलने लगी। पढ़ाई के लिए मोह और पी.एचडी. करने की जिद ने मैत्रेयी को जीने का मकसद दे किया था। बक्से में साड़ी की तहों के नी जिन प्रमआण पत्रों को सहेज कर रखा गया था उन्हें निकालने की ठान ली। परंतु जब पी.एचडी. मं पंजीयन नहीं हुआ तो रेखा अग्रवान के कहने पर मैत्रेयी ने भाषा-विज्ञआन के पाठ्यक्रम में दाखिला लेने की ठान ली। पर पति ने कॉल लेटर नहीं दिया। और वह फिर एक बार परिस्थतियों के दलदल में धंस गयीं जहां उसके पास फूट-फूट कर रोने के सिवा कोई दूसर विकल्प नहीं था। घरेलू महिला के जीवन की परिधि से बाहर निकलने की जितनी वो कोशिश करती उतना ही धंसती जाती।

बच्ची को नहलाना, कपड़े धोना, डस्टिंग और घर की सफाई ही जैसे जीवन जीने का कुल अर्थ हो गया ता और उसकी अ पनी जिंदगी, हाथ से खिसक रही थी। घरेलू महिला होना न तो कोई गुनाह है और न ही स्त्री की कमजोरी परंतु फिर भी एक पढ़ी-लिखी स्वतंत्र स्त्री के चाहने की सीमा जरूरी नहीं कि चारदीवारी तक सीमित होकर रह जाए।

वस्तुत: शिक्षित और सुसंस्कृत हो की चाहसिर्फ मैत्रेयी की ही नहीं वरन भारतीय स्तियों की मान्यता मिल सके और अपने दोयम दर्जे से मुक्ति भी। स्त्री आकांक्षा के निरंतर विस्तृत होते आयाम और इस प्रक्रिया में संस्थान के विभिन्न रूपों में उसकी टकराहट सिर्फ मैत्रेयी पुष्पा में ही नहीं मिलती अपितु उनसे भी बहुत पहले 'आशापूर्णा देवी' ने 'सुवर्ण' के माध्यम से भारतीय नारियों की सामूहिक इच्छा को प्रकटकिया था।

'किंतु उसके चाहने की सीमा इतनी ही हो क्या? एक टुकड़ा बरामदा, छत पर जाने की एक सीढ़ी? बस? और कुछ नहीं?

आजीवन सुवर्णलता ने इतना ही चाहा?

नहीं!

बेहया सुवर्णलता ने और भी बहुत कुछ चाहा। पाया नहीं, फिर भी चाहा। चाहने के कारण लांछित हुई, उत्पीड़ित हुई, हास्यास्पद हुई, फिर भी उसके चाहने की परिधि बढ़ती ही गयी। सुवर्णलता ने भव्यता चाही, सभ्यता चाही, आदमी की तरह जीना चाहा। बाहर की दुनिया से नारी का योग रखना चाहा। उसने देश के बारे में सोचना चाहा। देश की पराधीनता का अंत चाहा। तो फिर सुवर्णलता को उसका पति, सास, जेठ, देवर पागल क्यों न कहें।'

आत्मसम्मान के साथ जीने की आकांक्षा सिर्फ मैत्रेयी की ही नहीं अपितु भारती नारियों के जीवन का मुख्य सरोकार रही है। घरेलू महिलाओं की आधुनिक खेप सिर्फ पारंपरिक मूल्यों को जीने और परिवार के लिए खुद को होमकर देने में ही जीवन की सार्थकता नहीं मानती, बल्कि सितारों से आगे अपने लिए एक ऐसे जहान की तलाश भी करती हैं जहां उसके पर कतरने वाला कोई न हो। जहां उसका मन उड़ान के लिए स्वतंत्र हो और जहां उसके सृजन के सभी विकल्प खुले हो।

पति के इंटरव्यू के लिए वह खाने में सफाई से लेकर चिकनाई और मसाले का ध्यान रखे, पोंछा लगाकर झट-पट फर्स सुखा दे कि किसी भी तरह इंटरव्यू के दिन कोई अप्रत्याशित घटना ना हो, यहां तक कि बच्ची भी कोई ऐसा कम न करें कि पिता परेशान हो। दूसरी ओर पढ़े-लिखे पति जब पत्नी को कॉल लेटर देना भी जरूरी ना समझे, उसे केंचुएं की तरह रेंग-रेंग कर जीवन काटने के लिए छोड़ दे। और फिर भी वह मीना कुमारी की फिल्मी भूमिका से खुद को जोड़ 'मैं चुप रहूंगी' के अंदाज में जीवन को स्वीकार कर ले, तो तय है कि मन में भरता हुआ यह गुबार किसी दिन निश्चित ही हंगामें का सबब साबित होगा। जैसा कि नृत्य पार्टी में हुआ।

5.2.2 भाषा और शिल्प

आत्मकथा 'मैं' की शैली को अपनाकर, गद्य का परिनिष्ठित रूप प्रस्तुत करती है, 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में लेखिका ने 'स्व' का आकलन 'पर' दृष्टि से किया है। 'मैं' को 'पर' भाव से देखना और एक छायाकार की भांति उस सच को बिना मिलावट प्रस्तुत करना ही आत्मकथाकार की कसौटी है जिस पर 'गुड़िया भीतर गुड़िया' पूरी तरह खरी उतरती है।

अधूरे वाक्य : 'मैं अभगायक सी...' पृ0 19

'नहीं, इसलिए कि तुमने कुछ ऐसा...' पृ0 12

अंतराल, विराम चिह्नों का प्रयोग, छोटे-छोटे धारदार पैने वाक्यों की योजना इस आत्मकथा को नाटकीय सर्जनात्मकता से भर देती है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' कीएक अन्य शैलीगत विशेषता है 'स्त्री-भाषा' की गहन रचनाधर्मिता की खोज कर इस प्रक्रिया में स्त्रीत्व का अन्वेषन। लेखिका ने अपने लिए जिन शब्दों का इस्तेमाल किया है, वह अधिकांश भारतीय मध्यवर्गीय स्त्रियों पर लागू होता है, यथा : 'शॉक एब्जॉवर', 'धरा के धैर्य सी सर्द स्त्री', 'डुगडुगी', 'ट्रजेडी-क्वीन'। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भारतीय शहरी मध्यवर्ग की रोजमर्रा की जिंदगी का अभिन्न अंग है, अत: इन शब्दों का प्रयोग 'पैचवर्क' न लगकर, आत्मकथा को प्रामाणिक बनाता है। स्त्री से की जाने वाली अपेक्षाएं अनंत है। पारिवारिक और सामाजिक अपेक्षाओं के तले उनके अपने सपने किस तरह घुट-घुट कर दम तोड़ देते हैं इसका सिलसिलेवार ब्यौरा, यहं देखने को मिलता है। मैत्रेयी को क्या-क्या करना चाहिए इसकी छोटी सी सूची इस प्रकार है-

'गृहिणी के सद्गुणों' की अभ्यस्तता बनाए रखना।

'किताबों का गृहणियों के घर, क्या काम' के सिद्धांत को लेकर चलते हैं हमारे परिवार। हर सदस्य के लिए गृहिणी हर समय उपलब्ध रहनी चाहिए।

शास्त्रों में लिखा है, स्वामी की बात पर विचार नहीं किया जाता, उसका पालन किया जाता है।

ज्ञान दुख का कारणहै। अपनी जीवन-स्थिति का बोध ही स्त्री को परेशान कर विद्रोहिणी बनाता है। जब तक वह गहनों, कपड़ों एवं सजावटी वसतुओं को प्राप्त कर इठलाती रहेगी एवं गृह-स्वामिनी बन खुद को धन्य समझती रहेगी, उसकी स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन संभव नहीं, जैसा कि मैत्रेयी स्वयं कहती हैं- 'मुझे माताजी याद आई, जिन्होने कह था- लाली तेरे हाथ में ज्ञान का दीपक है, तू अपना रास्ता खुद बनाती जाएगी। मां, तुमने यह क्यों नहीं बताया कि ज्ञान बड़ा खतरनाक होता है। जिंदगी मुहाल कर देता है क्योंकि शांति भंग होती है। क्योंकि ज्ञान बदलाव के लिए प्रेरित करता है। काश, मां तुम मुझे इस ज्ञान से न गुजारती।'

अपनी स्थिति का ज्ञान ही पीड़ा का कारण है। अत: स्पष्ट है कि अदिकांश स्त्रियां अज्ञानता वश खुशहाली में जीवन गुजार देती हैं।

स्त्री की लड़ाई बेमानी है क्योंकि यह उसके अपनों से है। वह हर बारअस्त्र उठाती है और कहीं उसके प्रिय क्षत-विक्षत न हो जाए, यह सोचकर रख देती है। सारा विद्रोह क्रंदन बन किसी कंधे से लगकर सिसिकयों में तब्दील हो जाता है- फिर किसी ऐसे दिन के इंतजार में जब

वह फिर अस्त्र उठा ले... और यह अभ्यास और इसकी पुनरावृत्ति ही तथाकथित आधुनिक स्त्री का जीवन है। पुरुष किसी एक बार नहीं बार-बार अपनी साजिश में कामयाब होता है उसे 'कठघरे' खड़ा भी करता है, अभियोग भी लगाता है और फिर परम दयालु बनकर माफ भी कर देताहै। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में भी डॉ साहब अपनी पत्नी के प्रति यही रवैया अपनाते हैं, यथा- 'डॉ साहब ने आकर मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में थाम लिया और बोले- 'बहुत रोई हो। जानता हूं। मुझसे नाराज हो, पर इतना जरूर कहुंगा, मैं जो करता हूं तु□हारे भले के लिए करता हूं। तुम परेशान होती फिरोगी, मुझे चैन नहीं आएगा।'

और मेरा यह निजी संग्राम ... डॉ साहब के कंधे से लगकर सिसकने लगा। मैंने बोलना चाहा, मगर बोलूं क्या? क्या आश्वासन दे सकती थी कि जीवन के ऐसे युद्ध क्षेत्र में हम फिर आमने-सामने न होंगे?

यह आश्वासन संभवत: कोई स्वाधीन स्त्री किसी को नहीं दे सकती और शायद इसी वजह से आज बाजार में स्त्री-आत्मकथाओं की बाढ़-सी आ गई है। स्त्री भी चाहती है कि उसके 'कार्य-क्षेत्र' पर सबकी नजर जाए। जिस 'काम' को गैर-जरूरी मानकर हाशिए पर धकेल दिया गया है वह कितना महत्वपूर्ण एवं जिम्मेदारी भरा है इस ओर भी गौर किये जाने की आवश्यकता है। 'घरेलू महिला' कहकर जो कोड़े उसके वजूद पर लगाएजाते हैं उसे कितना छलनी करते हैं और 'छोटा' महसूस कराते हैं यह विचारणीय प्रश्न है। स्त्री 'घरेलू' हो या 'कामकाजी' उसके जीवन का प्रामाणिक इतिहास लिखा जाना अब भी शेष है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' इसी प्रक्रिया में निश्चित तौर से एक सार्थक पहल है।

मैत्रेयी पुष्पा का रचना संसार

अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि ही रचनाकार के लेखन की कसौटी है और मैत्रेयी पुष्पा प्रतिभा की धनी होने के साथ-साथ अपनी पैनी सत्यान्वेषी दृष्टि से जीवन और जगत के बहुविध चित्र बेहद सरलता एवं सहजता से उकेरती है। उन्होंने 40 की उम्र में आकर लेखन की शुरुआत की और आज लगभग 25 वर्षों से इस क्षेत्र में सक्रिय होने के बावजूद सर्वाधिक ऊर्जावान लेखिकाओं में से एक है। अपनी रचनात्मक प्रतिभा एवं ईमानदार अभिव्यक्ति की वजह से उन्होंने हिंदी साहित्य जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। मैत्रेयी जी के अब तक 10 उपन्यासप्रकाशित हो चुके हैं- स्मृतिदंश, बेतवा बहती रही (1994), इदन्नमम् (1994), चाक (1997), झूलानट (2000), अल्मा कबूतरी, अगन पाखी (2001), विजन (2001), कही ईसुरी फाग (2004) और त्रियाइठ (2006)।

इनके अलावा दस प्रतिनिधि कहानियां 'चिन्हार', 'ललमयिां', तथा 'गोमा हंसती है' (कहानी-संग्रह), 'खुली खिड़कियां' तथा 'सुनो मालिक सुनो' (स्त्री-विमर्श), लकीरें (कविता-

संग्रह) और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' (आत्मकथात्मक उपन्यास) के साथ-सथ अनेक निबंध तथा कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

'इदन्नमम्' में साहित्य-जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाली मैत्रेयी पुष्पा को उनके लेखन के लिए अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है, जिनमें प्रमुख हैं- सार्क लिटरेरी अवॉर्ड, हिंदी अकादमी साहित्य कृति सम्मान, उ.प्र. साहित्य संस्थान द्वारा उपन्यास 'बेतवा बहती रही' को प्रेमचंद सम्मान, नंजानागुडू निरुमालम्बा पुरस्कार, सरोजिनी नायडू पुरस्कार, कथाक्रम सम्मान,साहित्यकार सम्मान, वीरसिंह जू देव पुरस्कार और शाश्वती सम्मान।

मैत्रेयी का लेखन इस मायने में महत्वपूर्ण है कि उसमें विध्वंस और विनाश के औजार नहीं हैं बल्कि सृजन की भूख से सतत स्पंदित पात्र हैं। विगत दो दशकों में जिस तरह उन्होंने अपनी पहचान बनाई है, वह कम आश्चर्यजनक नहीं है। मैत्रेयी उन अवांछित विषयों के साथ साहित्य के बिहड़ में प्रवेश करती हैं जिनमें न रस है, न गुदगुदाने की क्षमता। ऐसे ज्वलंत विषयों को भी ढाल और हथियार दोनों रूपों में इस्तेमाल करती हैं। उनका समस्त लेखन स्त्री-मुक्ति की सार्थक बहस बन प्रेरणा देता है। उनकी रचनाओं में जहां समकालीन प्रश्न और संदर्भ तीव्रता से कौंधते हैं, वही स्त्री विमर्श का प्राथमिक स्वर भी मिलता है। मैत्रेयी के लेखन पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं- 'मैत्रेयी न वक्तव्य देती हैं, न भाषण। वह पात्रों को उठाकर उनके जीवन और परिवेश को पूरी नाटकीयता में देखती हैं। संबंधों के बीहड़ में धीरे-धीरे उतरना उन्हें पठनीय बनाता है। अपनी प्रामाणिकता में उनका हर चरित्र आत्मकथा का सा प्रभाव देता है। और यही उनकी कथा संपन्नता है।'

बीसवीं शती का अंतिम दशक उपन्यास के नाम रहा और लगभग इसी समय साहित्य का अनिवार्य विषय बन गया। हालांकि स्त्री-विमर्श के बहाने एक ओर अश्लीलता की वकालत और स्त्री देह की मुक्ति तक स्त्री की पक्षधरता को समेटने की कोशिश हुई तो दूसरी ओर बौद्धिक विमर्श के ताने बाने में विषय को उलझाने की साजिश भी की गई लेकिन इन प्रयासों के बावजूद महिला लेखिकाओं ने अपने ईर्द-गिर्द जकड़े सामाजिक नैतिक बंधनों को तोड़ने की कोशिश की।

जहां तक मैत्रेयी की बात है तो इदन्नमम् उनकी पहली रचना है जिससे साहित्य जगत में उनकी पहचान बनती है। यद्यपि इसके पूर्व भी 'स्मृतिदंश' और 'बेतवा बहती रही' प्रकाशित हो चुके थे लेखिन 'स्मृतिदंश' कथानक और भाषा दोनों दृष्टियों से साहित्य में कोई ठोस उपस्थिति दर्ज करने में असफल रहा, वहीं 'बेतवा बहती रही' में झांसी की गरीबी, डाकुओं क आतंक, राजनीति में पनपते अपराध और भ्रष्टाचार और इन सबके बीच स्त्री का चौतरफा शोषण, महत्वपूर्ण होने के बावजूद यह उपन्यास भावुकता से ग्रस्त है। संभवत: इसी वजह से यह उपन्यास साहित्य में अपनी जगब बनाने में नाकाम रहा।

'इदन्नमम्' अपनी सादगी एवं सरलता के बावजूद एक जटिल उपन्यास है। समीक्षकों के लिए जहं यह उपन्यास 'औरतों और वंचितों की संघर्ष गाथा है' वहीं स्त्री का आत्मसंघर्ष भी है। यह उपन्यास आंचलिक संदर्भों में उभरती स्त्री चेतना का आ□यान है और भारतीय उपन्यास शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी। वास्तव में इदन्नमम् स्त्री मन की सार्थक पहान है और नई जमीन की तलाश भी।

यह उपन्यास मंदा नाम की एक ऐसी जुझारु युवती की वास्तविक कहानी औह जो केवल परिवार एवं अपने लिए निर्मित बंधनों को ही नहीं तोड़ती वरण शोषण के विरुद्ध भी तनकर कड़ी हो जाती है। इस उपन्यास में ग्रामीण समाज में उभरती चेतना की सशक्त अभिव्यक्त हुई है। 'इदन्नमम्' तीन पीढ़ियों (बऊ, प्रेम और मंदा) की ऐसी जटिल कहानी है, जहां तीनों के अपने-अपने निर्णय हैं। यह कहानी तीनों के समानांतर भी चलती है और तीनों के विरुद्ध भी। मैत्रेयी यहां तीनों को ही गलत नहीं ठहराती बल्कि तीनों के बरक्स एक चौथी सत्ता- पुरुष वर्चस्व को खड़ा करती हैं जिसके खिलाफ तीनों अपने-अपने स्तर से जूझती है।

'चाक' में मैत्रेयी ने सारंग नैनी के माध्यम से भारतीय ग्रामीण समाज की विवाहित स्त्रियों के संघर्ष को उभारा है। यह संघर्ष समाज में चुपचाप जुल्म सहती आ रही एक पत्नी, एक मां, एक बेटी और एक बहन के लिए दूसरी बहन का संघर्ष है। 'चाक' की मैत्रेयी प्रेम और व्यभिचार के बीच फर्क करती हैं और प्रेम की एक नई परिभाषा गढ़ती हैं। इस उपन्यास में मैत्रेयी ने सामंती कृषि संबंधों की जड़ मानसिकता और तथाकथित उच्च जातियों के नैतिक अंतर्विरोध को दर्शाया है, वहीं स्त्री दुनियां में हो रहे बदलावो को भी रेखांकित किया है।

'झुलानट' एक छोटे से परिवार के बेहद उलझे हुए समीकरणों की कहानी है। यह उपन्यास एक जुझारु मां, दो बेटे और एक उतनी ही जुझारु बहू के माध्यम से स्त्री और पुरुष के संबंधों को, उनके उतार-चढ़ाव, उवकी मार्मिकता और बनावटीपन को सजीवता के साथ सामने लाता है। मां का बेटों के प्रति मोह, प्रेम और सम्मान की चाहत, बेटों द्वार तिरस्कार, पति द्वारा पत्नी का त्याग इस उपन्यास की अन्य महत्वपूर्ण घटनाएं हैं। इस तरह की अनेक घटनाओं को जोड़कर मैत्रेयी जी ने परिवार, अपनी स्थिति तथा सामाजिक संघर्ष को चित्रित किया है।

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास एक ऐसी जनजाति (क्रिमिनल ट्राइब) की कहानी है जो गरीबी, जहालत, अंधविश्वास और अपराधों के कारण हाशिये पर जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। यह उपन्यास एक जनजाति के अपरी प्रवृत्ति अपनाने के समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक कारणों की पड़ताल करता है। हाशिये पर धकेल दिये गए कुज्जा समुदाय की वास्तविक जीवन स्थितियां, मूल्य व्यवस्था, मान्यताएं, रीति-रिवाज के साथ-साथ इनका जीवन संघर्ष, सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज के बीच अपनी पहचान बनाने की जद्दोजहद और मुख्य धारा के लोगों द्वारा तिरस्कार की कहानी तो

कहता ही है, परंपरागत समाज शास्त्रीय मनोविज्ञान के मिथक को तोड़ते हुए अपराधी समुदायों के प्रति समाज की मानसिकता को भी कठघरे में खड़ा कर देता है। यह उपन्यास जहां जरायम पेशा जाति के रूपांतरण की कथा है वहीं औरत के संघर्ष और आंतरिक तथा बाह्य सशक्तीकरण की भा दास्तान है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'अंगन पाखी' यद्यपि 'स्मृतिदंश' की ही उत्तर कथा है। इसके बावजूद जहां 'स्मृतिदंश' की नायिका नियति को स्वीकार कर बेतवा में डूबकर आत्महत्या कर लेती है वहीं 'अंगन पाखी' की नायिका भुवन नियति से संघर्ष कर अपने हक के लिए विद्रोह भी करती है। यह उपन्यास जहां एक औरत के अस्तित्व की संघर्ष गाथा है वहीं इसमें बेतवा के आस-पासके गांव तथा वहां के जमींदारों द्वारा जर, जोरु और जमीन के लिए हर हथकंडे अपनाने और अपनी जरूरत के लिए धर्म का इस्तेमाल करने वाले समाज की परतें भी खोलता है। डॉ नामवर सिंह ने इसे एक साथ स्त्री-विमर्श एवं सती विमर्श का उपन्यास कहा है।

मैत्रेयी 'विजन' में पहली बार अपनी देहाती दुनियां से बाहर निकल कर चकाचौंध की दुनियां की आंतरिकता बिडंबना और दोहरी नैतिकता की चीर-फाड़ करती है। इस उपन्यास में परत दर परत अनावृत होती है- चिकित्सा संस्थानों की गहराती धांधली, अराजकता और अमानुषिकता। बवजूद इसके यह उपन्यास डॉ. आभा और डॉ. नेहा शरण की कहानी है लेकिन यह स्त्रियों का शोक गीत न होकर उनकी व्यावसायिक परेशानियों और समाज से अंतर्संबंधों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में बौद्धिक कर्म के दोहरे चरित्र को उजागर किया गया है। दया, करुणा और संवेदना का मंदिर कहे जाने वाले चिकित्सा संस्थानों की वास्तविक स्थिति और डॉक्टरों के पैसे कमाने के हथकंडों को भी यहां अनावृत किया गया है। यह उपन्यास कई सवाल उठाता है- आर्थिक आत्मनिर्भरता ही यदि स्त्री-विमर्श का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है तो डॉ. नेहा शरण की यह नियति क्यों? पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में विवाह संस्था का औचित्य क्या है? क्या शिक्षा, समानता और जागरूकता मात्र ढोंग है, दिखावा है? क्या व्यवस्था में बदलाव के बिना स्त्री अधिकारों की बात खोखली है?

'कही ईसुरी फाग' स्त्री-दृष्टि से लोक-विमर्श है। यह उपन्यास एक साथ स्त्री-मुक्ति, राष्ट्र-मुक्ति के साथ प्रेम और परिवार के द्वंद्व को समाज के पटल पर उभारता है। वहीं यह प्रश्न भी उठाता है कि क्या स्त्री को अपने लिए जीने का कोई हक नहीं है। विभिन्न स्तरों पर संघर्ष करती स्त्री की व्यथा को यह उपन्यास सामने लाता है। इस उपन्यास का फलक इतना विस्तृत है कि इसमें सभ्य समाज का दोगला चरित्र भी है और बुंडेलखंड के लोक जीवन का कच्चा चिठ्ठा भी। प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष की अनुगूंज भी है और वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था का कुरूप चेहरा भी। वोट

के लिए जाति और सांप्रदायिक की घिनौनी राजनीति, लूटमार और हत्या भी है साथ ही इन समस्याओं में चिंतित समाज भी। स्त्री-पुरुष के प्रेम क रंवेदनात्मक पाठ तो है ही।

'त्रियाइठ', 'बेतवा बहती रही' की उत्तर कथा है। उत्तर कथा इसलिए कि 'बेतवा बहती रही' में लेखिका जिन सवालों से बचती रही, 'त्रियाइठ' में खुद को उन्हीं सवालों के घेरे में खड़ा पाती हैं। आज का युवा वर्ग उन छवालों को समझ ने लगा है, जिनको आधार बनाकर सदियों तक स्त्री को पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया। यहां लेखिका सामाजिक परिवर्तन के लिए युवा वर्ग में संभावना तलाशती हैं।

यद्यपि मैत्रेयी का रचना संसार 'स्त्री' को केंद्र में रखकर ही रचा गया है किंतु उसमें भूत और वर्तमान की सभी समस्याएं और स्त्री को प्रभावित करने लगे लगभग सभी मुद्दे आ जाते हैं। मैत्रेयी ने भाषा की छवियों से पाठक को भरमाने या आतंकित करने की कोशिश नहीं की है बल्कि बड़े सीधे ढंग से पूरी सच्चाई के साथ आपनी बात पठक के सम्मुख रखी है।

मैत्रेयी की आत्मकथा भाग (1) 'कस्तूरी कूंडल बसै' को पढ़ने के बाद यह महसूस होता है कि वे जिस स्त्री संसार को अपने लेखन के केंद्र में रखती हैं, वे कमोवेश उनके अपने अनुभव हैं। 'कस्तूरी कुंडल बसै' में मां-बेटी आमने-सामने हैं पर दोनों ही पुरुष वर्चस्व के खिलाफ खड़ी हैं, फिर चाहे शुरू में मैत्रेयी पुष्पा साथी में सुरक्षा खोजती क्यों न नजर आए, गुड़िया भीतर गुड़िया तक वह भ्रम भी छूट जाता है। इसमें मां-बेटी के वैचारिक टकराहट के कई आयाम हैं। एक विधवा स्त्री और एक कुंवारी लड़की का भिन्न-भिन्न स्त्री परिप्रेक्ष्य भी है। मां कस्तूरी जहां आत्मनिर्भरता को महत्व देती हैं, वहीं मैत्रेयी पढ़ लिखकर नौकरी नहीं शादी में अपनी सुरक्षा तलाशती हैं। यह स्त्री मुक्ति क प्रति विमर्श है। जो सिद्धांतों से गढजा न होकर पारंपरिक भारतीय समाज की उन सच्चाईयों द्वारा निर्मित है, जह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर भी कामकाजी औरतों की अपनी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं है।

कस्तूरी कुंडल बसै की मौलिकता इस बात में है कि वह स्त्री जीवन के अनेक गोपन रहस्यों को खोल, सेक्स को निषिद्ध बनाने के पाखंड का खुलासाकरती है। पुरुष से मुक्ति के साथ पुरुष अधिग्रहण की भी कथा है। यहा मां-बेटी में लगाव भी है तनाव भी, टकराव भी है प्रतिद्वंद्विता भी है। कुल मिलाकर यह आत्मकथात्मक उपन्यास अपनी ईमानदारी से प्रभावित करता है।

उपन्यासों की अपेक्षा कहानी का कैनवास भले ही छोटा हो पर उसका स्वरूप अधिक संश्लिष एवं उलझा होता है। मैत्रेयी जब इस कथा संसार में आती हैं तो कहानियों की दुनिया नगरीय मध्यमवर्गीय जीवन स्थितियों तक सीमित थी। मैत्रेयी अपनी कहानियों का केंद्र उस ग्रामीण समाज को बनाती है जो सामंती भाव भूमि पर पुरुष वर्चस्व की अनुवादी अवधारणाओं के बीच आज भी जिंदा है। मैत्रेयी बिना किसी सैद्धांतिकी का सहारा लिए ग्रामीण समाज के माध्यम से स्त्री

विमर्श से जुड़े मुद्दों को उठाती है। यद्यपि यह संदर्भ जटिल है क्योंकि इसमें धर्म ग्रंथ भी है। भारतीय संविधान एवं विधिक संदर्भ भी। अपने कथा साहित्य के माध्यम से लेखिका पारंपरिक समाज के बीच रहते हुए पुरुष वर्चस्व वाले उस छद्म को चुनौती देती है।

समकालीन कहानियों में ग्रामीण संदर्भ ज्यादातर पाठकों को चमत्कृत करने के लिए होने लगा है किंतु मैत्रेयी की कहानियों में गांव से उनका जुड़ाव बनावटी न होकर उनके सृजनात्मक लेखन की वास्तविक पहचान है। लेखिका के कहानी संग्रह 'ललमनिया' की दस कहानियों में से छः का परिवेश ग्रामीण है जो उनकी प्राथमिकता को स्पष्ट करता है। ग्रामीण परिवेश की कहानियां बेहद प्रामाणिक एवं ठेठ देशज परंपरा की विरासत को आगे बढ़ाती है- यथा: फैसला, सेंध, रिजक, ललमनिया आदि। 'फैसला' कहानी पर टेलीफिल्म 'वसुमति की चिठ्ठी' नाम से बन चुकी है। मैत्रेयी अपनी इन कहानियों में नाटकीयता, आकस्मिकता एवं संयोग का सहारा लेती हैं, जैसे- पति के खिलाफ पत्नी का वोट देना और इसी एक वोट से पति का हारना। मैत्रेयी की इन कहानियों में बदलते रिश्ते और बदलती सामाजिक वास्तविकताओं के साथ मानवीय मूल्यों और जड़ संस्कारों का ताना-बाना गूंथने की सचेत कोशिश झलकती है।

मैत्रेयी के कहानी-संग्रह 'गोमा हंसती है' को पढ़ते हुए 'रेणु' की याद ताजा हो उठती है। मैत्रेयी पुष्पा के कथा-लोक की स्त्रियां शरत चंद्र की कथा-नायिकाओं की तरह भावना में बहकर दम नहीं तोड़ती अपितु पारंपरिक समाज के बीचों बीच रहकर भी अपना अलग रास्ता बनाती है। 'गोमा हंसती है' की गोमा, अपने बेमेल विवाह का प्रतिकार बली सिंहसे विवारेतर संबंध बनाकर करती है।

मैत्रेयी का कथा-संग्रह अनगढ़ है जिसमें यथार्थ की टोस पकड़ तो है लेकिन शब्दों का इंद्रजाल और भाषा का चमत्कार नहीं। अपनी कहानियों में वे प्रतिरोध का स्वर बुलंद करती हैं। 'गोमा हंसती है' संग्रह की कहानियां स्त्री की नई नैतिकता का सवाल उठाती है।

जहां तक मैत्रेयी के लेखों या निबंधों का सवाल है वे उनकी वैचारिक गहनता, तीखी पर्यवेक्षण सामर्थ्य युक्त दृष्टि, परंपरा एवं धर्म को नए तरीके से परिभाषित करने की क्षमता का प्रतिफलन हैं। 'खुली खिड़कियां' स्त्री दासता और मुक्ति-चेतना के साथ अनुवादी समाज में पुरुष के छद्मावरण को बेनकाब करती है। लेखिका स्त्री को गुलाम बनाकर रखने की साजिश को अपने निबंधों के माध्यम से सामने लाती हैं। 'खुली खिड़कियां' स्त्री को संपत्ति मानते हुए उसे पशु एवं दलित बनाकर भोगने वाले पुरुषों के साथ-साथ सुख-सुविधा एवं सत्ता भोगती विलासी स्त्रियों की मानसिकता को भी उधेड़ती हैं। 'सुनो मालिक सुनो' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है में मैत्रेयी पुरुष सत्ता के लिए चुनौती प्रस्तुत करती हैं। वे मनुवादी समाज के मानदंड भी रचती हैं। वे स्त्री विमर्श की नई परिभाषा ही नहीं गढ़ती बल्कि उसे जीती भी हैं।

मैत्रेयी की लेखन शैली में अद्‌भूत ताजगी है और विषय की विविधता भी इसलिए 'स्त्री-मुद्दों' पर लगातार लिखने के बावजूद वे बासी नहीं प्रतीत होती। वे जिस समाज के बारे में लिख रही होती हैं, उन्हीं की बोली में उनको अभिव्यक्त करती हैं। संभवत: इसीलिए उनकी भाषा खुरदरी है पर भाषा का यह खुरदरापन उनके लेखन की कमजोरी न होकर ताकत है क्योंकि यही उन्हें अतिशय साहित्यिकता के बोझ से उबार कर जीवन के अधिकाधिक निकट ले जात है और उनका समस्त लेखन जीवन का यथार्थ बनकर अपनी रोचकत और वैविध्य से पाठक को फिर-फिर उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

मैत्रेयी का साहित्यिक अवदान किसी एक विधा तक सीमित नहीं। कविता, कहानी, उपन्यासों का विस्तृत कैनवास तो है ही लेखों, समीक्षाओं, बहसों और परिचर्चाओं तक उसकी अनुगूंज सुनाई पड़ती है। गुड़िया भीतर गुड़िय ने इस कड़ी में एक और अध्याय जोड़ दिया है जिसमें लेखिका की अनंत संभावनाएं उजागर होती हैं। इतना तय है कि अंग्रेजी की ऊर्जा अभी चुकी नहीं है और पाठक की उ□मीद भी...।

5.3 जीवनी : महापंडित राहुल - गुणाकर मूले

प्रगतिशील चिंतनधारा एवं हिंदी नवजागरण के शिखर पुरुष राहुल सांकृत्यायन को 'महापंडित' की उपाधि दिए जाने में कोई अतिशयोक्त नहीं है। हिंदी साहित्य जगत के लिए उनका योगदान अमूल्य, अद्‌भूत, अविस्मरणीय और अगाध है। ज्ञान पिपासु राहुल जी 'महापंडित' ही थे। बेहतर समाज के निर्माण और मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए वे आजीवन संघर्षरत रहे। 'राहुल सांकृत्यायन : सृजन और संघर्ष' में उर्मिलेश लिखते हैं- 'वे घुमक्कड़ जरूर थे पर सैलानी नहीं थे। कम्यूनिस्ट विचारधारा के वे पक्के समर्थक थे पर संकीर्णतावादी नहीं थे... और वे महज यही नहीं थे। एक महान उपन्यासकार, कहानीकार, प्रखर दार्शनिक, अन्वेषक इतिहासकार, हिंदी के प्रथम पुरातत्ववेत्ता, साहित्येतिास लेखक और जनयोद्धा थे- राहुल सांकृत्यायन।' रोचक, कष्टसाध्य एवं जटिल जीवन यात्रा के इस यायावर ने 34 भाषाओं पर अधिकार प्राप्त किया एवं 150 ग्रंथों की रचना की।

राहुल सांकृत्यायन का जन्म 9 अप्रैल, 1893 को पूर्वी उत्तर प्रदेश में आजमगढ़ जिले के पंदहा ग्राम में हुआ। 'पंदहा' राहुल जी का ननिहाल था। पंदहा से 10 मील दूर 'कनैला' नामक ग्राम इनका वास्तविक ग्राम था। पिता का नाम गोवर्धन पाण्डेय एवं माता का नाम कुलवन्ती था। राहुल जी सरयुपाशी ब्राह्मण थे। इनका बचपन का नाम केदारनाथ था। चार भाइयों एवं एक बहन के बीच राहुल जी ज्येष्ठ पुत्र थे। सन् 1898 में जब केदारनाथ (राहुल) की आयु 5 वर्ष थी इन्हें मदरसे में दाखिल कराया गया। सादगी और संतोष की भावना के साथ अचछा खाना और

घुमक्कड़ी की आदत राहुल में बचपन से ही उत्पन्न हो गयी थी। 1900 में जब उनके गांव केभीतर और आसपास कई गांवों में हैजा फैला तब हैजे में अपने मित्र 'बिरजू' को खोकर वे शोकग्रस्त हो गए। उनके नाना सन् 1902 में उन्हें विंध्याचल ले गए जहां उनका जनेऊ संस्कार कराया गया। यह भविष्य के घुमक्कड़ महापंडित की प्रथम पहाड़ यात्रा थी। राहुल जी ने लिखा है कि- '1903 में पाठ्यपुस्तक (मो. इस्माईल की उर्दू की चौथी पुस्तक) में मैंने 'नवा जिंदा बाजिंदा' की कहानी (खुदराई का नतीजा) पढ़ी। उसमें बाजिंदा के मुंहसे निकले इस शेर ने मेरे मनोमस्तिष्क पर गहन प्रभाव डाला तथा भविष्य के जीवन पर बहुत गहरा असर डाला।' वह शेर है-

'सैर कर दुनिया की गाफिल जिंदगानी फिर कहां।
जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां।।'

सन् 1904 में जब राहुल जी 11 वर्ष के थे, उनका विवाह कर दिया गया। बालक केदारनाथ को वह सब 'तमाशा' जैसा लगा। उन्होंने लिखा है- 'उस वक्त ग्यारह वर्ष की अवस्था में मेरे लिए यह तमाशा था। जब मैं सारे जीवन पर विचारता हूं तोो मालूम होता है कि समाज के प्रति विद्रोह का प्रथम अंकुर पैदा करने में उसने ही पहला काम किया। सन् 1908 में जब मैं पंद्रह साल का था, तभी से मैं उसे शंका की नजर से देखने लगा था। सन् 1909 ई. के बाद से तो मैं गृह-त्याग का बाकायदा अभ्यास करने लगा, जिसमें भी इस तमाशे का थोड़ा-बहुत हाथ जरूर था।' यह विरक्तराहुल जी के मन में सदैव बनी रही। उनकी यह प्रथम पत्नी श्रीमती संतोष नि:संतान रहीं तथा अपने पितृ गृह अहिरौला गांव जिला आजमगढञ मे जीवन व्यतीत करती रहीं। राहुल जी की मां की मृत्यु 1905 में हुई तब वे मात्र 28 वर्ष की थी एवं 5 बच्चों की मां थी। नानी की मृत्यु भी प्लेग से हो गई। स्त्री जीवन की दुर्दशा और बाल विवाह के दुष्परिणामों ने राहुल जी को विद्रोही चिंतक बनाया।

राहुल सांकृत्यायन की तीक्ष्ण बुद्धि और शिक्षा प्राप्त करने की जिज्ञासा, ललक, निष्ठा और उत्साह ने उन्हें हर कक्षा में प्रथम श्रेणी प्रदान की। 1906 में उन्होंने निजामाबाद के मिडिल स्कूल में दाखिला लिया और 1009 में यहां शिक्षा पूरी की। इसी बीच वे 1907 में घर से भागकर बनारस चले गए और फिर कलकत्ता गए।

भ्रमण कार्य

राहुल सांकृत्यायन का घर से मोह-भंग होने लगा था। बाजिंदा का शेर और नाना द्वारा सुनाई गई शिकार की कथाएं अब रंग लाने लगी थी। घर में रखा आटा-चावल बेचकर दो रुपये इकट्ठे किये और 1907 में बनासर भाग गए। वहां कुछ दिनों में पैसे खत्म हो गए। घबराहट हुई तो लौट आए किंतु फिर कलकत्ता चले गए। महान पर्यटक की यह दूसरी यात्रा थी। लौटकर आए और फिर

1909 में कलकत्ता चले गए वहां बनारस के सुंधनी साहू की बड़ी दुकान थी उसमें नौकरी करने लगे। कुछ समय में ही नौकरी से ऊब गए तथा 1910 में उत्तराखंड की यात्रा की। इसके पश्चात घुमक्कड़ी और सधुक्कड़ी ही उनकी प्रवृत्ति बनती गई। 1911-1912 में छपरा के 'परसा मठ' के महंत रामकुमार दास से भेंट हुई। यहीं महंत लछुमन दास से दीक्षा लेकर वैरागी बने और महंत के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। इस दौरान जब वे पंदहा और कनैला गए तो वहां लोगों की फकारें सुनीं और वापस मठ आकर रहने लगे। उनका नाम 'रामोदार दास' पड़ा। 'रामोदार दास' बनकर भी रहुल जी के भीतर का यायावर शांत नहीं हो सका। वे मठ की यांत्रिक जिंदगी से ऊबने लगे तथा 1913-14 में दक्षिण भारत की यात्रा पर निकल गए। आसनसोल, आद्रा, खडगपुर होते हुए पुरी गए, फिर मद्रास गए, तिरुमहै की भी यात्रा की। यहां उन्होंने तमिल सीखी। तिरूपति, कांची, कांचीपुरम और रामेश्वरम घूमकर पुनः परसा मठ में लौटे। कुछ दिन रहकर फिर अयोध्या चले गए। आगरा में रहकर आर्य मुसाफिर विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने लगे। यहीं 1915 में उन्होंने संस्कृत और अरबी के धर्मग्रंथों और इतिहास का अध्ययन किया। संस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए 1916 में वे आमौर गए। इसी दौरान उन्होंने वेदांत का अध्ययन किया, आर्य समाज से प्रभावित हुए तथा काली मंदिर में बकरे की बलि देने के विरोध में अद्‌भूत प्रखर व्याख्यान दिया। सनातनी पुरोहितों ने लठियों से उनकी पिटाई की। वे एक 'युवा नास्तिक आर्यसमाजी संन्यासी' के रूप में प्रसिद्ध हो रहे थे। उन्होंने ढोंगी साधुओं के खिलाफ एक लंबा लेख लखा जो मेरठ से छपने वाले 'भास्कर' समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ। 1917-1920 तक राहुल जी ने आर्य मिशनरी यात्राएं कीं, चंदा इकट्‌ठा किया। चित्रकूट आदि उत्तर प्रदेश के नगरों का भ्रमण किया। 1920 में बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर उन्होंने बौद्ध तीर्थों की यात्राएं की। द्व क्त न् 1921 से 1927 तक दक्षिण भारत की यात्रा और स्वाधीनता के संघर्ष में जुटे रहे। भूख हड़ताल, सत्याग्रह और जेल यात्रा की। 1923 में नेपाल तथा 1926 में पंजाब, कश्मीर सीमा प्रांत में घूमते रहे। 1927-28 में 19 महीने तक लंका में रहे। पुनः भारत आकर सांची, कौशांबी, कुशीनगर, छपरा होते हुए 1928-29 का काल व्यतीत किया। सवा साल तक तिब्बत, नेपाल में अज्ञातवास कर 1930 के अप्रैल में भारत लौटे। मद्रास गए फिर दूसरी बार लंका गए और लौटकर रामोदार दास से राहुल बने। श्रीलंका में बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के बाद वे 'राहुल सांकृत्यायन' बने।

राहुल जी 1630 में भारत लौटकर पुनः सत्याग्रह में शामिल हुए। 1931 में उन्होंने तीसरी बार लंका की यात्रा की। महंत आनंद, कौसल्यायन के साथ 1932 में यूरोप की यात्रा की। फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी आदि देशों की यात्रा करते हुए 1933 में भारत पहुंचे। 1934 में पुन) लद्दाख यात्रा पर निकल पड़े तथा तिब्बत, जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत रूस तथा ईरान की

यात्रा करते हुए 1935 में भारत लौट आए। 1936 में तीसरी बार तिब्बत गए। 1937-38 में दूसरी बार रूस गए और यहीं येलेना बोजरोस्काया से दूसरा विवाह किया। जिससे 1938 में हीएक पुत्र प्राप्त हुआ नाम रखा गया ईगोर। इसके पश्चात राहुल जी भारत लौट आए येलेना साथ नहीं आई। 1939 में किसान आंदोलन का नेतृत्व किया। सत्याग्रह, भूख हड़ताल आदि करते हुए जेल यात्रा की। 1945 में पुनः रूस की यात्रा की। 1958 में चीन गए। 1959-61 के दौरान श्रीलंका में दर्शन शात्र के महाचार्य नियुक्त रहे। इस दौरान 1950 में उन्होंने मसूरी में घर बसा लिया था। कमला जी से तीसरा विवाह किया। 1953 एवं 1955 में क्रमशः पुत्री जया और पुत्र जेता उत्पन्न हुए। उपरोक्त विवरण से पता चल जाता है कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन की घुमक्कड़ी और अनंत ज्ञान पिपासा उन्हें कहां-कहां भटकाती रही। वे जहां भी गए वहां की भाषा सीखी तथा वहां के इतिहास, संस्कृति, समाज और राजनीति पर गहन अध्ययन किया और उन अनुभवों और ज्ञान को लेखनीबद्ध करते रहे। अतः वे सामान्य यायावर नहीं थे बल्कि ज्ञान और ज्ञान पाने की, संसार को जानने की जिज्ञासा में भटकने वाले यायावर थे।

महाप्रयाण

सन् 1961 में दिसंबर के माह में राहुल जी पर 'स्मृतिलोप' का आघात हुआ। वे बीमार हुए। बार-बार भूल जाने की अवस्था में बेचैन होकर विस्तर पर पड़ गए। क्रांतिकारी, यायवर, आंदोलनकारी लेकक की गति थम गई। 1947 में जब वे रूस से भारत के लिए प्रस्थान कर रहे थे तब उनके पुत्र 'ईगोर' ने कहा था- 'तुम अब कभी नहीं आओगे।' उसकी भविष्यवाणी सच निकली। 15 वर्ष बाद 1962 को रूग्ण, जर्जरित और स्मृति शून्य अवस्था में चिकित्सा के लिए रूस गए तो वे येलेना को पहचानने में असमर्थ थे। अंततः 14 अप्रैल 1933 को राहुल जी की सांसे थम गई। एक महान लेखक और यायावर महापंडित का महाप्रयाण हुआ।

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महापंडित के व्यक्तिगत जीवन से बात आरंभ करें तो कमला सांकृत्यायन (पत्नी) से अधिक विश्वसनीय बात किसकी हो सकती है। वे लिखती हैं कि- 'राहुल जी अच्छे पिता और अच्छे पति थे। महान लेखक होने पर भी घर-गृहस्थी के कार्यों में उनकी सहायता किया करते थे। वे पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह के विरोधी थे। समय-समय पर पत्नी और बच्चों को उपहार देना, घर में ढेर सारी सब्जियां लाकर रख देना, बच्चों के कपड़े बदल देना जैसे कार्यों के साथ ही वे मैकेनिक का काम भी थोड़ा जानते थे और घर में बिजली, रेडियो आदि स्वयं ठीक कर दिया करते थे।'

राहुल सांकृत्यायन ने धर्म, राजनीति, दर्शन, जगत और जीवन पर गहन अध्ययन किया। 34 भाषाएं सीखीं। पत्नी येलेना को संस्कृत पढ़ाते थे और उनसे रूसी भाषा सीखते थे। 1917 में

रूसी क्रांति की खबरे वे बड़ी रुचि से पढ़ते थे। 1918 में वे छपरा जिला कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। एक बैठक के दौरन गिरफ्तार किये गए तथा ब€सर जेल में रहे। छूटने के बद एक आंदोलन के चलते पुनः गिरफ्तार हुए और 1923 में उन्हें हजारीबाग जेल भेजा गया। जेल प्रवास के दौरान उन्होंने 'बाईसवीं सदी' पुस्तक लिखी। इस विद्वान संन्यासी घुमक्कड़ का आंदोलन, जेल, यात्रा, अध्ययन और लेखने से अटूट रिश्ता बन चुका था। अंग्रेज सरकार के लिए वे सिरदर्द बन चुके थे। 1925-26 में वे कानपुर कांग्रेस के प्रतिनिधि एवं ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी के सदस्य बने। उन्होंने गोहाटी कांग्रेस में भी भाग लिया। 1930-31 तक अमबारी के किसानों का नेतृत्व किया। इस आंदोलन में उन पर प्राणघातक हमला हुआ और वे जेल भेजे गए। जेल में उन्होंने 'तुम्हारी क्षय' पुस्तक लिखी।

1939 में ही बिहार में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्ची की स्थापना हुई। राहुल जी संस्थापक सदस्यों में एक थे। 1940 में उन्हें प्रांतीय किसान सभा का सभापति चुना गया। वे रांगढ़ कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि और प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी चुने गए। इसी बीच उन्हें गिरफ्तार किया गया और हजारीबाग से देवली कैंप जेल भेजा गया। यहां उन्होंने कम्युनिस्ट क्रांतिकारीयों के साथ 23 अक्तूबर, 1941 से इतिहास प्रसिद्ध भूख हड़ताल आरंभ की। इन जेल यात्राओं हड़तालों के बीच उनका रचनाकर्म प्रभावित नहीं हुआ। वे निरंतर और प्रतिदिन लिखते रहे। उर्मिलेश लिखते हैं– 'समाज और मानव की पीड़ा से उनका करुणामय जुड़ाव ही आगे चलकर उनके क्रांतिकारी वामपंथी व्यक्तित्व के विकास का आधार बना। इसलिए वामपंथी राजनीति उनके लिए कभी भी नारे, जुमलों और सत्ता– समीकरण का पर्याय नहीं रही। राहुल जी ने उसे विश्व के सबसे वैज्ञानिक और मानवीय राजनीतिक दर्श न के रूप में ग्रहण किया।' स्वतंत्रता को मनुष्य जीवन के गरिमाय अधिकार के रूप में लेने वाले राहुल जी शोषण और अत्याचार से तीव्र घृणा करते हुए उसे जड़ से समाप्त कर देना चाहते थे राहुल जी शालीन एवं सहिष्णु थे। स्पष्टवादी, सहज एवं सरल व्यक्तित्व के धनी थे। पहाड़ और समुद्र उन्हें लुभाते थे। हिमलय उनकी आत्मा में बसी जीवंत स्मृति था। हिमालय की उदात्तता, गरिम और श्रेष्ठता उसके उतुंग शिखरों का आत्म स□मान से उठा हना उनके लिए प्रेरक प्रतीक रहा। उन्होंने परसा मठ से अपन जीवन समाज सुधारक संन्यासी के रूप में आरंभ किया था। बाद में आर्य समाज के प्रभाव में आए। कांग्रेस से प्रभावित रहे। किंतु शीघ्र ही कांग्रेस और आर्य समाज से उनका मोहभंग भी होने लग था। बौद्ध दर्शन के प्रभाव को उन्होंने वैचारिकता और चिंतन का आधार बनाया।

राहुल जी भारतीय समाज की रूढ़ियों, परंपराओं से जूझते रहे। वे जाति, वर्ण, वर्ग पर आधारित भारतीय समाज में शोषण और अत्याचार से आहत होते हुए उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते रहे। उन्हें मार्क्सवाद में इसका हल दिखाई दिया। वे समाज के प्रति जितने प्रतिबद्ध थे उतने ही लेखन के प्रति भी। उनकी मौलिक प्रतिभा, बौद्धिक प्रखरता, तेजस्वी मानसिकता, निष्ठा और आस्था के चलते साहित्य, दर्शन और इतिहास के ज्ञान का फलक विस्तृत होता गया। जयनाथ नलिन ने लिखा- 'जीवन में अनेक विपरीतताओं, विविधतां, बिरोधाभासों, समता-विषमताओं-असाधारणताओ, संबद्धतां-असंद्धताओं और इन सबके विलक्षण मिश्रण और सामंजस्य के कारण राहुल जी का व्यक्तित्व बौद्धिक वर्ग के लिए आश्चर्य-उल्लास, आकर्षण-विकर्षण, श्रद्धा-अरुचि और गरिमा का आलंबन बना रहा।' राहुल जी ने एक अध्यापक के रूप में सोवियत संघ के लेनिनग्रादमें दो वर्षों तक कार्य किया। 1940 में भारत लौटे और हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति बनाए गए। 1948 में भाषा विवाद क लेकर कम्युनिस्ट पार्टी से गहरे मतभेद हुए। बंबई में साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में दिए गए भाषण पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने आपत्ति जताई और उन्हें सदस्यता से मुक्त कर दिया गया। राहुल जी ने अपना सहयोग देना बंद नहीं किया तथा 1955 में वे पुनः क□युनिस्ट पा के सदस्य बन गए। यह सदस्यता उनकी मृत्यु तक बनी रही। 1959 में राहुल जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। राहुल सांकृत्यायन एक महान बौद्धिक योद्धा थे। वे असत्य, अन्याय, अत्याचार, अंध-विश्वासों से जूझते और लिखते हैं- 'तिब्बत जैसे वर्जित प्रदेश की दुर्गम यात्राओं की बाधाओं और राष्ट्रीय आंदोलन के राजनैतिक संघर्ष में कारावास की कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने इतने ग्रंथ कैसे रचे? छः फुट लंबे स्वस्थ और सुंदर देह वाले राहुल ने तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था से अंत तक लगातार संघर्ष किया। समाज और मानव जीवन की बेहतरी के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे। अपने जीवन के किसी भी पल को वे व्यर्थ नहीं गुजरने देना चाहते थे, हर समय किसी-न-किसी योजना में लगे रहते।' बौद्ध दर्शन एवं मार्क्सवादी विचारधारा ने उनके चिंतन को धारदार बनाया। वे भारतीय समाज के सुधार के लिए मार्क्सवादी सिद्धांतों को लागू करना चाहते थे। ब्राह्मणवादी चिंतन का उन्होंने घोर विरोध किया। जातिवाद, सामंतवाद, संप्रदायवाद का विरोध किया औ कष्ट भी पाया। लेकिन डटे रहे। वे मानते थे कि जन्म के आधार पर जातिक विभाजन समाज विरोधी है। समाज को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए पूर्वजों ने कर्म के आधार पर जो वर्ण विभाजन किया था, वह ठीक था। 'मानव समाज' नामक अपने ग्रंथ में उन्होंने लिखा है- 'कार्य विभाजन की यह प्रणाली अपनी उपयोगिता खोकर शनैः शनैः झूठे भेदभाव के गर्त में जा पड़ी है।... जब तक जाति-पांति की व्यवस्था समाप्त नहीं होगी, भारत के विकास के लिए किये गए सभी प्रयत्न अपूर्ण रहेंगे।' राहुल

जी ने मायावाद, रहस्यवाद और पुनर्जन्मवाद पर भी प्रहार किया। राहुल जी स्वतंत्रता सेनानी थे। क्रांतिकारी किसान नेता और कम्युनिस्ट ते। इतिहासकार, विचारक, दार्शनिक, निबंधकार, नाटककार, गीतकार, कहानीकार, उपन्यासकार, पुरातत्ववेत्ता और साथ में यायावर श्रेष्ठ मनुष्य थे। उनके जीवन और रचनाकर्म के विविधता और असीमता आश्चर्यचकित करती है। वे असाधारण प्रतिभा के धनी असाधारण मनुष्य थे। उन्होंने जीवन भर हर चुनौती स्वीकार की और उनके समृद्ध साहित्य को देखकर लगता है जैसे वे एक सीमित जीवन में अधिक से अधिक जानने और लिखने के उत्तरदायित्व को पूर्ण कर समाज को यह धरोहर सौंप देना चाहते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति, उनके प्रति भेद-भाव और शोषण से आहत होकर उहोंने भोजपुरी नाटक रचा जिसका यह गीत दृष्टव्य है-

एकै माई बपवा से एक ही उदरवा में
इनों के जनमबां भइल रे पुरूखबा।।
पूत के जनमबा में नाच आ सोहर होला
बेटी की जनम परे सोग रे पुरूखबा।।
धनबा धरतिया या बेटबा के हम होला
बिटिया के किछूवो ना हक रे पुरूखबा।।
मरदा के खइला कमइला के रसता बा
तिरिया के लागेला केवाड़ रे पुरुखबा।।

राहुल जी की तीव्र सूक्ष्म अन्वेषणात्मक प्रतिभा अद्‌भूत है। वे मनुष्य के पक्षधर हैं उनकी सारी सोच, खोज और चिंतन मनुष्य के कल्याण के लिए है। वे महान स्वप्नदर्शी और प्रगतिशील मनीषा से संपन्न हैं। वे हिंदी भाषा को सहज, सुगम बनाकर उसके प्रचार-प्रसार पर बल देते रहे। राहुल जी राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का पक्ष लेते हैं किंतु मातृभाषाओं पर हिंदी थोपे जाने का विरोध करते हैं। क्षेत्रीय स्तर की मातृभाषाओं के विकास पर बल देते हुए वे भावपूर्ण टिप्पणी करते हैं कि-'हिंदी को हम अंतरप्रांतीय भाषामान सकते हैं पर वह हमरी मातृभाषा नहीं है और उसे कभी किसी भा मातृभाषा को मारकर 'पूतना' बनने का अधिकार नहीं।' राष्ट्रभाषा से उनका तात्पर्य 'राष्ट्रीय संपर्क भाषा' या 'अंतर्देशीय संवाद' की भाषा से है। यहां मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के बीच निरर्थक विरोध खड़ा हुआ।

राहुल जी राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को इसलिए देखना चाहते थे क्योंकि वह भारत के विशाल भू-भाग में बोली जाती थी। उन्होंने उर्दू का कभी विरोध नहीं किया। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने 'बोधिसत्व राहुल सांकृत्यायन' नामक लेख में लिखा है कि- 'राहुल जी त्रिपितकाचार्य थे, महापंडित थे, महाग्रंथ लेखक थे। राहुल जी ने जितने विविध विषयों पर जितनी शीघ्रता के साथ लिखा है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। भारतीय राजनीति में गांधीजी और हिंदी में राहुल

बीसवीं शताब्दी में विद्यमान थे, इस बात पर अगली शताब्दियों में आश्चर्य प्रकट किया जाएगा।' राहुल जी हिंदी के आदि कवि सिद्धों-नाथों से भी प्रभावित थे। 'वैराग्य' से उनका अभिप्राय यह नहीं था कि घुमक्कड़ का अपनी जन्मभूमि से लगाव नहीं होता। बल्कि दूर देशों की यात्रा करने पर अपनी मातृभूमि के प्रति उसका प्रेम निरंतर बढ़ता है। वे मानते थे कि घुमक्कड़ को स्वावलंबी भी होना चाहिए। उसे अपने बुद्धि, बाहु और साहस पर विश्वास होना चाहिए। वे सत्य, न्याय और समानता के लिए निरंतर जीवन भर संघर्ष करते रहे। उर्मिलेश कहते हैं- 'उनकी संघर्षकामी चेतना ही उनके व्यक्तित्व की विराटता और लेखन की व्यापकता के मूल में है। उनके लेखन और जीवन में दिखाई पड़ने वाले अंतर्विरोध उनकी कमजोरी नहीं अपितु शक्ति हैं। लगभग सत्तर वर्ष के जीवन में विभिन्न विचारों और धाराओं से होकर गुजरने वाले राहुल जी ने 'मज्झिम निकाय' के इस प्रसिद्ध कथन को हमेशा 'आदर्श' के रूप में ग्रहण किया कि- 'मैं धर्म का उपदेश देता हूं नाव की भांति पार जाने के लिए, पकड़ कर बैठ जाने के लिए नहीं।'

राहुल सांकृत्यायन के लिखे ग्रंथों को अलग-अलग कोटि में बांटकर अध्यन करने की दृष्टि से सूची आगे संलग्न है। उनका जीवनऔर रचनाकर्म उनकी अदम्य जिजीविषा कई सदियों तक कई पीढ़ी के जिज्ञासाओं, शोधार्थियों का पथ प्रशस्त करती रहेगी। वे अज्ञान के अंधकार को, भ्रम को तम को हटाने वाली मशाल की तरह भारतीय मानस में प्रज्वलित रहेंगे।

राहुल सांकृत्यायन का साहित्यिक योगदान

राहुल जी देश में रहते हुए और विदेश में, गांव, शहर, जंगल, पर्वत, अपनो या परायों के बीच हों उनकी अध्ययन और लेखन की प्रवृत्ति सदैव जागृत और कर्मरत रही। आजीवन जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह सीखते रहे, शोधार्थी की तरह शोध करते रहे एवं गंभीर चिंतक और साधक बनकर मां सरस्वती की आराधना करते रहे। उन्होंने लगभग 150 ग्रंथों की रचना की। वे लगभग 34 भाषाओं के ज्ञाता एवं अधीत (अध्येता) माने जाते थे। बाल्यवस्था में ही उर्दू पढ़ी। वाराणसी गए तो संस्कृत एवं दर्शन साहित्य का अध्ययन किया। कलकत्ता जाकर अंग्रेजी साहित्य पढ़ा। आर्य समाजी बने तो वेदों का अध्ययन किया, बौद्ध बने तो पाली, प्राकृत, अपभ्रंशा भाषाओं पर अधिकार प्राप्त किया। विदेश गए तो तिब्बती, चीनी, जापानी, सिंहली आदि भाषाओं के साहित्य पर गहन अध्ययन और चिंतन किया। यूरोप में पूंजीवाद, समाजवाद का अध्ययन किया तथा रूस में मार्क्स, लेनिन तथा साम्यवाद के सिद्धांतों का अध्ययन किया। उनका साहित्य उनके विस्तृत और गहन अध्ययन, उनके पांडित्य एवं संवेदनशील रचनाधर्मिता का परिचायक है। राहुल जी के साहित्य पर विषय और विधा के अनुरूप इस तरह देखा जा सकता है-

उपन्यास–'बइसवीं सदी', 'जीने के लिए', 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', 'राजस्थानी रनिवास', 'विस्मृत यात्री', 'दिवोदास'।

अंग्रेजी उपन्यासों क अनुवाद–'शैतान की आंख', 'विस्मृति के गर्भ में', 'जादू का मुल्क', 'सोने की ढाल', 'जो दास थे', 'अनाथ', 'सूदखोर की मौत', 'दाखुंदा', 'अदीना', 'शादी'– लये छह ताजिक भाषा के उपन्यासों का अनुवाद है।

कहानी– 'सतमी के बच्चे', 'वोल्गा से गंगा', 'बहुरंग मधुपुरी', 'कनैला की कथा', 'सप्तसिंधु'।

नाटक– तीन नाटक– 'मेहरारून की दुरदसा', 'नइकी दुनिया', 'जोंक'।

पांच नाटक– 'ठुनमुन नेता', 'देशस्वछक', 'ई हमार लड़ाई', 'जपनिया राछछ', 'जरमनवा के हार निहिचय'।

साहित्य, इतिहास, भाषा संबंधी चिंतन ग्रंथ

पुरातत्व निबंधावली, हिंदी काव्यधारा, साहित्य निबंधावली, दक्खिनी हिंदी काव्यधारा, संस्कृत काव्यधारा, पालि साहित्य का इतिहास, राहुल निबंधावली, आदि हिंदी की कहानिया और गीत, सरह दोह कोश (हिंदी साहित्य का वृहत कोश, शासन शब्द कोश, संक्षिप्त राष्ट्रभाषा कोश, तिब्बती–हिंदी कोश)

आत्मकथा– मेरी जीवन यात्रा (पांच खंडों में)

जीवनी और संस्मरण– 'नये भारत के नए नेता', 'सरदार पृथ्वीसिंह', 'अतीत से वर्तमान', 'धर्मरत्न', 'पमि', 'स्टालिन', 'कार्ल माक्स, 'लेनिन', 'बचपन की स्मृतियां', 'माओत्से तुंग', 'महामानव बुद्ध', 'जिनका मैं कृतज्ञ', 'वीर चंद्र सिंह गढ़वाली', 'घुमक्कड़ स्वामी', 'मेरे असहयोग के साथी', 'कप्तान हाल', 'सिंहल के वीर', 'सिंहल घुमक्कड़ जयवर्द्धन'।

यात्रा वृत्तांत– तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी यूरोप यात्रा, मेरी तिब्बत यात्रा, जापान, सोवियत भूमि, मेरी लद्दाख यात्रा, घुमक्कड़ शास्त्र, किन्नर देश, सोवियत मध्य एशिया, लंका, दार्जिलिंग परिचय, रूस में पच्चीस मास, यात्रा के पन्ने, कुमाऊं, हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, एशिया के दुर्गम भूखंदों में, चीन में क्या देखा?, जौनसार देहरादून, जेतवन श्रावस्ती, नेपाले (नेपाली में), ईरान, आजमगढ़ की पुराकथा।

राजनैतिक चिंतन– सा□यवाद ही क्यों? क्या करें?, भागो नहीं दुनिया को बदलो, आज की समस्याएं, आज की राजनीति, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं? तुम्हारी क्षय, रामराज्य और माक्सवाद, चीन के कम्यून, दिमागी गुलामी, सोवियत न्याय (अनुवादित)

दर्शन– बौद्ध दर्शन, वैज्ञानिक–भौतिकवाद, दर्शन–दिग्दर्शन।

विज्ञान– विश्व की रूपरेखा, मानव समाज।

संस्कृति, धर्म तथा अन्य– बौद्ध संस्कृति, तिब्बत में बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, नवदीक्षित बौद्ध।

संपादन एवं अनुवाद– बुद्ध चर्या, मज्झिम निकाय, विनय पिटक, थेरी गाथा, सुत्तपिटक का दीघ निकाय, इतिवुक्त, उदानं, खुद्दक पाठां, चरियपिटकं, प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक भाष्य, प्रमाणवार्तिक वृत्ति, वाद–न्याय, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका, प्रमाणवृत्ति स्ववृत्ति, संबंध परीक्षा, धम्मपदं, असंबद्ध सुत्त, दीर्घागमस्य सूत्रद्वयम्।

गतिविधि

साहित्य की नवीन विधाओं की लेखन शैली की विशेषताओं का अध्ययन कर अपने मित्रों के साथ एक परिचर्चा का आयोजन करें।

क्या आप जानते हैं ?

घुमक्कड़ धर्म से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और इससे बढ़कर कोई नगद धर्म नहीं है।

5.4 सारांश

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध हिंदी साहित्य में नयी गद्य विधाओं के उद्‌भव का साक्षी रहा है। इन्हीं नवजात गद्य विधाओं में से यात्र वृत्तांत एक है।

अज्ञेय के यात्रा वृत्तों की विशिष्टता यह है कि वे संस्मरणात्मक हैं। भारतेंदु के यात्रा वृत्त दृष्टा द्वारा रचित है जबकि अज्ञेय के यात्रा–संस्करण जीवनानुभव पर आधारित हैं। स्पष्ट है कि आरंभिक यात्रा वृत्तों का केंद्र बह्य परिवेश है, जिसका वर्णन वस्तुपरक दृष्टि से किया जाता है। इसके विपरीत समकालीन यात्रा संस्मरण का केंद्र स्वयं लेखक है, जो व्यक्ति–सापेक्ष दृष्टि से अपने निजी विचार एवं यात्रानुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। यात्रा लेखन की प्रारंभिक अवस्था में बाह्य यथार्थवाद अथवा प्रत्यक्षवाद दृष्टिगोचर होता है, जबकि समकालीन यात्रा संस्मरणों में लेखक बाहरी संसार द्वारा ग्रहण किये गए अनुभवों को अपने निजी सांचे में ढाल रचनाओं का आधार बनाता है, जिसका उद्देश्य घटनाओं का विवरण न होकर लेखक के आंतरिक अनुभवों का वर्णन है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की नयी उपलब्धियों में अकाल्पनिक गद्य–वृत्तों का विशिष्ट स्थान है। अकाल्पनिक गद्य–वृत्त अर्थात यात्रा–संस्मरण, डारी, जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र आदि। इन गद्य–वृत्तों का उपजीव्य ज्यादातर वास्तविक घटनाएं होती हैं और इसी वजह से कल्पना का

योग इनमें काफी कम होता है। अज्ञेय के दो यात्रा संस्मरण- 'अरे यायावर, रहेगा याद!' (1953) और 'एक बूंद सहसा उछली' (1960) जिनमें से पहले की पृष्ठभूमि स्वदेश है और दूसरे की विदेश। 'अरे यायावर, रहेगा याद!' मे सर्जनात्मक चमक है, वर्णनात्मक के वाबजूद इसे पढ़ने पर लेखक का समृद्ध और संवेदनशील व्यक्तित्व पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

सन् 1966 ता भयानक सूखा जब अकाल के काले साये ने पूरे दक्षिण बिहार को लील लिया था और शुष्क बंध्या धरती पर चारों ओर कंकाल ही कंकाल नजर आते थे... और सन् 1975 की जल प्रलय जब पटना की सड़कों पर वेगवती बन्या उमड़ पड़ी थी और लाखों लोग बेघर हो जीने के लिए संघर्ष कर रहे थे। इन दोनों प्राकृतिक आपदाओं का ऐतिहासिक दस्तावेज है ऋणजल-धनजल। अपने समक्ष और अपने चहुं ओर बेबस मनुष्यों की भीड़ और यंत्रण का त्रासद हाहाकर देखकर रेणु जैसे कथाकार का व्यथित हो उठना स्वाभाविक ही था। रेणु प्राकृतिक प्रकोप की इन दो अभूतपूर्व घटनाओं के प्रत्यक्ष द्रष्टा तो थे ही, बाढ़ के दौरान कई दिनों तक अपने मकान के दुत्तल्ले पर फंसे रहने के कारण भुक्तभोगी भी। मानव यातना के चरम साक्षात्कार के क्षणों को शब्दचित्रों के आकार में ढालने के क्रम में उन्होंने संस्मरणात्मक रिपोर्ताज लिखे।

कहानी में पात्रों की सोच घटनाओं से प्रभावित होती थी। रेणु की कहानियों और उपन्यासों में एक आदिम रात्रि की महक इसकाा एक सुंदर उदाहरण है। उन्होंने आंचलिक जीवन की हर धुन, हर गंध, हर लय, हर ताल, हर सुर, हर सुंदरता और हर कुरूपता को शब्दों में बांधने की सफल कोशिश की है। उनकी भषा शैली में एक जादुई असर है जो पाठकों को अपने साथ बांध कर रखता है। रेणु एक अद्‌भूत किस्सागो थे और उनकी रचनाएं पढ़ते हुए लगता है मानो कोई कहानी सुना रहा हो।

रेखाचित्र अंग्रेती के स्केच (SKETCH) का पर्यायवाची है परंतु स्केच शब्द मूलत: चित्रकला का शब्द हैं। स्केच उन चित्रों को कहते हैं जिनमें केवल रेखाओं के माध्यम से एक भावात्मक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। उनमें न रंगों की छट होती है, न वातावरण की पृष्ठभूमि पर बल, साधारण-सी संक्षिप्त रेखाओं द्वारा इच्छित व्यक्ति का ऐसा चित्र उपस्थित किया जाता है जिसे देखकर संपूर्ण व्यक्तित्व उभर सके। अत: सरलता, संक्षिपता एवं वस्तुनिष्ठता रेखाचित्र की विशेषताएं हैं।

'यादों की तीर्थयात्रा' नाम से ही स्पष्ट है कि जिन लोगों की यादों को संस्मरणों में सहेजनेकी कोशिश की गई है वे लेखक की श्रद्धा के पात्र रहे हैं फिर चाहे वे जगदीश चंद्र माथुर हौ, भवानी प्रसाद मिश्र या जैनेन्द्र। इस सभी को याद करते हुए विष्णु प्रभाकर की दृष्टि शुभ और सुंदर पर अधिक रही है, चीर-फाड़ पर कम। भारतीय मानसिकता यूं भी प्रशंसा और निंदा दोनों में

ही अतिवादी दृष्टि का पोषण करती है, संतुलन बहुत बिरले लेखकों का गुण है। 'कमजोर से कटकर कोई महान नहीं होता', यह बात हमें कम ही समझ आती है। विष्णु प्रभाकर ईमानदारी से यह बात स्वीकार करते हैं कि खुद से जुड़ा लेखक वास्तविकता से कुछ दूर ही होता है, फिर भी 'यादों की तीर्थयात्रा' में संकलित 'जैनेन्द्र कुमार' शीर्षक संस्मरण में उन्होंने पाठक से जैनेन्द्र जी का परिचय कराने की सार्थक एवं सफल कोशिश की है।

आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से संबंधित होती हा। इसके द्वारा विगत का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व रेखांकित किया जाता है। लेखक से उम्मीद होती है कि वह अपने निजी जीवन के तथ्यों का सच्चाई के साथ चित्रण करे। सामान्यत: 'आत्मकथा उपन्यास की भांति व्यक्तिगत मानवीय प्रकृति से संबंधित है पर यह अपनी प्रकृति में उपन्यास की भांति नई खोजों के लिए स्वतंत्र नहीं है। इतिहास की भांति यह तथ्यात्मक रूप से सत्स होने की कोशिश करती है, पर यह इतिहास नहीं है, क्योंकि इसमें तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जाता है। यह अपने सत्य का कागजी या वस्तुगत प्रमाण नहीं प्रस्तुत करती है। आत्मकथा का सत्य तथ्य और आत्मकथाकार द्वारा तथ्य में जोड़े गए का अर्थ दोनों से है।'

मपाहंडित के व्यक्तिगत जीवन से बात आरंभ करें तो कमला सांकृत्यायन (पत्नी) से अधिक विश्वसनीय बात किसकी हो सकती है। वे लिखती हैं कि- 'राहुल जी अच्छे पिता और अच्छे पति थे। महान लेखक होने पर भी घर-गृहस्थी के कार्यों में उनकी सहायता किया करते थे। वे पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह के विरोधी थे। समय-समय पर पत्नी और बच्चों को उपहार देना, घर में ढेर सारी सब्जियां लाकर रख देना, बच्चों के कपड़े बदल देना जैसे कार्यों के साथ ही वे मैकेनिक का काम भी थोड़ा जानते थे और घर में बिजली, रेडियो दि स्वयं ठीक कर दिया करते थे।'

राहुल जी देश में रहते हुए और विदेश मे, गांव, शहर, जंगल, पर्वत, अपनों या परायों के बीच हों उनकी अध्ययन और लेखन की प्रवृत्ति सदैव जागृत और कर्मरत रही। आजीवन जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह सीखते रहे, शोधार्थी की तरह शोध करते रहे एवं गंभीर चिंतक और साधक बनकर मा सरस्वती की आराधना करते रहे। उन्होंने लगभग 150 ग्रंथों की रचना की। वे लगभग 34 भाषाओं के ज्ञाता एवं अधीत (अध्येता) माने जाते थे। बाल्यावस्था में ही उर्दू पढ़ी।

5.5 मुख्य शब्दावली

तमाशबीन : तमाशा देखने वाला, ऐयास।

यायावर: हमेशा घूमते रहने वाला।

टटकापन : ताजापन, कोरापन।

इतिवृत्तात्मकता : घटना प्रधान, वर्णनात्मक।

उद्रेक : प्रचुरता, आरंभ।

प्लावित : डूबना।

जहालत : अज्ञान, मूर्खता।

उजास : उजाला, रोशनी।

निभृत : छिपा हुआ, गुप्त।

विस्मयकारी : आश्चर्य से भरा।

तूलिका : चित्रकारों की रंग भरने की कूची।

सहअस्तित्व : सहजीवन।

अधीत : जिसने अध्ययन पूरा कर लिया हो।

चस्पां : चिपका हुआ, उपयुक्त।

तारिका : अभिनेत्री, ताड़ी।

5.6 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. 7 मार्च, 1911
2. 1925 में पंजाब में
3. सन् 1945 में
4. सन् 1951 में
5. सन् 1969 में
6. सन् 1953 में
7. एक बूंद सहसा उछली
8. पं. जवाहर लाल नेहरू
10. अज्ञेय
11. 4 मई, 1921 को
12. सन् 1954 में
13. रामरतनराय
14. फ्रांसीसी भाषा का
15. दो
16. 1966 में
17. 1907 ई. में उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जिले में
18. सन् 1936 में

19. सन् 1944 में
20. सन् 1976 में
21. 11 सितंबर, 1987 ई. को
22. सन् 1924-1928
23. मारवाड़ी बाल विधवा (भाभी) का
24. 21 जुन, 1912 ई. में
25. 17 एकांकी संग्रह
26. स्त्री जीवन एवं उससे जुड़े प्रश्न
27. शरतचंद्र के जीवन पर
28. 20 वीं सदी के तीसरे दशक में
29. 1930 के आसपास
30 कस्तूरी
31. 'मैं' की शैली में
32. ज्ञान को
33. 10 उपन्यास
34. 'चाक' उपन्यास में
35. 34 भाषाओं पर
36. 150 ग्रंथों की
37. 9 अप्रैल, 1893 को
38. यूरोप की
39. 1918 ई. में
40. 1939 में

5.7 अ□यास हेतु प्रश्न

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. 'अज्ञेय' का यात्रा साहित्य किन दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं ?
2. तीर्थाटन का **क्य**ा उद्देश्य है ?
3. यात्रा-संस्मरण में गति के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. 'रिपोर्ट' किसे कहते हैं ?

5. फणीश्वरनाथ रेणु की लेखन शैली को स्पष्ट कीजिए।

6. महादेवी की गद्य रचनाएं बताइए।

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. 'परशुराम से तूरखम' यात्रावृत्तांत की मूल संवेदना को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय की लेखन शैली की विशेषताएं बताइए।

2. 'ऋणजल-धनजल' प्राकृतिक आपदाओं का ऐतिहासिक दस्तावेज है'- कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

3. फणीश्वरनाथ रेणु की लेखन शैली को स्पष्ट करते हुए उनके साहित्यिक अवदान का वर्णन कीजिए।

4. रेखाचित्र के तत्वों के आधार पर 'भाभी' का मूल्यांकन कीजिए।

5. विष्णु प्रभाकर के संस्मरण 'यादों की तीर्थयात्रा' के आधार पर जैनेन्द्र कुमारके व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

6. आत्मकथा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए 'गुड़िया भीत गुड़िया' का आत्मकथा के तत्वों के आधार पर मूल्यांकन कीजिए।

7. महापंडित राहुल सांकृत्यायन की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए उनके साहित्यिक योगदान का वर्णन कीजिए।

5.8 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी गद्य विन्यास और विकास,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

2. रवीन्द्रनाथ मिश्र, *इक्कीसवीं सदी का हिंदी साहित्य,* लोकभारती प्रकाशन।

3. महीप सिंह, विष्णु प्रकाकर, *व्यक्ति और साहित्य,* अभिव्यंजना प्रकाशन।

4. अज्ञेय, *आधुनिक हिंदी साहित्य,* राजपाल एंड संस, नई दिल्ली।

5. डॉ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, *समकालीन हिंदी कविता,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

6. डॉ. शिवकुमार शर्मा, *हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियां।*

Institute of Distance Education

Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 | Ide Rgu | Ide Rgu | helpdesk.ide@rgu.ac.in